संस्कृति

Vol. 29 1987 Apr-Dec

संस्कृति

राजस्थान विशेषांक

संयुक्तांक



मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(शिक्षा विभाग)
भारत सरकार • नई दिल्ली

वर्ष : 29—अंक 2 से 3
ग्रीष्म एवं पावस, 1987
(अप्रैल,–सितम्बर, 1987)

सदस्यता फार्म

सहायक शिक्षा सलाहकार (प्रकाशन),
मानव संसाधन विकास मंत्रालय,
(शिक्षा विभाग),
ए० एफ० ओ० हटमेन्ट्स, डा० राजेन्द्र प्रसाद रोड,
नई दिल्ली–110001

महोदय,

मैं, श्री/श्रीमती/कुमारी ....
"संस्कृति" त्रैमासिक का वार्षिक ग्राहक बनना चाहता/चाहती हूं । वार्षिक चन्दा (बारह रुपये) मनीआर्डर द्वारा भेजा जा रहा है/नकद दिया जा रहा है। मेरा पता निम्नलिखित है :—

एक प्रति : तीन रुपये
वार्षिक : बारह रुपये

नाम तथा पता

....

....

....

दिनांक ....

टिप्पणी : यदि आप "संस्कृति" पत्रिका के ग्राहक हैं और आपने अपना चन्दा नहीं भेजा है तो कृपया जल्द से जल्द चन्दा भेजने की कृपा करें।



राजस्थान विशेषांक

संस्कृति

संयुक्तांक

प्राच्या नव्या विलसतुतराँ संस्कृतिर्भारतीया

: 29 ग्रीष्म एवं पावस 1987 (अप्रैल—सितम्बर 1987) अंक : 2—3

...कृतिक विचारों की प्रतिनिधि

त्रैमासिक पत्रिका

..., ग्रीष्म, पावस और शरत् में प्रकाशित)

पत्र-व्यवहार का पता

सम्पादक—संस्कृति

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

(शिक्षा विभाग)

कमरा नं॰ 327, शास्त्री भवन,

सी—खण्ड,

नई दिल्ली—110 001

टेलीफोन नं॰ : 384151

वार्षिक चन्दा : बारह रुपये

एक प्रति : तीन रुपये

इस अंक में



संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिर्भारतीया

वर्ष : 29 शरद्, 1987 (अक्तूबर---दिसम्बर, 1987) अंक : 4

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि त्रैमासिक पत्रिका

(हेमन्त, ग्रीष्म, पावस तथा शरत् में प्रकाशित)

सम्पादक : डॉ० भगत सिंह

सहयोग : पृथ्वीराज हांडा, श्रीमती सुरेश रैना, मदन मोहन दरगन

पत्र-व्यवहार का पता

सम्पादक --"संस्कृति"
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(शिक्षा विभाग)
कमरा नं० 327, शास्त्री भवन, सी-खण्ड,
नई दिल्ली-110001
टेलीफोन नं० : 384151

वार्षिक चन्दा---बारह रुपये
एक प्रति---तीन रुपये

इस अंक में **पृष्ठ संख्या**

सदस्यता फार्म

सहायक शिक्षा सलाहकार (प्रकाशन),
मानव संसाधन विकास मंत्रालय,
(शिक्षा विभाग),
ए० एफ० जो० हटमेन्ट्स, डा० राजेन्द्र प्रसाद रोड,
नई दिल्ली–110001

महोदय,

मैं, श्री/श्रीमती/कुमारी ....
"संस्कृति" त्रैमासिक का वार्षिक ग्राहक बनना चाहता/चाहती हूं। वार्षिक चन्दा (बारह रुपये) मनीआर्डर द्वारा भेजा जा रहा है/नकद दिया जा रहा है। मेरा पता निम्नलिखित है :—

एक प्रति : तीन रुपये
वार्षिक : बारह रुपये

नाम तथा पता

....

....

....

दिनांक ....

टिप्पणी : यदि आप "संस्कृति" पत्रिका के ग्राहक हैं और आपने अपना चन्दा नहीं भेजा है तो कृपया जल्द से जल्द चन्दा भेजने की कृपा करें।

संपादकीय

उत्तराखण्ड और काश्मीर की सांस्कृतिक सम्पन्नता से संबंधित प्रचुर सामग्री हम संस्कृति के पिछले कुछ अंकों में दे चुके हैं वस्तुतः यह सांस्कृतिक सम्पदा इतनी प्रचुर है कि भारतीय उप महाद्वीप का कोई ओर छोर ऐसा नहीं बचा जो इससे अछूता रह गया हो। इस सांस्कृतिक माला में हर प्रदेश ने नए-नए रंगों और पुष्पों का योगदान कर इसे समृद्ध किया है। प्रस्तुत अंक में हम तलवार और आन के धनी राजस्थान से संबंधित कुछ सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं। राजस्थान वह प्रदेश है जिसमें बहुआयामी भारतीय संस्कृति की सभी विधाएं न केवल राजाश्रय में पल्लवित पुष्पित हुई हैं बल्कि आज भी उसके रंग रूपों में जीवंत दिखाई देती हैं। प्रताप और पृथ्वीराज की भूमि होने के साथ-साथ राजस्थान को मीरा और सहजोबाई की पुण्यभूमि होने का गौरव भी प्राप्त है। यही नहीं ख्वाजा निजामुद्दीन चिश्ती की दरगाह शरीफ और जैन तीर्थंकरों की तपोस्थली भी यही प्रदेश रहा है।

एक ओर अरावली पर्वतमालाएं और दूसरी ओर थार का मरुस्थल इन्हीं से अनुमान हो जाता है राजस्थान के वैविध्य का। प्रकृति की क्रूरता और करूणा को राजस्थान-वासियों ने जितने सहजभाव से सहेजा है, वह बेमिसाल है। राजस्थान को यदि केवल तलवार का धनी ही कहा जाए तो राजस्थान की बहुआयामी अस्मिता को महसूसा नहीं जा सकता। एक ओर यदि बर्छी, तीर, तलवारों की छाया में हंसते-हंसते सर देते सूरमा राजस्थान को स्वनाम धन्य करते दीखते हैं तो दूसरी ओर है डफ और इकतारे पर गूंजती मीरा के दर्द भरे भक्ति गीतों की स्वरलहरियां। एक ओर ख्वाजा की दरगाह शरीफ पर कव्वाली की बेपनाह शान है तो दूसरी ओर देलवाड़ा और रणकपुर के जैन मंदिरों की सद्य स्नाता जीवन्त स्थापत्य कला। इस प्रकार राजस्थान की स्थापत्य कला, चित्रकला, नृत्यकला, वाद्यकला अर्थात् उन सभी कलाओं में अग्रणी रहा है जिन्होंने मनुष्य के मन को मांजकर उसे आत्मा के उजले आलोक में अवस्थित कर उसे संस्कार सम्पन्न एवं सुसंस्कृत बनाने में योगदान किया है। मजे की बात तो यह है कि अनेक भाषाओं, उपभाषाओं के माध्यम से राजस्थान का लोक साहित्य आज भी लोक कंठ से सतत निसृत हो रहा है। इस लोक साहित्य में गीत गाथाएं, कहावतें, संवाद, प्रवाद, ख्यातें, पंवाड़े, वचनिकाएं, पहेलिकाएं, कहमुकरनियां, गुरू-शिष्य संवाद, काव्यशतक, सोरठे, राजस्थानी संस्कृति की साहित्यकला धाती के रूप में आज भी हस्तलिखित रूप में विद्यमान हैं। ऐसे ही कुछ उद्गार श्री ओंकार श्री द्वारा अपनी पैनी कलम के माध्यम से अपने हृदयग्राही लेख कंठ-कंठ रमती कलम कलम मंडती चिरंजीवा राजस्थानी संस्कृति में व्यक्त किए गए हैं।

हास्य व्यंग जीवन की निरसता में सरसता प्रवाहित करते हैं और परीक्षा की घड़ियों में क्रोध अथवा आत्म-ग्लानि से उबार कर मानव को जीने की चाह और राह दिखाते हैं। मर्मान्विशी राजस्थान में शब्दपारंगत अनेक हास्यचारण और व्यंगचारण भी हुए हैं। इनकी कुछ झल-कियां आपको मिलेंगी पुरुषोत्तम छंगाणी के लेख "राजस्थानी लोक साहित्य में हास्य व्यंग" इसी प्रकार श्री प्रभात कुमार सिंघल का लेख "राजस्थान में पड़गायन" से आपका सीधा साक्षात्कार एक ऐसी लोक विधा से होगा जो राजस्थान की विशेषता है।

प्रेम पगे राजस्थान के प्रेमाख्यान भी कोई कम मनमोहक नहीं है। परन्तु अपनी परंपराओं के निर्वाह की शिक्षा के साथ दृढ़ प्रतिज्ञता का पुट इनकी विशेषता है। सैनो बीजानंद में इसी तथ्य की पुष्टि होती दिखाई देती है।

राजस्थान संबंधी विशेष सामग्री के अतिरिक्त श्री अंकुश्री का लेख पर्यावरण के घटक एवं पर्यावरणीय संतुलन के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता की ओर हम सुधी पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे क्योंकि सांस्कृतिक जीवन पर्यावरण के अंग-संग चलता है। इसके साथ-साथ श्री दिनेश अग्रवाल कृत "उतर प्रदेश का शक्ति पीठ शाकम्भरी" में हमारी दुर्लभ सांस्कृतिक संपदा की उपेक्षा के प्रति ध्यान आकर्षित किया गया है। इस आग्रह के साथ कि इन लोक पीठों को संरक्षण और परिरक्षण प्रदान करना हम सबका पुनीत दायित्व है क्योंकि ये शक्ति-पीठ शक्तिस्थल हैं और शक्ति ही जीवन का आधार है।

—सम्पादक

कंठ कंठ रमती : कलम कलम मंडती चिरंजीवा राजस्थानी संस्कृति

—ऑंकार श्री

भारतीय लोक भाषाओं की पुरातन सांस्कृतिक जन यात्रा के अग्रगामी दस्ते में हम राजस्थानी संस्कृति का सुदर्शन प्राप्त करते हैं।

शौर्य पीठ का पाठ पढ़ाती वीरों की उत्प्रेरिका, लोक-ब्रह्य का तादात्मय संस्थित भरती संतों की संवेदिका— राजस्थानी संस्कृति कलम और तलवार, साथ साथ चलाती हल की मूठ पकड़े लोकानु-लोक जय जय वंती रही है।

मनुष्य के मन को मांजकर, आत्मा के अजले आलोक में स्थित करने वाली शीलवती शक्ति का नाम है संस्कृति।

वीरगाथा काल का युग संदर्भ हो या रीति कालीन संदर्श की संचर्चा, राजस्थानी संस्कृति का अस्तित्व-साहित्य, संगीत, शिल्प, चित्रकारिता, इतिहास, पुरातत्व, एवं कला के विविध आयामों में दृश्य-श्रव्यादि रूपों में, देश-कालगत प्रासंगिकता बरकरार है।

राजस्थान का वीर, संत चरवाहा, व्यापारी कारीगर, कलाकार, ग्रामीण देशाटन प्रिय रहा है—युद्ध तीर्थ-वनवनांतर, देस-प्रदेश घूमता है यायावरी रूप में। जो चलता रहता है वह चर्चित रहता है, ताजगी बनाए रखता है, ज्ञान गंभीर होता है। सदास्वस्थ। राजस्थानी संस्कृति की वैखिकता—

स्वतंत्र भारत के समग्र राष्ट्रीय विधान में राजस्थानी संस्कृति पर विचार करते हुए जब हम उसका विश्लेषण करते हैं तो हमारा यहीं आकर इतिहास से सीधा साक्षात्कार होता हैं।

आज के इस "सुपर सोनिक" अति तकनीक सम्पन्न युग-में हमें राजस्थान के इतिहास के साथ साथ इसके भूगोल को भी इस साक्षात्कार में लेकर चलना और गहराई से समझना होगा। (भूगोल, जल-वायु का) प्रकृति-वनस्पति की प्राणवायु का।

एक ओर अरावली गिरिमाला में, दूसरी ओर हजारों हजार वर्गमील में फैला थार का रेगिस्तानः हमारे सामने सम्पूर्ण राजस्थान। इस प्रदेश के गिरिजनों का आदिवासी लोक एक ओर, दूसरी ओर विकराल काल के थपेड़े सहता अकाल ग्रस्त मरूधरा क्षेत्र। मनुष्य, सदियों दर सदियों प्रकृति के सुखों-दुखों के दायरे में हंसता, गातानाचता, लोक मंच पर नाना प्रकार के वाद्य यंत्र साधता, संवारता, बजाता हुआ अपने जीवन को, अपने जगत को यहां ध्वनित गुंजरित करता रहा हैं।

प्रकृति की क्रूरता और करूणा को राजस्थान के लोगों ने जितनी अंतरगता से सहेजा है उसकी मिसाल भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण परिवेश में अप्रतिम कही जाएगी। इस सहेज की सहजता समझनी जरूरी है।

कंठ कंठ गीतः गांव गांव प्रीत

राजस्थानी संस्कृति का दायरा कभी तंग नहीं रहा। राजतंत्रों के बीच राजस्थान ने अपने गणतंत्र-आलोकित किए। युद्धों में सावधान और शौर्यशाली महान यहां का आदमी अपने लोक काव्य से उत्प्रेरित रहा।

प्राकृत, अपभ्रंश, शौरसेनी, डिंगल, पिंगल, संस्कृत प्रकृति भाषाओं के आलोक में यहां का लोक साहित्य सदा से बहु-भाषी भावात्मकता के साथ प्रस्फुरित, पल्लवित होता रहा है।

कंठ कंठ गीत। गांव प्रीत कल से आज तक, जीवन मरण के विविधायामों में लोककंठ से—निसृत होते रहे हैं। राजस्थान को गर्व है तो एक ही बात पर कि इसके पूर्वज गायक, कवि, कथाकार, इतिहास ख्यात वाचक, वाद्य वादक और नर्तक निरक्षर होकर भी सुसंस्कृत स्वरों के साधक सिद्ध हुए हैं। प्रेम परो रहे यहां के लोग-लुगाई।

रात रात भर यहां की गीतारियां धवल चांदनी रातों में सदी दर सदी गीत-उगेरती आई हैं। तीन-तीन चार-चार दिन तक लोक गाथाओं को पूरी तन्मयता से "हुकारे बात बधाता" यहां का कथा पुरुष कभी नहीं हारा।

नाम-अनाम हुआ यहां का स्वनाम धन्य लोक रचनाकार राजस्थानी संस्कृति की वैश्विकता का ध्वजवाही रहा है।

विराट परिदृश्य संस्कृति का

पशु–पक्षी, पेड़-पौधे, डूंगर-धोरे-सूरज-चांद-सितारे-नदी-नारे, लोक रचनाकार की कलम और कंठावली में चिरकाल से रमते रहे हैं।

लिखा, लिपिकारों ने कालान्तर में लोक-साहित्य। आदिम धन लोक कलाकार के पास रहा तो उसका कंठ। आज भी जीवित है ऐसी लोक स्मृति कार जिन्हें हजारों गीत अरवाणें कंठस्थ हैं।

आज राजस्थान के पास लगभग दो लाख हस्त लिखित ग्रंथों में यहां की संस्कृति के उपासकों के स्वर अक्षर अक्षर निबिद्ध है। हजारों गीत, सैकड़ों लोक गाथायें, असंख्यों कहावतें, प्रवाह, संवाद, ख्यातें, पंवाड़े, विनिकाय, प्रहेलिकायें, कहमुकरनियां, गुरूशिष्य, संवाद, काव्य शतक, काव्य हजारे और दसियों हजार दूहे, सोरठे, राजस्थानी संस्कृति की साहित्य, कला, थाती के रूप में अपनी अपराजेय विद्यमानता बरकरार बनाये हुए है।

राजस्थानी संस्कृति के इस विराट परिदृश्य को स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व और पश्चात लगातार हर युग में यहां के विद्वान विदेशों के मनीषी और अंत भारतीय कला-साहित्य पारखी "निरख"–पाख-कर धन्यभाग होते रहे है।

"लूहर"––"घूमर"––"कच्छी घोड़ी", "कत्थक", "धुड़ला" गेर और आदिलोकीय गजरी नृत्यों में झूमता झामता हुआ राजस्थान अपनी संस्कृति के स्वरों व पादचापों को सात समंदर पार करता हुआ इसे विश्व सांस्कृतिकता से जोड़ हुए हैं।

न कंठ हारा न कलम रुकी

दुर्गों और देवालयों के स्थापत्य से समृद्ध राजस्थानी संस्कृति, भारतीय संस्कृति अप्रतिम अद्भूतालय है। इस पर मनोमुग्ध हुआ––कवीन्द्र रवीन्द्र, इस पर रीझा––गुजरात का "मेघाणी" कि केरल का के० एम० पणिक्कर कि इस पर वारी वारी गया––पंजाब का जन कवि वीरसिंह।

राजस्थान की "मीरा" पूरी दुनिया की दर्द दीवानी महाराणा प्रताप-सांगा-हम्मीर और वीरमदेव विश्वशौर्य के कलासाधना के साध्य बने हुए आज भी इस धरती के कण-कण, कंठ-कंठ, चरण-चरण में चिरंजीवी हैं। चिरंजीवा है चन्द्रसखी और "संहजो" इसी पुण्यधारा में संत सुंदरदास। न कंठ हारा न कलम रूकी। राजस्थानी संस्कृति की लोक यात्रा कहीं नहीं रूकी।

राजस्थान के जोधपुर क्षेत्र का बोरून्दा और अलवर का लक्ष्मणगढ़, आदिवासी डूंगरपुर क्षेत्र से लेकर तुलसीकृत रामायण के पुरखा राजस्थानी रामायण कार मेहागोदारा का डूंगरगढ़ (चूरू–बीकानेर) सब जगह राजस्थानी संस्कृति का युगबोध जीवंत है।

संसार में अप्रतिम जसनामी अग्नि नृत्य का क्षेत्र इसी राजस्थान का मरुधर है। अजमेर मेरवाड़ की बगावत-लोक गाथा की यही पुण्य धरा है। गोगाजी, पाबजी, हड्बूजी, रामदेव, लोक देवताओं का करणीभाई, हिंगलाज देवियों का यही लोक धाम है। यहीं "वृन्द" रमा "कपिल" तथा गालव गुणज्ञ हुआ। "ईसरा" परमेसरा यहीं स्वर धन्य हुए हैं।

लोक ब्रह्म की माया

न विधिवत् किसी नृत्य शाला में प्रशिसित हुआ यहां का लोक नर्तक, न सा०रे०ग०म०पा० के स्वरसाधे यहां के लोक गायक ने, न यहां लोक कथकार के सम्मुख सम्प्रेणीयता का संकट रहा न सामयिकता-प्रासंगिकता व सरोकार सरीखी कोई बहस। यहां के लोक कवि ने कब पढ़ा था काव्य शास्त्र। आवागमन के साधन न थे कल फिर भी यहां का ख्यात कार रूम-सूम गजनी-बुखारा और दजला फरात से लेकर नील नदी का अंतः द्रष्टा रहा। संस्कृति राजस्थान की-गिरा अनयन-नयन बिनु-वाणी-फलती फुलती रही लोक ब्रह्म में।

फागुन के मस्त महीने में बजता हुआ डफ, सावण के महीने में गूंजती हुई अलगोजे की तान और ठंडी-मीठी रातों में ताल ताल निहाल होती ढोलक–नफीरी–मृदंग का अनहद नाद राजस्थान में आज भी जीवंत है। फड़ बंचती ही है। ख्वाजा के दरगाह की चादर तनती है। चम्बल छलछलाती है। मोर नाचते ही हैं। ऊंट गुल्ला निकालते ही हैं। सनुन कुनन बैलों की जोड़ियां ग्रामपथों को गुजाती ही हैं। कितनी बहुआयामी है यह सुसंस्कृत संस्कृति। नागरी-दास-बिहारी और महा कवि पृथ्वीराज की संस्कृति।

किसे पता है इसके क्रोड़ में कितने लोक कलाकार अनाम अज्ञात पड़े हैं। प्रदेश की संस्कृति अकादमी इस संवेदन से जुड़ी है। यह संवेदन सदियों की विरासत का है।............अंतहीन है इसका परिदृश्य।

भारतीय संस्कृति की परम्परा में राजस्थान का योग-दान

—डा० रामानन्द तिवारी

भारतीय संस्कृति की परम्परा सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त है। प्रांत, भाषा आदि की भिन्नता में संस्कृति की परम्परा ही भारत की एकता का सूत्र रही है। इसी सूत्र को सुदृढ़ बना कर आज भी भारत की राष्ट्रीय एकता को अनुष्ठित किया जा सकता है। इस सांस्कृतिक परम्परा के अनेक पर्व एवं पक्ष हैं। संवसर के वर्ष आरम्भ से लेकर होली पर्यन्त ये पर्व भारत के सभी प्रांतों में मनाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक संस्कार एवं उत्सव समय-समय पर सर्वत्र समपन्न होते हैं। अनेक सामान्य समारोह व्यापक रूप से प्रचलित हैं। जीवो के अनेक मूल्य एवं आदर्श समान रूप से सर्वत्र मान्य हैं। धर्म, कला, साहित्य आदि की अनेक समान परम्पराएं भारत के सभी क्षेत्रों में प्रचलित रही हैं।

उदाहरण के लिए संवत्सर की देवी पूजा सर्वत्र प्रचलित है। राखी, दीपावली, होली के उत्सव सभी प्रांतों में मनाये जाते हैं। शिव रात्रि की शिवपूजा भारतवर्ष के सभी स्थानों में सम्पन्न होती है। विवाह, पुत्रजन्म आदि के संस्कार सभी क्षेत्रों में वैदिक विधि से सम्पन्न होते हैं। नदी तीर्थों के मेले सम्पूर्ण भारत में समय-समय पर होते हैं। अनेक नदी तीर्थों पर पवित्र स्नान होते हैं। देवी, शिव, राम, कृष्ण आदि के मंदिर भारत के सभी क्षेत्रों में प्रतिष्ठित हैं। प्रीति भोज, मृत्युसंस्कार आदि की समान प्रथाएं सर्वत्र प्रचलित हैं। मातृमहिमा, नारीमान, कन्या-दान, गुरूपूजा, साधुसम्मान आदि के मूल्य भारत के सभी क्षेत्रों में समाहत हैं।

यद्यपि भारतीय संस्कृति की परम्परा सामान्यरूप से भारत के सभी प्रदेशों में व्याप्त रही है, फिर भी पश्चियोत्तर प्रदेश जो कुरु-पंचाल कहलाता था तथा आर्यावर्त (अथवा ब्रह्मावर्त) और राजस्थान में भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनेक पक्ष अधिक उज्जवल रहे हैं। इनमें संवत्सर की देवीपूजा, मातृमान, भागिनीमान, शौर्य का दर्प, सतीत्व की महिमा, बलिदानी क्षत्रिय तेज, नारियों का पतिदर्प, राजा ओंकी प्रजापालन, राजाओं दान-औदार्य, राजाओं का विद्या-प्रेम, कला प्रेम, स्थापत्य आदि सांस्कृतिक मूल्य राजस्थान में अधिक चर्चित रहे हैं।

संवत्सर की शक्ति पूजा नव वर्ष का प्रथम और प्रधित पर्व है। संवत्सर भारत की अनादि परम्परा का पर्व है। वह नवरात्र उपासना के रूप में प्रशस्त है। जगजननी के रूप में देवी की उपासना घटघट तथा देवीतीर्थों में होती है। आदिम मातृयुग की मातृमहिमा नवरात्र की देवी पूजा में प्रतिष्ठित हुई है। भारतीय परम्परा में मातृमहिमा अनेक रूपों में व्याप्त है। "पार्वती परमेश्वरो", "भवानीशंकरो", सीताराम, राधाकृष्ण आदि में यह मातृमहिमा भाषा की आत्मा में समाहित हो गई है। नवरात्र की नवमीं मातृ-नवमी कहलाती है। राजस्थान के ग्रामीण समाज में भी माता का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। वीर-प्रसू के रूप में माता मान्य थी।

देवीतीर्थों और देवीपूजा का भी राजस्थान में विशेष मान है। ग्राम में प्रत्येक कुल की एक मान्य देवी होती है। पूर्वजों के लेख में तीर्थों में गुरूओं के अंकन में लिखा जाता है—"देवी पुजें अमुक स्थान की"। राजस्थान में पश्चिमोत्तर भारत की भांति अनेक देवी तीर्थ हैं यथा आमेर, करौली, जोबनेर आदि। करौली की देवी समस्त भारत में विख्यात है, जैसे वैष्णो देवी विख्यात हैं। इसी प्रकार प्रत्येक ग्रामीण परिवार विशेष सती की पूजा करता है। संवत्सर की "देवीपूजा निश्चित रूप से शक्तिपूजा है"। शक्ति के साथ शिव भी अभिन्न रूप से मान्य हैं। चित्तोड़ राज्य के एक लिंग शिव इष्ट देवता हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि राजस्थान छत्रिय राजाओं के अधिकार में रहे करौली की देवी का क्षेत्र करौली के राजवंश के अधिकार में था। आज भी है। देवी के मंदिरों में पुजारी भी क्षत्रिय होते थे। इससे शक्तिपूजा में क्षत्रियों का विशेषाधिकार प्रमाणित होता है। युद्ध और रक्षाधर्म के कारण शक्तिपूजा क्षत्रियों का जातीय धर्म रही है। शिव के साथ शक्ति की अभिन्नता शक्तिधर्म की मंगलमुखी आस्था की द्योतक है।

शक्ति की धारणा आध्यात्मिक होने के साथ धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, लौकिक तथा राजनैतिक भी है। राजस्थान में शक्ति की अर्चना इन सभी दृष्टियों से सर्वाधिक होती रही है। क्षत्रिय धर्म की ध्वजा सबसे अधिक और ऊंची राजस्थान में ही फहराती रही है। दिल्ली के बाद राजस्थान ही भारत की मुख्य संग्रामभूमि रहा है।

क्षत्रि-शौर्य राजस्थान का राज-धर्म रहा है। सूर्यवंशी, चंद्र-वंशी क्षत्रिय राजा रघुवंशी राम तथा पुरु-वंशी भीम-अर्जुन से प्रेरणा लेते रहे हैं। यदुवंशी कृष्ण का चरित और उपदेश भी प्रेरणा का स्रोत रहा है।

पुरुषों के साथ साथ स्त्रियां भी राजस्थान की शौर्य-परम्परा की साझीदार रही हैं। पद्मनी आदि के जौहर विख्यात हैं। नारियां पुरुषों की प्रेरणा रहीं हैं। हाड़ी रानी का आत्म बलिदान अतुलनीय है। अन्यत्र ऐसे उदाहरण दुर्लभ हैं। पुरुषों और नारियों में शौर्य की परम्परा राज-स्थान में सर्वाधिक उज्जवल रूप में व्याप्त रही है।

संवत्सर की शक्तिपूजा और शौर्य परम्परा के अतिरिक्त राखी का पर्व और भगिनी का मान भी राजस्थान की संस्कृति में विशेष रेखांकित रहा है। बहन के रक्षक भाई के लिए "वीर" शब्द राजस्थान के भाषा व्यावहार में रूढ़ हो गया। "वीर जी आता होसी, भौजाई-सा" एक लोकगीत का पद है।

राजाओं का प्रजापालन, राजाओं का दान-औदार्य, राजाओं का विद्याप्रेम, कला-साहित्य प्रेम आदि भी विख्यात रहे हैं। यह भारतीय संस्कृति की परम्परा के विशेष अंग हैं जो धर्म-शास्त्रों महाभारत, रामायण तथा अन्य काव्यों में चर्चित रहे हैं। वीर-गाथा-गायकों की चारण नाम से एक पृथक जाति राजस्थान में ही रही। राज्याश्रित साहित्यकारों की इतनी रचनाएं भारत के अन्य भागों और भाषाओं में नहीं मिलती।

साहित्य और काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं के भी उत्तम रूप राजस्थान में मिलते हैं। दुर्गों के अतिरिक्त राज-महल भी राजस्थान में सर्वाधिक हैं। अनेक कलापूर्ण मन्दिर हैं। सामान्य नगरों में भी स्थापत्य कला राजस्थान में भारत के अन्य नगरों से अधिक समृद्ध रूप में मिलती है। पत्थर की कला राजस्थान में अधिक है। दुर्गों के अतिरिक्त नगर के कोट राजस्थान के नगरों की विशेषता रहे हैं। जोधपुर, जयपुर, कोटा, भरतपुर आदि अनेक नगर "कोट" से वेष्टित रहे। कोटा का तो नाम ही कोट से बना है।

देवी और शिव के मन्दिरों के अतिरिक्त राम और कृष्ण के वैष्णव मन्दिर भी राजस्थान में बहुत हैं। नाथद्वारा, जयपुर, करौली, भरतपुर आदि में प्रसिद्ध कृष्ण मन्दिर हैं। गणेशजी के विख्यात मन्दिर भी राजस्थान के नगरों में ही हैं। गृह-निर्माण के संदर्भ में द्वार पर गणेश प्रतिमा की स्थापना की प्रथा भी विशेष रूप से राजस्थान में ही प्रचलित है।

वेश-भूषा की दृष्टि से भी राजस्थान अपनी विशिष्ट पहचान रखता रहा है। स्त्री-पुरुष दोनों की विशेष भूषा राजस्थान में प्रचलित रही है। जोधपुर, जयपुर आदि में राजस्थानी भूषा की विशेष रंगीन छपाई होती रही है जो बन्धेज की छपाई कहलाती है। पुरुषों के शिरोवेश (साफा) राजस्थान की विशेष पहचान रहे हैं। ये शिरोवेश आकार मुद्रा और उपयोग की दृष्टि से राजस्थान की शौर्य-परम्परा से सम्बद्ध रहे हैं। महिलाओं के ओढ़नी-घाघरा भी अपनी विशेष छटाओं में राजस्थान में प्रचलित हैं। पुरुषों की पगड़ी बांधने की विभिन्न शैलियां राज्यों और विविध जाति-वर्गों की विशेषताओं का दिग्दर्शन करती हैं। जयपुर के संग्रहालय मिट्टी की आकृतियों में पगड़ियों की शैलियों के नमूने सुरक्षित हैं।

संवत्सर की शक्तिपूजा और राखी के पर्वों के अतिरिक्त दीपावली एवं होली के पर्व भी राजस्थान में उत्साह और उल्लास के साथ मनाये जाते हैं। दीपावली की आवृत्ति राजस्थान की विशेषता है। राजस्थान के नगरों में प्रतिपदा के पूर्व और बाद में भी कई दिन तक उन्हीं दीपकों में तेल डालकर जलाया जाता है। राजस्थान की यह परम्परा दीपमाला के तात्विक प्रयोजन को और भी अधिक गम्भीरता से रेखांकित करती है। दीपावली ज्योति के सूत्र से शांति, ज्ञान, समृद्धि की परम्परा का पर्व है।

दीपावली की भांति होली का वासन्ती पर्व भी राजस्थान में विशेष उल्लास के साथ मनाया जाता है। होली का इतना उल्लास ब्रज के अतिरिक्त भारत में अन्यत्र नहीं मिल सकता। यह कदाचित् ब्रज की निकटता का प्रभाव है। होली के गीत, नृत्य, वाद्यों का समारोह ब्रज के बाद राजस्थान में ही मिलेगा। होली प्रेम-मिलन का पर्व है। राजस्थान में राजकुलों में पारस्परिक गृह युद्ध होते रहे हैं। अतः होली के प्रेम मिलन का राजस्थान के संदर्भ में विशेष महत्व है। होली में एक प्रथा ब्रज-क्षेत्र में प्रचलित है। गोबर के ढाल-तलवार बनाकर घर की होली में जलाये जाते हैं। राजस्थान में लकड़ी के ढाल-तलवार भाले घर घर आते थे और होली में जलाये जाते थे। राजस्थान में युद्ध खेल था। ढाल-तलवार किशोरों के खिलौने थे। होली के प्रेम-पर्व में उनका जलाना स्नेह-समाधान का सूचक था। यह विशेषता दीपावली की आवृत्त दीपमाला के समान होली के पर्व को एक विशेष आयाम देती है। इन दोनों ही राष्ट्रीय सांस्कृतिक पर्वों की राजस्थानी विशेषताएं इन पर्वों के उन संदर्भों एवं तात्पर्यों को रेखांकित करती हैं जो भारत के अन्य भागों में इतने उजागर नहीं हैं।

संस्कृति के पर्वों, कलाओं आदि के अतिरिक्त नैतिक मूल्यों, धार्मिक आस्था, धार्मिक आचार आदि की दृष्टि से भी राजस्थान का योग-दान उल्लेखनीय है। सत्य स्वाभि-मान शौर्य, श्रद्धा, बलिदान आदि के नैतिक मूल्य राजस्थान के इतिहास में अधिक उजागर रहे हैं। उत्तर भारत में

तीर्थों में विशेषतः गंगा में राजस्थान की आस्था सबसे अधिक रही है। इस दृष्टि से मालवा ही राजस्थान से तुलना कर सकता है। गंगा-स्नान, गंगायात्रा आदि का महत्व राजस्थान में अधिक है। धर्माचार की दृष्टि से मृतक की अस्थियां गंगा में प्रवाहित की जाती हैं। मृतक का पिंडदान संस्कार भी गंगा में किया जाता है। राजस्थान के तीर्थयात्री पात्रों में गंगाजल घर ले जाते हैं। गंगाजली खोलने का उत्सव होता है। गंगा और गंगाजल की इतनी महिमा कदाचित् ही अन्यत्र होगी। गंगा के सहारे गंगातटवासी ब्राह्मणों का गंगागुरुत्व भी राजस्थान में सर्वाधिक मान्य है। उसने एक स्थायी जीविका और मान्यता का रूप ले लिया है। शिवरात्रि के अवसर पर गंगोत्री का गंगाजल रामेश्वरम पर चढ़ाने वालों में भी अनेक राजस्थान-वासी सम्मिलित होते हैं। राजा भगीरथ के सूर्यवंशी होने का पौराणिक संदर्भ भी राजस्थान के क्षत्रियों की गंगा के प्रति आस्था को प्रेरित करता रहा होगा।

राम और कृष्ण की भक्ति का विशेष प्रभाव राजस्थान में रहा है। राम की महिमा राजस्थान में राम के क्षत्रिय तथा सूर्यवंशी होने के कारण है। कृष्ण का प्रभाव ब्रज की निकटता के कारण है। कोटा, नाथद्वारा आदि स्थान मुसलमानी काल में कृष्ण के आश्रय बने। राजस्थान के नगरों में राम-कृष्ण के मंदिर तथा उनके नाम पर नगर, ग्राम, स्थान, मार्ग आदि हैं।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति, की परम्परा के प्रमुख रूपों मूल्यों एवं तत्वों के परिपालन और संरक्षण में राजस्थान का विशेष योगदान रहा है। राजस्थान में रक्षित संस्कृति के कुछ रूप तो भारत के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट और अधिक उत्कृष्ट रूप में पोषित रहे हैं। इन रूपों की दृष्टि से राजस्थान भारत का सांस्कृतिक राजमुकुट है।



वैदिक पहेलियां

डॉ० रामनाथ वेदालंकार

वेदों में अनेक प्रकरण बड़े ही रहस्यमय तथा प्रहेलिकात्मक हैं। परंतु भाष्यकारों ने क्योंकि उनका प्रहेलिकात्मक रूप नहीं उभारा, इस कारण वे पहेली रूप में प्रायः सामने नहीं आ पाये। किसी भी साहित्य की पहेलियां मनोरंजन के अतिरिक्त उसके धर्म, दर्शन, संस्कृति आदि पर भी किसी न किसी रूप में प्रकाश डालती हैं। इस दृष्टि से वैदिक पहेलियां बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इस लेख में दिग्दर्शन के रूप में कतिपय वैदिक पहेलियों की झांकी प्रस्तुत कर रहे हैं।

1. एक वृक्ष पर बैठे दो पक्षी

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य : पिप्पलं स्वाद्वत्यन अनन्यो अभिचाकशीति ।।

ऋग् 1.164.20, अथर्व 9.9,20

"सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी हैं, जो एक-दूसरे के सहयोगी और सखा हैं। वे एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के स्वादु फलों को खा रहा है, दूसरा बिना खाये केवल देख रहा है।"

यहां वृक्ष से यह जगत्प्रपंच अभिप्रेत है। उस पर बैठे दो पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं। जीवात्मा जगद्-वृक्ष के फलों को खाता है अर्थात् सांसारिक भोगों को अथवा कर्मफलों को भोगता है, परंतु परमात्मा सांसारिक भोगों को नहीं भोगता, केवल द्रष्टा बना रहता है। अथवा आकाश रूप वृक्ष है, उस पर सूर्य और चंद्र दो पक्षी अवस्थित हैं। उनमें से चंद्र क्षय-वृद्धि रूप फलों को भोगता है, सूर्य दर्शक या प्रकाशक मात्र रहता है। अथवा देवयजनस्थल रूप वृक्ष पर यजमान और ब्रह्मा ये दो पक्षी बैठे हैं, जिनमें से केवल यजमान यज्ञफल को भोगता है, ब्रह्मा साक्षी मात्र रहता है।

2. तीन केशधारी साधू

त्रय : केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम ।।

ऋग् 1.164.44, अथर्व 9.10.26

"तीन केशधारी साधू हैं, वे समय-समय पर सबके ऊपर कृपादृष्टि रखते हैं। उनमें से एक वर्ष भर बाल काटना रूपी नाई का कार्य करता है, अथवा बीज बोता और फसल काटता रहता है, या जलाता रहता है (वपते1)। दूसरा अपनी क्रियाओं से विश्व को प्रकाशित करता है। तीसरा ऐसा है, जिसकी गति तो प्रत्यक्ष होती है, पर रूप नहीं दीखता।"

निरुक्तकार यास्क के अनुसार ये केशधारी तीन साधू क्रमशः अग्नि, सूर्य और वायु हैं। अग्नि के धूम रूप केश होते हैं तथा वह वर्ष भर जलाने का कार्य करता है अथवा जलाने की क्रिया द्वारा औषधि, वनस्पति रूप बालों को काटता हुआ नाई का कार्य करता है। दूसरे साधू सूर्य के रश्मि रूप केश होते हैं तथा वह सम्पूर्ण सौर जगत् को प्रकाशित करता है। तीसरे साधू वायु के धूलि-कण या जल-कण रूपी केश होते हैं, तथा उसकी गति तो प्रत्यक्ष अनुभव होती है, पर रूप नहीं दीखता।

दूसरी व्याख्या के अनुसार ये तीन साधू क्रमशः जीवात्मा प्रकृति तथा ब्रह्म हैं। जीवात्मा कर्म करता हुआ शुभाशुभ संस्कारों का बीज बोता तथा वैसी ही शुभ या अशुभ फसल काटता अर्थात् अच्छे-बुरे फल भोगता रहता है। दूसरी साधू प्रकृति है जो अपने गुण-कर्मों से विश्व को रूपयुक्त करती है (अभिचष्टे)। तीसरा साधू ब्रह्म है जिसका कर्तत्व तो जगत् में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, रूप नहीं दीखता।

3. एक अनोखा रथ

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकश : सप्तरश्मि : ।
दशारित्रो मनुष्यः स्वार्षाःस इष्टिभिर्मतिभि रंहयो भूत् ।।

ऋग् 2.18।

"एक रथ है, जो प्रातः काल जोड़ा जाता है। वह अत्यंत नूतन तथा प्रशंसायोग्य है, साफ-सुथरा है। उसमें चार जुए (युग) तीन चाबुकें (कशा), सात रासें (रश्मियां) और दस पहिए (अरित्र) हैं। वह मानव के लिए हितकर है तथा स्वर्ग पहुंचाने वाला है। वह इच्छाओं और मतियों के अनुसार चलाया जाता है।"

सायण के मत में यह रथ प्रातः कालीन यज्ञ है। चार युग सोमरस निकालने के चार सिलबट्टे (ग्रावा) हैं, अथवा होता, उद्गाता, ऊध्वर्यु, ब्रह्मा ये चार ऋत्विज् हैं। तीन

1 वप धातु के वेद में जलाना, बीज बोना तथा काटना तीनों अर्थ होते हैं। वपदे दहति (निरुक्त 12.26)। बीज बोना, यथा—ऋते योनौ वपतेह बीजम् ऋग् 10.101.3। काटना, यथा—"वप्ता वपसि केशश्मश्रु,, अथर्व 8.2.17।

कशाएं मन्द्र, मध्यम, उत्कृष्ट रूप तीन वाणियां हैं, अथवा तीन कशाओं से तीन सवन अभिप्रेत हैं । सात रश्मियां गाय, यादि सात छन्द हैं। दस पहिए दस ग्रह हैं, जो पापों से रक्षा करते हैं (अरि-त्र) : यह यज्ञ मनुष्यों का हित-संपादक तथा स्वर्ग प्राप्त कराने वाला है ही । प्रायणीय, आतिथ्य आदि इष्टियों से तथा माननीय स्रोतों (मतियों) से शब्दनीय (रंह्‌य) होता है।

इस रथ को मानव-शरीर-परक व्याख्या भी की जा सकती है। रथ का नाम पहेलीकार ने पहेली में ही दे दिया है---"मनुष्यः" : मानव-शरीर आत्मा रूप रथी का रथ है । रात्रि भर विश्राम करके प्रातः चलने के लिए तैयार हो जाता है। अन्य प्राणियों के शरीर-रथों की अपेक्षा यह नवीन तथा प्रशंसनीय भी है। दो भुजाएं तथा दो पैर अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इसके चार जुए हैं । मन, वाणी, प्राण तीन कशाएं हैं। पच ज्ञानेन्द्रियां, मन तथा बुद्धि ये सात रासें हैं । दस प्राण ही दस पहिए हैं। वह स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति का साधन है । यज्ञ-भावनाओं (इष्टियों) तथा मतियों से चलाया जाता है।

4. चार सींग, तीन पैर और सात हाथों वाला बैल

चत्वारि श्रृङगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ।।

ऋग् 4.58.3, यजु 17.91

"एक बैल (वृषभ) है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं। तीन स्थानों से बंधा हुआ वह जोर से डकरा रहा है। बताओ वह बैल कौन सा है? कुछ अता-पता जानना चाहो तो यह है कि वह एक महान् देव है और मनुष्यों के अन्दर रहता है ।"

इस पहेली के अनेक समाधान किए गए हैं। निरुक्त के अनुसार यह बैल यज्ञ है। चार वेद ही उसके चार सींग हैं । प्रातः, मध्यान्ह तथा सायं के तीन सवन ही तीन पैर हैं। प्रायणीय तथा उदगनीय उसके दो सिर हैं। गायत्री आदि सात छन्द सात हाथ हैं। वह यज्ञ-रूप वृषभ मन्त्र, ब्राह्‌मण और कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। यज्ञ में होने वाला मंत्रपाठ ही उस वृषभ का डकराना या बोलना है।

पतंजलि अपने महाभाष्य नामक व्याकरण-ग्रन्थ में इस पहेली का व्याकरणपरक हल प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में यह बैल शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं । भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन काल इसके तीन पैर हैं। सुप् और तिङ दो सिर हैं। सात विभक्तियां सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों में बंधा हुआ वह शब्द रूपी बैल बोल रहा है, क्योंकि इन तीनों स्थानों की सहायता से ही शब्द का उच्चारण किया जाता है।

सायण का कथन है कि इस मंत्र वाले सूक्त के अग्नि, सूर्य, अप्, गौ तथा घृत ये पांच देवता होने से यह मंत्र पांच प्रकार से व्याख्यात हो सकता है। यज्ञाग्नि तथा सूर्य के पक्ष में उसने व्याख्या प्रदर्शित भी की है । यज्ञपरक व्याख्यान लगभग निरुक्तानुसारी ही है। सूर्यपरक व्याख्या में--चार दिशाएं चार सींग हैं, तीन वेद तीन पैर हैं, दिन-रात्रि दो सिर हैं, सात रश्मियां अथवा छह विलक्षण ऋतुएं और एक साधारण ऋतु, सात हाथ हैं। वह तीन क्षित्यादि लोकों में अग्न्यादि रूप से संबद्ध है, अथवा ग्रीष्म, वर्षा हेमंत इन तीन द्वारा तीन रूपों में बद्ध है। वर्षक होने से वह वृषभ है तथा विद्युत्-गर्जना द्वारा शब्द भी करता है।

स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्यानुसार यह वृषभ और महान देव परमात्मबोध या धर्म-व्यवहार है जिसमें चार वेद ऋग्-यजुः-साम-अथर्व, चतुर्विध शब्द नाम आख्यात-उपसर्ग-निपात, ब्रह्‌म के चार पाद विश्व-तैजस-प्राज्ञ-तुरीय, चार पुरुषार्थ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि चार सींग हैं, तीन सवन, तीन काल, कर्म-उपासना-ज्ञान, मन-वाक-शरीर आदि तीन पैर हैं, व्यवहार-परमार्थ, नित्यशब्दकार्यशब्द, उद्‌गयन,-प्रायणीय, अध्यापक-उपदेशक आदि दो सिर हैं, गायत्री आदि सात छन्द, सात विभक्तियां, सात प्राण, पांच कर्मेन्द्रियां-शरीर और आत्मा आदि सात हाथ हैं, मंत्र-ब्राह्‌मण-कल्प उरस्,-कण्ठ-सिर, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, ब्रह्‌मचर्य-सुकर्म-सुविचार इन तीन में बंधा हुआ अर्थात् इन तीन से सिद्ध होने वाला यह व्यवहार मनुष्यों के बीच में प्रविष्ट है।

5. वृक्ष-वृक्ष पर बैठी गाय

वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद गौस्ततो वयः प्रपतान पुरुषादः ।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वद् ऋषये च शिक्षत् ।।

ऋग् 10.27.22

'वृक्ष-वृक्ष पर एक-एक गाय बैठी हुई जोर से रंभा रही है। जब वह रंभाती है तब उसके मुख से पक्षी निकल कर उड़ते हैं, जो पुरुषों को खा जाते हैं। यह देख कर सारा भुवन भयभीत हो उठा है और वह इन्द्र का पूजन कर रहा है तथा ऋषियों को दान कर रहा है।"

निरुक्तकार इस पहेली का समाधान करते हुए लिखते हैं कि यहां "वृक्ष" का अर्थ धनुष है। वृक्ष शब्द छेदनार्थक व्रश्च धातु से बनता है। पेड को वृक्ष इस कारण कहते हैं, क्योंकि उसे काटा जाता है। वैदिक भाषा में धनुष को भी वृक्ष कहते हैं, क्योंकि वह अपने तीरों के द्वारा शत्रु को काटता है। "गौ" यहां धनुष की डोरी या प्रत्यंचा का नाम है। पक्षीवाची "वि" शब्द यहां बाण का वाची है । इस प्रकार पहेली का समाधान यह होता है कि प्रत्येक धनुष पर प्रत्यंचा कसी हुई है, उससे नर-संहारक बाण निकल कर संहार-लीला मचा रहे हैं। यह देख सारा विश्व संत्रस्त हो उठा है। वेद ने पहेली के द्वारा मानो आधुनिक युग का ही

चित्र अंकित कर दिया है। आज सचमुच मारक शस्त्रास्त्रों की होड़ से विश्व भयभीत है और आज के ऋषि लोग निरस्त्रीकरण की बात उठा रहे हैं।

6. चार जूड़ों वाली युवति

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते ।
तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतु र्यत्र देवा दधिरे भागधेयम ।।

ऋग् 10.114.3

"एक युवति है, उसके सिर पर चार जूड़े बंधे हैं। वह सुरूपवती है, मुख पर घृत (क्रीम) लगाये हुए हैं, उसने "वयुन" प्रिंट की साड़ी पहन रखी है। उसके ऊपर सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी बैठे हैं, जो वर्षा कर रहे हैं। इस युवति का अता-पता यह है कि सब देव इसी के द्वारा अपना भाग ग्रहण करते हैं।"

सायण के अनुसार यह युवति यज्ञवेदि है। चतुष्कोण होने से तथा चारों कोनों पर कलश रखे होने से वह चार जूड़ों वाली है। अलंकृत होने से सुरूपवती है। घृत की छवि से युक्त होने के कारण वह घृतमुखी है। "वयुन" अर्थात् वेदमंत्र या यज्ञ की विधियां ही उसकी साड़ी है। उस वेदि पर स्थित दो पक्षी हैं यजमान पति-पत्नी अथवा यजमान और ब्रह्मा जो दोनों ही अग्नि में हवि की वर्षा करते हैं। उस वेदि के द्वारा ही अग्नि आदि देव अपने-अपने हविर्भाग को पाते हैं।

इसी भाष्यकार ने पहेली की एक दूसरी व्याख्या भी दी है। उसके अनुसार युवति औपनिषदी वाक् है। चार प्रकार के पद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही उसके चार जूड़े हैं। देदीप्यमान वर्णवयवों वाली होने से वह "धृतमुखी है, क्योंकि वैदिक साहित्य में घृत का एक अर्थ दीप्ति भी होता है। "व्युन" अर्थात् ब्रह्मज्ञान उसकी साड़ी है। उसमें स्थित दो पक्षी जीवात्मा तथा परमात्मा हैं, जिसका वह वर्णन करती है।

7. उल्टी लीला

इदं सु ये जरितरा चिकिद्धि प्रतीपं शापं नयो वहन्ति ।
लोपाशः सिंहः प्रत्यंचमत्सा : क्रोस्टा वराहं निरतक्त कक्षात् ।।

ऋग् 10.28.4

"हे भाई, मेरी इस पहेली को ध्यान से बूझो। नदियां विपरीत दिशा में अर्थात् ऊंचाई की ओर पानी बहा रही हैं। मृग सिंह को पकड़ने के लिए दौड़ रहा है। गीदड़ जंगली शूकर को कुंज से बाहर खदेड़ रहा है।"

विपरीत दिशा में पानी बहाने वाली नदियां शरीर की रक्त-नाड़ियां हैं। अन्य नदियों में तो ऊपर से नीचे की ओर पानी बहता है, पर इन नाड़ियों में नीचे से ऊपर की ओर भी रक्त-जल प्रवाहित होता है। दूसरी उल्टी बात यहां यह कही गयी है कि मृग सिंह को पकड़ने के लिए दौड़ता है। सिंह अग्नि है, मृग वनस्पति या ईंधन है। यज्ञ में समिधा रूप ईंधन अग्नि की ओर जाता ही है। तीसरे, गीदड़, शूकर को कुंज से बाहर खदेड़ता है। गीदड़ (क्रोष्टा) आकाशीय विद्युत् है, क्योंकि वह आक्रोश या गर्जना करती है। शूकर (वराह) मेघ है[1], विद्युत् रूप गीदड़ (क्रोष्टा) आकाश रूप कुंज से मेघ रूप शूकर को खदेड़ कर नीचे भूमि पर बरसा देता है।

8. केशी भगवान का विष-पान

वायुरस्मा उपामन्थत् पिनिष्ट स्मा कुनन्नमा ।
केशी विषस्य पात्रेण यद् रुद्रेणापिबत् सह ।।

ऋग् 10.136.7

"जटाधारी केशी भगवान हैं, वे रुद्र के साथ पात्र से विष पान करते हैं। उस विष को इनके लिए कुनन्नमा नाम की अप्सरा ने पीसा है और वायु नामक गन्धर्व ने मथा है।"

यह केशी सूर्य है, क्योंकि उसके रश्मि रूप केश होते हैं। रुद्र आकाश-विहारी पवन है। विष शब्द वैदिक कोश निघण्टु में जल के पर्यायवाची शब्दों में पठित होने से यहां वर्षा जल ही विष है। भूमिष्ठ वर्षा जल को सूर्य आकाश-बिहारी पवन के साथ अपने रश्मिजाल रूप पात्र से पान करता है। पर यह भूमिष्ठ वर्षा जल (विष) आया कहां से? "कुनन्नमा" अप्सरा ने इसे आकाश रूप शिला पर पीस-पीस कर नीचे गिराया। कुनन्नमा आकाशीय विद्युत् है। कु का अर्थ भूमि होता है, नन्नमा का अर्थ है नवाने वाली। बिजली वर्षा करके भूमि को नीचे बैठा देती है, इस कारण वह कुनन्नमा कहलाती है। पिसी पिट्टी को मथा भी जाता है। विष को मथने का कार्य भूमिष्ठ वायु करती है।

अध्यात्म-पक्ष में केशी आत्मा है, जिसके ज्ञान रूप केश होते हैं। रुद्र प्राण है। आत्मा प्राण के साथ मिल कर ब्रह्मानन्द रूप निर्मल रस (विष) का पान करता है। आत्मा का चैतन्य ही उसका पात्र या पीने का साधन है। कुनन्नमा दिव्य प्रज्ञा तथा वायु गतिमय दिव्य मन है, जिससे वह ब्रह्मानन्द रस पीसा जाकर और मथा जाकर तैयार होता है।

9. स्वर्ग का यात्री हंस

सहस्रह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान् सर्वानुरस्युपदस्थ संपश्यनं याति भुवनानि विश्वा ।।

अथर्व 10.8.18, 13.2.38

"एक हंस है, उसे हरि कह कर पुकारते हैं। वह स्वर्ग की ओर उड़ रहा है। उसके पंख सहस्रों दिनों से फैले हुए हैं। वह अपनी छाती में सब देवों को निहित किए

[1]. वराहो मेघो भवति वराहार : (निरुक्त 5.4) ।

हुए सब भुवनों पर दृष्टि डालता हुआ यात्रा कर रहा है।"

यह हंस आदित्य है, रसों को हरण करने के कारण इसका नाम हरि है। यह प्रातः पूर्वाकाश में अपने नीड़ से निकल कर मध्याकाश रूप स्वर्ग की ओर उड़ना आरंभ करता है। वक्षःस्थल में स्थित समस्त देव उसकी किरणें हैं। सब भुवनों पर अनुग्रहदृष्टि रखता हुआ यह इस यात्रा में संलग्न है।

अध्यात्म में यह हंस आत्मा है। यह स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रयत्न कर रहा है, यही इसका स्वर्ग की ओर उड़ना है। उड़ान भरते हुए इसके ज्ञान और कर्म रुप पंख सदा फैले रहते हैं। इसके वक्ष में स्थित सब देव शरीरस्थ मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियां हैं। उन्हें धारण किए हुए भुवन की सब वस्तुओं को देखता-भालता हुआ यह यात्रा कर रहा है।

आकाश में हंस नाम का एक तारा-समूह भी है, जो उत्तर में वर्षा, शरद् तथा हेमन्त ऋतु में आकाश-गंगा के मध्य उड़ता हुआ स्पष्ट दिखायी देता है। इसकी पूंछ सबसे अधिक चमकीली होती है। यह अपने उर में आकाश गंगा के अन्य तारों को धारण किए हुए उड़ान भर रहा होता है।

10. समुद्र शायी सुपर्ण

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेटि स उ रेटि मातरम्॥

ऋग् 10.114.4

"एक सुपर्ण (सुन्दर पंखों वाला पक्षी या गरुड़) है। वह समुद्र के अंदर प्रविष्ट होकर इस सारे भुवन को देख रहा या प्रकाशित कर रहा है। समीप से मैंने उसे देखा है कि उसे माता चाट रही है और वह माता को चाट रहा है।"

यह मंत्र निरुक्त में मध्यम-स्थानीय देव (वायु) के पक्ष में व्याख्यात है। सायण ने इसकी वायु, प्राण और परमात्मा के पक्ष में व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। इस पहेली के प्रमुख समाधान इस प्रकार हैं:

(क) सुपर्ण वायु है। वह अंतरिक्ष रूप समुद्र में प्रविष्ट है। माता माध्यमिक वाणी (बिजली की गर्जना) है। दोनों एक दूसरे को चाट रहे हैं अर्थात् वृष्टि-कर्म में एक दूसरे पर निर्भर हैं।

(ख) सुपर्ण प्राण है, जो शरीर रूप समुद्र में प्रविष्ट है। माता वाणी है। वाणी प्राण को चाटती है तथा प्राण वाणी को चाटता है। सायण ने इसे यों स्पष्ट किया है कि स्वप्नकाल में प्राण वाणी को चाट लेता है, अतः मनुष्य बोलता नहीं। अध्ययन काल में वाणी प्राण को चाट लेती है, अतः वाग्व्यापार स्पष्ट श्रुतिगोचर होता है, प्राण-व्यापार नहीं।

(ग) सुपर्ण परमात्मा है, वह विशाल ब्रह्माण्ड रूप समुद्र में प्रविष्ट है। माता जगत्प्रपंच की उपादान-कारण भूत प्रकृति है। दोनों एक दूसरे को चाटते अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के लिए परस्पर अपेक्षा रखते हैं।

(घ) यह मंत्र यज्ञ-प्रकरण में है अतः अग्नि भी सुपर्ण है। यज्ञ में एक वेदि सुपर्णाकृति होती भी है। वह अग्नि रूप सुपर्ण यज्ञ-रूप समुद्र में प्रविष्ट है। माता यज्ञवेदि है। अग्नि तथा यज्ञवेदि दोनों परस्पर संबद्ध होने के कारण एक-दूसरे को चाट रहे हैं।

11. सरस्वति में गिरने वाली पांच नदियां

पंच नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।
सरस्वती तु पंचधा सो देशेऽभवत् सरित्॥

यजु 34.11

"पांच नदियां हैं, जिनका स्रोत या उद्गम-स्थान एक ही है। वे सरस्वती में जाकर मिलती है। संगम-स्थल पर सरस्वती पांच प्रकार की हो जाती है, अर्थात् पांचों धाराएं पृथक-पृथक दिखायी देती हैं।

अन्य भाष्यकारों ने तो सरस्वती से सिन्धु नदी का ग्रहण कर लिया है तथा उसमें मिलने वाली पांच नदियां पंजाब की पांच नदियां मान ली हैं। पहेली के रुप में स्वामी दयानन्द ने ही इसे व्याख्यात किया है।

पांच नदियां हैं पांचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होने वाली पांचज्ञान-धाराएं। इन सबका स्रोत या उद्गम-स्थल एक ही है, और वह मन है, क्योंकि बिना मन रुप माध्यम के कोई भी ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान-धारा को नहीं बहा सकती। ये पांचों ज्ञान-धाराएं सरस्वती में जा गिरती हैं। सरस्वती वाणी है। विविध ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उनका प्रतिपादन वाणी द्वारा ही किया जाता है। इसी को इस रुप में कहा गया है कि संगम-स्थल पर वह सरस्वती पांच प्रकार की हो जाती है, यतः प्रत्येक इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान को वाणी पृथक-पृथक प्रतिपादित करती है।

12. शरीर में निवास करने वाले सात ऋषि

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

यजु 34.55

"एक शरीर है, जिसमें सात ऋषि बैठे हुए हैं। वे सातों बिना प्रमाद के उसकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। जब यह शरीर सो जाता है, तब उसमें व्याप्त रहने वाले ये ऋषि अन्य लोक में चले जाते हैं। किन्तु तब भी दो देव जागते रहते हैं, जो कभी नींद नहीं लेते।"

निरुक्तकार ने इस पहेली की अधिदैवत तथा अध्यात्म एवं उवट और महीधर ने केवल अध्यात्म व्याख्या की है।

अधिदैवत में शरीर से संवत्सर (वर्ष) अभिप्रेत है। उसमें निवास करने वाले सात ऋषि सतरंगी सूर्य-रश्मियां हैं। वे सदा ही संवत्सर की रक्षा करती हैं। इस संवत्सर में 365 अहोरात्र हैं, जिनमें प्रति अहोरात्र यह रात्रि में बारह घंटे मानो सोता है, और दिन में बारह घंटे जागता है। जब यह सोने लगता है अर्थात् जब सूर्यास्त होता है, तब भू मण्डल पर विस्तीर्ण किरणें मानो सूर्य में लीन हो जाती हैं। पर उस स्वप्नावस्था में भी वायु तथा अग्नि ये दो देव जागते रहते हैं।

अध्यात्म में शरीर से मानव-देह अभिप्रेत है। इसमें अवस्थित सात ऋषि हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां, छठा मन और सातवीं बुद्धि। ये सातों ज्ञान-प्रदान द्वारा इस शरीर के रक्षक होते हैं। जब शरीर सो जाता है तब ये सातों ऋषि कार्य से उपरत हो आत्मलोक में चले जाते हैं। पर उस समय भी प्राण-अपान रूप दो देव जागते रहते हैं।

खगोल-परक व्याख्या को लें तो उत्तराकाश रूप शरीर में सप्तर्षि तारे रूप सात ऋषि स्थित हैं, पुच्छ की ओर से क्रमशः जिनके नाम मरीचि, वसिष्ठ, अंगिरा, अग्नि, पुलस्त्य, पुलह तथा क्रतु हैं। दिन में जब इनका सोने का समय होता है, ये अदृश्य हो जाते हैं, मानो दूसरे लोक में चले जाते हैं। पर उस समय भी सूर्य एवं वायु ये दो देव जागरूक रहते हैं।

13. आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली अयोध्यापुरी

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृत ।।

अथर्व 10.2.31

"एक देव-पुरी अयोध्या है, जिसमें आठ चक्र (चौराहे) तथा नौ दरवाजे हैं। उसके अंदर एक स्वर्णिम भवन (हिरण्यय कोश है) है, जो स्वर्ग के समान है और ज्योति से जगमगा रहा है।"

मानव शरीर ही यह देवपुरी अयोध्या है। यह देवपुरी इस कारण है, क्योंकि इसमें चक्षु, श्रोत्र, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा आदि देवता निवास करते है। यह अयोध्या इस कारण है, क्योंकि विरोधियों द्वारा इसे युद्ध करके परास्त करना कठिन है। इस शरीर-पुरी में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार (गुदा में), स्वाधिष्ठान (उपस्थ में), मणिपूर (नाभि में), अनाहत (हृदय में), विशुद्ध (कण्ठ में), ललित (जिह्वा में), आज्ञा (भ्रू-मध्य में) तथा सहस्रार (मस्तिष्क में) ये आठ चक्र हैं। इन्हें चक्र इस कारण कहते हैं, क्योंकि इनमें प्राण चक्रमण करता है। इनमें नौ दरवाजे हैं—दो कर्ण-छिद्र, दो नासिका-छिद्र, दो आंखों के छिद्र, एक मुख-छिद्र और दो अधोद्वार। इसमें विद्यमान स्वर्णिम भवन आनन्दमय कोश है, जो ज्योति से जगमगा रहा है। यही आत्मा रूप राजा का राजमहल है।

14. खड्डी से अनन्त वस्त्र बुनने वाली युवतियां

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम् ।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृंजाते न गमातो अन्तम् ।

अथर्व 10.7.42

"विभिन्न रूपों वाली दो युवतियां हैं, एक काली, दूसरी गोरी। वे तत्परता के साथ खड्डी से वस्त्र बुन रही हैं। वस्त्र बुनने के लिए उन्होंने छह खूंटे गाड़े हुए हैं। एक युवति तंतुओं को फैलाती है अर्थात् ताना तनती है, दूसरी बाना भरती है। न वे मध्य में कभी विराम करती हैं, न उनके कार्य का कभी अन्त होता है।"

ये दो काली-गोरी युवतियां रात्रि एवं उषा हैं, जो सृष्टि रूप वस्त्र को बुन रही हैं। चार पूर्व आदि दिशाएं, एक ऊपर की दिशा, एक नीचे की दिशा ये छह खूंटे हैं, अथवा बसन्त आदि छह ऋतुएं ही छह खूंटे हैं। उषा ताना तनती है, रात्रि बाना भरती है। उनका यह वस्त्र बुनने का कार्य निरंतर चलता रहता है।

अध्यात्म में ये युवतियां विद्या (ज्ञानवृत्ति) और अविद्या (कर्मवृत्ति) हैं। ये दोनों मिल कर जीवन की खड्डी से मनुष्य के योग-क्षेम, अभ्युदय और निःश्रेयस के वस्त्र को बुनती हैं। छह खूंटे हैं मन सहित पंच प्राण या पंच ज्ञानेन्द्रियां।

15. एक पैर से उड़ने वाला हंस

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाधः न श्वः स्यान्न रात्रि नाहः स्यान्न व्युच्छेत कदाचन ।।

अथर्व 11.4.21

"एक हंस है, जो मानसरोवर के सलिल से जब उड़ता है तब भी एक पैर को नहीं उठाता। यदि वह उसे भी उठा ले, तो न आज हो, न कल हो, न रात्रि हो, न दिन हो, न ही कभी उषा उदित हो।"

यह मन्त्र अथर्ववेद के प्राण-सूक्त का है। प्राण ही उक्त हंस है। सलिल या मानसरोवर हैं दोनों फुफ्फुस। श्वास का बाहर निकलना ही उस प्राण रूप हंस का उड़ना

है। वह उड़ते हुए एक पैर तो उठा लेता है, किन्तु एक पैर वहीं स्थित रखता है, क्योंकि श्वास द्वारा प्राण के बाहर निकलने पर भी प्राण अन्य रूप में शरीर में रहता ही है। यदि प्राण रूप हंस पूर्णतः उड़ जाए या शरीर से अपने दोनों पैर उठा ले, तब क्या परिणाम हो? शरीर मृत हो जाए और मृत शरीर के लिए आज क्या, कल क्या, दिन क्या, रात्रि क्या, उषा क्या, कुछ भी नहीं।

इस पहेली का दूसरा समाधान सूर्य-परक है। सूर्य प्राण का मुख्य स्रोत होने से प्राण-सूक्त में उसका महत्व वर्णित किया जाना असंगत नहीं है। हंस सूर्य है। सलिल या मानसरोवर आकाश है। सूर्य जब पार्थिव आकाश रूप मानसरोवर से उड़ता है अर्थात् अस्त होता है तब भी अपना एक पैर यहां से नहीं उठाता, क्योंकि पृथ्वी पर जो अग्नि, विद्युत आदि का प्रकाश सूर्यास्त के बाद रात्रि में होता है, वह सूर्य का ही एक पैर है। यदि सूर्य अस्त होकर भूमि से सर्वथा संबन्ध विच्छेद कर ले तो भूमि पर आज, कल, दिन, रात्रि, उषा कुछ भी न हो।

वैदिक पहेलियों के कुछ नमूने यहां दिए गए हैं। वेदों में ऐसी पहेलियां संख्या में बहुत अधिक हैं। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो संभवतः अन्य किसी साहित्य में इतनी अधिक पहेलियां नहीं मिलेंगी। वैदिक व्याख्याकार इन पहेलियों को अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिभूत, आदि विभिन्न क्षेत्रों में घटाते रहे हैं। वैदिक पहेलियों का प्रमुख उद्देश्य मनोरंजन न होकर ज्ञान-प्रदान ही है। असल में वेदों की विषय-प्रतिपादन-शैलियां बहुविध हैं, जिनमें से एक प्रहेलिकात्मक शैली भी है।



मेवाड़ की गौरवशालिनी परम्परा एवं राष्ट्र नायक प्रताप

--सुभाष चन्द्र सोनी

राष्ट्रनायक के रूप में राणा प्रताप का स्थान भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित है। सन् 1572 में जब प्रताप सिंहासन पर बैठा तो मेवाड़ की हालत दयनीय थी। मेवाड़ का मुकुट राणा के लिए पुष्पों की शैय्या नहीं बल्कि कण्टकाकोर्ण मार्ग था। उसके समक्ष दायित्वों का पहाड़ खड़ा था। उदयसिंह के पलायन के बाद से ही मेवाड़ की स्थिति हर प्रकार से अस्त-व्यस्त हो चली थी। अकबर का प्रताप-सूर्य इस समय चमक रहा था। भारतीय प्रदेशों में तो वह धाक जमा ही चुका था साथ ही फारस और तूरान के प्राचीन वंशों के प्रतिनिधि भी इस उदीयमान सूर्य के समक्ष अपना सिर झुकाने में स्वयं को धन्य मान रहे थे। लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत अकबर की आधीनता स्वीकार कर चुका था। कामरूप से अहमदाबाद तक और काश्मीर से ग्वालियर और खान देश तक प्रत्येक इंच भूमि पर बादशाह का अधिकार था। राजस्थान में मेवाड़ के प्रतापसिंह, मारवाड़ नरेश चन्द्रसेन तथा सिरोही के राजा सुरतान के अतिरिक्त सभी एक के बाद एक बादशाह के आगे घुटने टेक चुके थे।

अकबर की अधीनता मानने वाले इन राजाओं को यद्यपि बड़े-बड़े मनसब प्राप्त हुए थे किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा निश्चित ही गिर गई थी। अधीनस्थ राजाओं के लिए बादशाह के दरबार में उपस्थित होना तथा शाही सरकार को सैनिक सहायता प्रदान करना अनिवार्य था। यद्यपि अधीनस्थ राजाओं के राज्यों की सीमायें बढ़ गई थीं किन्तु वास्तव में वे बादशाह के अधीनस्थ वंश परंपरागत सामन्त जैसी स्थिति में पहुंच चुके थे। अकबर इन राजाओं को दूरस्थ प्रदेशों में सेना नायक बनाकर भेजा करता था जिससे उन्हे अपने कठपुतली मात्र होने का अहसास न हो। उदाहरण के लिए हामेर के राजा मानसिंह को कई बार बंगाल, बिहार व काबुल इत्यादि में विद्रोह कुचलने के बहाने भेजा गया था। वास्तव में इन राजाओं की स्थिति गुलामों जैसी हो गई थी। वे अपने राज्य में ही बहिष्कृत तुल्य बन कर रह गये थे। प्रत्येक अधीनस्थ राजा के लिए बादशाह के दरबार में स्वयं उपस्थित होना या अपने ज्येष्ठ पुत्र को भेजना अनिवार्य था। नवीन उत्तराधिकारी को बादशाह की शाही सनद (आज्ञा) लेनी आवश्यक थी। अकबर को किसी भी नये राजा की भूमि में कटौती या बढ़ोतरी का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार इन अधीनस्थ राजाओं का अकबर ही नियमक था। ये राजा बादशाह के हाथों खिलौने से अधिक कुछ न थे। 1572 में उदाहरणार्थ बादशाह ने जोधपुर नरेश उदयसिंह की मृत्यु के बाद उसके बड़े पुत्र के स्थान पर उसके छठे पुत्र को सिंहासन पर मनोनीत किया था जो भारतीय परम्परा के विपरीत था।

इन सब दायित्वों के अलावा "डोले" परम्परा का सामान्य होना प्रताप जैसे राजाओं के लिए आक्रोश का प्रमुख कारण बना। आमेर, जैसलमेर और बीकानेर के राजाओं ने अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था। प्रताप जैसे कुछ राजा इस परम्परा को अपनी वंश-कीर्ति पर कलंक का टीका मानते थे। राजपूत राजाओं का करबद्ध होकर मुगल सम्राट के दरबार में खड़े रहने और मुगलशाही नगाड़ों की ध्वनि में सिर झकाना प्रताप को असह्य था।

प्रताप जैसे राष्ट्रनायक के पास मुगल सम्राट का विरोध करने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग न था। क्या प्रताप के लिए अन्य राजाओं के समान जागीर एवं राजकीय सम्मान प्राप्त करना उचित होता? क्या प्रताप अपने पुत्र को शाही दरबार में भेजकर अपने सम्मान का विक्रय कर देता? क्या बाप्पा रावल और कुम्भा का वंशज प्रताप सिंह स्वतंत्रता की प्रतिमा को मुगल दरबार में स्थापित कर उसे अपने हाथों भूलुंठित होने देता? प्रताप ऐसा नहीं कर सकता था। प्रताप भी असीमित जागीरें प्राप्त कर सकता था। प्रताप भी शाही सम्मानों की पुष्प-वृष्ठि प्राप्त कर सकता था। वह भी प्रथम कोटि का मनसबदार बन सकता था। क्या प्रताप उजड़ी हुई समृद्धिहीन मेवाड़ की विधवा धरती को परतन्त्रता के आभूषणों से सुसज्जित और अलंकृत करता? क्या प्रताप भी अन्य राजाओं के समान अकबर की चाकरी कर स्वतन्त्रता के मूल्य पर एशो-इशरत के अम्बार जुटाता? यह मूल्य बहुत मंहगा था। प्रताप के लिए अपनी धरती ही सर्वस्व थी परम्परागत गौरव एवं पूर्वजों की प्राचीन ख्याति ने उसे उन सिद्धान्तों की पालना में उन्मुख किया जो यह सिखाते थे कि सिर झुकाना वीरों का कार्य नहीं, कुटिया में रहकर भी अपनी मातृभूमि की सेवा की जा सकती है।

कुछ विद्वानों तथा इतिहासकारों का मत है कि प्रताप की नीति स्थानीय देशभक्ति से प्रेरित थी। इनके अनुसार

प्रताप ने व्यक्तिगत स्वार्थों और मिथ्यावादीकुल परम्परा का नारा लगाकर मेवाड़ को अर्थ-शताब्दी पर्यन्त एक व्यर्थहीन संघर्ष में उलझा दिया। अन्ततः मेवाड़ को अधीनता स्वीकार करनी ही पड़ी। 1613 ई० में हुआ राजपूत मुगल-समझौता यदि प्रताप के समय में सम्पन्न हो जाता तो एक ओर तो मेवाड़ दीर्घकालीन युद्ध संघर्ष की प्रसव-वेदना से बच जाता और दूसरी ओर अकबर के एक राष्ट्र के स्वप्न में भी बाधा न पड़ती। प्रताप ने अकबर के एक राजनीति एवं सांस्कृतिक अखण्ड भारत के स्वप्न के दर्पण को चकनाचूर कर राष्ट्र को भी आघात पहुंचाया और स्वयं अपने प्रदेश को भी व्यर्थ ही बरबाद किया। कुछ इतिहासकारों ने इसीलिए यहां तक कह दिया है कि राजनीतिक और सैनिक दृष्टि से प्रताप की नीति निन्दनीय एवं अप्रायोगिक थी क्योंकि उसने साधन-सम्पन्न अकबर से युद्ध करने का दुस्साहस कर मेवाड़ की पराधीनता की प्रक्रिया को केवल कुछ समय के लिए ही रोक पाया।

दूसरी ओर कुछ इतिहासकारों ने प्रताप के संघर्ष को समुचित ठहराया उनके मतानुसार साम्राज्यवादी मुगलों से अनवरत संघर्ष की नीति ही प्रताप को महान् बनाती है। राणा प्रताप की पुण्य-स्मृति उसके विशिष्ट राजपूती गुणों के कारण ही है। यह कहना गलत है कि गर्व एवं पूर्वाग्रह, परम्परा और आत्माभिमान ने सिसोदिया वंश को अकबर की नीति का विरोधी बना दिया। वास्तविक प्रश्न अधिक गहन था। वास्तविक समस्या ज्यादा गहरी थीं। प्रताप जैसा राष्ट्र-भक्त किसी साम्राज्यवादी नीति का अंग बन ही नहीं सकता था। वह अपने छोटे से प्रदेश थोड़े से चप्पे में स्वतंत्र रहने मात्र में संतुष्ट था। गुलामी या पराधीनता को वह स्वीकार कर ही नहीं सकता था। प्रताप की दृष्टि में अकबर की नीति विस्तारवादिनी एवं साम्राज्यवादिनी थी, स्वार्थ भावना से प्रेरित थी जिसका लक्ष्य था साम्राज्यवाद की स्थापना, जिसका मूल मन्त्र था स्वतन्त्र राज्यों को पद दलित करना, जिसका उद्देश्य था भ्रातृत्व के नाम पर छोटे-छोटे राजाओं को उपयोगी यन्त्र के रूप में इस्तेमाल करना। प्रताप ने इसी साम्राज्यवादी लिप्सा-वृत्ति का विरोध किया।

यह भी कहा गया है कि बादशाह के लिए इतने विशाल भू-भाग पर अधिकार होने पर भी मेवाड़ के छोटे से चप्पे पर अधिकार जमाने की जिद की आखिर जरूरत क्या थी। वास्तविकता यह है कि मुगल साम्राज्यवाद, बादशाह के पश्चात् एक शताब्दी से भी अधिक प्रवर्तित न रह सका। जबकि यह ऐतिहासिक विडम्बना है कि अकबर मृत्यु-प्रयन्त मेवाड़ को अधीन न बना सका। उदयसिंह की मृत्यु के समय अकबर का केवल चित्तौड़ और माण्डलगढ़ के प्रदेश पर अधिकार था और प्रताप की मृत्यु के समय भी इन्हीं दो किलों पर मुगलों का अधिकार रह गया था शेष प्रदेश प्रताप ने अपने पुनः प्राप्त कर लिये थे। तो फिर 25 वर्षीय संघर्ष के बाद आखिरकार अकबर को क्या प्राप्ति या उपलब्धि हुई। इसका उत्तर है मात्र अपमान, असफलता और ग्लानि। यह इतिहास का दिलचस्प तथ्य है कि सारे राज्य प्रताप के चतुर्थांश शताब्दी के दीर्घकालीन संघर्ष में अकबर कोई चामत्कारिक सफलता प्राप्त नहीं कर सका। इतिहास मूक उपलब्धियों का आंकलन सफलता के आधारों पर होता है। सफलता की कसौटी पर इसे अकबर की नैतिक पराजय और प्रताप की महत्तम सफलता ही कहा जायगा। यही कारण है कि मेवाड़ की धरती इतिहास एवं गाथाओं में प्रशंसनीय हो गई तथा चित्तौड़ 16वीं शताब्दी का राजनीतिक केन्द्र बिन्दु बन गया।

अकबर और प्रताप का युद्ध दो व्यक्तियों के मध्य प्रवर्तित आदर्शों का संघर्ष था। एक स्वातन्त्र्य हेतु प्राणों का उत्सर्ग करने को कटिबद्ध था तो दूसरा उसे झुकाने को कृत संकल्प। संघर्ष का कटु परिणाम सुनिश्चित था। साधनाभाव में भी प्रताप शत्रु की अपरमित धन बल-शक्ति से जा टकराया। यही गुण प्रताप को महान् बनाता है। साम्राज्यवाद के सघनान्धकार में भी प्रताप ने प्रतापमयी ज्योति को प्रज्वलित रखा तथा भारत की महत्तम शक्ति को सफल चुनौती देने का सामर्थ्य रखा। राणा सांगा के अतिरिक्त अन्य कोई राजपूत नहीं जिसे इतना सम्मान और श्रद्धा प्राप्त हुई हो।

प्रताप उन वीर पुरुषों में था जिसने विपत्तियों को सहर्ष गले लगाया, मुसीबतों का हंसते-हंसते आलिंगन किया। प्रताप ने गुरिल्ला युद्ध अपनाकर शिवाजी का मार्ग प्रशस्त किया। इससे पूर्व राजपूत युद्ध में मृत्यु या विजय में से एक का वरण करते थे किन्तु प्रताप ने नवीन आक्रमण तथा मोर्चों की संस्थापना हेतु विपत्ति में पलायन कर कूटनीतिक पद-क्रम उठाकर राजपूतों की प्राचीन युद्ध-विषयक धारा में असाधारण परिवर्तन उत्पन्न किया जिसका बाद में राष्ट्रनायक शिवाजी और रणजीत सिंह जैसे राजाओं ने अनुसरण किया।

प्रताप नैपोलियन के समान एक संगठनकर्त्ता भी था। नेपोलियन के समान प्रताप ने भी मुगलों के विरुद्ध मोर्चे बनाये। प्राचीन परम्परागत बैर को भुलाकर मारवाड़ नरेश चन्द्रसैन से मेल स्थापित कर उसने कूटनीति के नये आयाम प्रदर्शित किये। सिरोही, डूंगरपुर, बूंदी और रणथम्भौर के राज्यों का संघ बनाकर प्रताप ने अकबर के विरुद्ध नये फ्रन्ट स्थापित किये। जैसे ही अकबर एक संघ तोड़ता प्रताप दूसरा बना लेता। अमरसर काव्य में प्रताप की एक सफल शासक के रूप में प्रशंसा की गयी है। यशवर्मन् के अनुसार प्रताप का जीवन साधारण था, पराक्रम असीमित था तथा वह उदार हृदय एवं कार्यक्षम व्यक्ति था। प्रताप असहिष्णु न था और न ही मुस्लिमों से उसका कोई बैर था। प्रताप के अनेक सेनानायक मुस्लिम थे। हाकिम सूर खां उसकी सेना में उच्च पद पर था। हल्दी घाटी का युद्ध कोई धर्म युद्ध न था। प्रताप स्त्रियों का आदर करता था। राजप्रशस्ती के लेखक के अनुसार खानखाना के अन्तपुर की स्त्रियां जब एक बार

अमर सिंह द्वारा पकड़ ली गयीं तो प्रताप ने उन्हें सादर लौटा दिया । प्रताप छद्म-विरोधी था । नेणसी बतलाता है कि उसने मोमेला नामक गांव में शिविर लगाये मानसिंह को पकड़ने से इन्कार कर दिया था जबकि यह कार्य वह सरलता से सम्पन्न कर सकता था । वह शरणागत की रक्षा करता था । ग्वालियर नरेश के पुत्र रामशाह की उसने मुगलों से रक्षा की थी । रामशाह मुगलों की सेना में रह चुका था ।

राष्ट्रनायक के रूप में प्रताप का स्थान भारत के इतिहास में अग्रगण्य है । हल्दीघाटी और मेवाड़ की प्रत्येक घाटी उसके अस्तित्व से पवित्र हो गयी है । लोग कठिनाइयों से डरते हों किन्तु प्रताप उन्हें आमन्त्रित करता था । ऐश्वर्य और विलास क्षत्रियों का भूषण रहा है किन्तु प्रताप ने उसे तृणवत् समझा । परिणाम हुआ कि अरावली का चप्पा-चप्पा उसके शौर्य से पवित्र हो गया । कहीं उसकी वीरतापूर्ण विजय से तो कहीं पराजय से । प्रताप की गाथा पर कोई भी व्यक्ति और देश गर्व कर सकता है । प्रताप की कालजयी कीर्ति की आभा समय के साथ घटी नहीं अपितु बढ़ी ही है । मुगल साम्राज्य में डूबता गया । अन्ततः वह साम्राज्य अन्तर्धान हो गया । उसका नामो निशान मिट गया । उनके विशाल प्रासाद, आगरा और दिल्ली के विशाल भवन और दरों दीवार आज सूने हैं । जो लोग उस महान आत्मा प्रताप को बन्दी बनाये गये थे उनका नाम इतिहास के पृष्ठों में धुंधला हो चुका है । प्रताप का नाम आज की स्वतन्त्रता के रक्षकों के लिए दिन में आशा का मेघ व रात्रि में प्रकाश स्तम्भ है । प्रताप कीर्ति-लता प्रत्येक घाटी और प्रत्येक राजपूत के हृदय में अंकित है और बहुत से विजेता के हृदय में समाविष्ट है । उनका स्मरण आते ही ऐतिहासिक कथाओं के गायक चित्तौड़ के पतन की याद करते हैं । तथा कहते हैं कि प्रताप के बाद इस नगरी का सौन्दर्य नष्ट हो गया था तथा यह विधवा हो गयी । "अकबर की उपलब्धियों से चौंधिये हुए इतिहासकार उसके वीर शत्रुओं की सहानुभूति में एक भी शब्द नहीं लिखते ।" वे उन स्वाधीनता सेनानियों को भूल जाते हैं जिनकी विपत्तियों के सोपानों पर ही उसकी कीर्ति पताका में नभ-मण्डल में मण्डित हुई थी । "वे स्त्री और पुरुष भी स्मरणीय हैं जो बरबाद हो गये । वे विजेताओं से भी अधिक महान हैं ।" प्रताप के बारे में सही ही कहा गया है :—

"अकबर जासी आप दिल्ली पासी दूसरा,
पुन रासी प्रताप सुजस न जासी सूरमा ।।"



अनर्थ

फफकते गर्म शोले
नथुनों से निकलते

विस्फारित रक्तिम नेत्र
आग उगलते

खोपड़ी का अदृश्य कम्प्यूटर
विचारों के उहापोह में
घूमता चक्र सा

धड़कनों की गति बढ़ती ही जाती
बैठा वैद्य नब्ज़ पकड़े

मगर सब दवा व्यर्थ
टैस्टों का निकला न अर्थ

सह न पाया

केवल अनर्थ, केवल अनर्थ

उषा गोपाल



राजस्थान में पड़ गायन

—प्रभात कुमार सिंघल

उस रोज मैं और धन्ना लाल सुमन चले जा रहे थे लोक कलाकारों को खोजने के लिए मौसम सुहावना था, खेतों में खड़ी गेहूं की फसल लहलहा रही थी, हल्की सर्दी की धूप में गेहूं की सुनहरी वालियां बड़ी भली लग रहीं थीं··· लोक कलाकारों से मिलने का उद्देश्य था राजस्थान दिसव पर उन्हें एवं उनकी कला को शहर में प्रस्तुत करना—कोटा शहर से लगभग 70 किलोमीटर दूर पार्वती नदी के सहारे सहारे दूर दराज एक टीले पर बसा गांव "कांगला बमोरी" है इस गांव के नजदीक पहुंच टीले के सामने सड़क पर हमारी जीप रुक गई और धन्ना लाल जिसकी पहुंच लोक कलाकारों तक है और वह इसी अंचल का रहने वाला है हमें ले गया टीले के सामने सड़क के उस पार जहां एक झोपड़ी बनी थी घास-फूंस की। दो-तीन बच्चे नंग-धड़ंग खेल रहे थे···· संध्या का समय हो आया था···। वहीं पर थे गांव की वेश भूषा में वो लोक कलाकार जिनकी हमें तलाश थी··· और इस तलाश को आसान बनाया था धन्ना लाल ने।···

हमको देखते ही उन्होंने पहले धन्ना लाल को राम राम किया और मेरा परिचय जान बड़ी आत्मीयता से एक कपड़ा बिछा कर वह हमसे बैठने का आग्रह करने लगा, लोक कलाकार की आत्मीयता उसकी नजरों व हाव भाव से ही टपक रही थी····

अपने परिचय में उसने अपना नाम धन्ना लाल भोपा तथा पत्नी का छोटी बाई बताया। एक अन्य भोपे ने अपना नाम हजारी लाल एवं पत्नी का नाम कन्या बाई बताया। ये लोक कलाकार पीढ़ियों से पड़ बांचने व गाने का कार्य कर लोगों का मनोरंजन करते आ रहे हैं। ये पाबू जी एवं देवसारायण की पड़ बांचते हैं इनकी बहु व बेटे भी यहीं कार्य करते हैं।

हमारे आग्रह पर धन्ना लाल भोपा और हजारी लाल ने पड़ गायन प्रस्तुत करना स्वीकार किया, पड़ को खोला, रावण हत्था कसा, स्वर गूंज उठे साथ ही महिला स्वर का जादू स्वरों को ऊंचा नीचा खींचना, एकाएक तोड़ देना, कुल मिलाकर संगीतमय बातावरण उस सुनसान वादी में गूंज उठा··· लोक कलाकारों की मस्ती देखते ही बनती थी···

हजारी लाल ने बताया पहले पाबू जी की पड़, देवनारायण अथवा बगडावत्तों की पड़ चलती थी परन्तु अब राम देव की पड़ बचती है।

प्राचीन समय की स्मृतियां ताजा कर हजारी लाल बताता है, "रात के अंधेरे में तेल का बड़ा दीपक जलाते थे, हजारी रावणहत्थे का तार कसता था, पावों में घुंघरू को सुन ग्रामीणों की भीड़ उमड़ पड़ती थी, श्रद्धा, विश्वास और मनोरंजन की त्रिवेणी बह निकलती थी, स्वरों का जादू और पैरों की थिरकम के सम्मोहन से लोग चढ़ावा चढ़ाते और आनन्द की गंगा में डूब जाया करते थे।"

सांस लेकर वह पुनः बताता है, "राजाओं का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था, रोजी रोटी की चिन्ता से दूर जन जन का मनोरंजन कर इतना पा लेते थे कि गुजर बसर हो जाता था, और आज, फिल्म और रेडियों आ गया-म्हां की तो कोई सुणे ही कोनी"।

ऐसा लगता था मानो हर कलाकार की व्यथा हजारी के मुंह से फूट पड़ रही हो, जीवन की उदासीनता और आर्थिक अभाव का अहसास चेहरे पर स्पष्ट झलकता था, प्रश्न इसका नहीं है कि हजारी लाल का जीवन यापन नहीं होता, मूल बात यह है कि हजारी लाल लोक कलाकार है, लोक कलाकार की दुर्दशा लोककला की दुर्दशा है।

राजस्थान की लोक कलायें विविधता लिए इतनी समृद्ध हैं कि जन जीवन को अलग करके देखा जाये तो केवल नीरसता ही नजर आती है। संरक्षण के अभाव में, गांवों में बढ़ते सिनेमा, रेडियो व दूरदर्शन का प्रभाव इन लोक कलाओं पर भी पड़ रहा है, और ये जो जन जीवन का मनोरंजन करने का सबल माध्यम थी उससे दूर होती जा रहीं हैं। लोक कलाकार आज मजदूरी करने तक को विवश हैं ऐसे कलागत मूल्यों को कैसे बचाये रखा जा सकता है?

पर्यटन या अन्य माध्यमों से अथवा कुछ समर्पित व्यक्तियों के माध्यम से लोक कलाओं के संरक्षण एवं संवर्धन का कार्य आवश्यक हो रहा है और सराहनीय है, परन्तु अभी इस संदर्भ में बहुत कुछ करने की गुंजाइश है।

पड़ या फड़ चित्र शैली राजस्थान की विविध चित्र शलियों में महत्वपूर्ण है, यह लोक शैली अपनी कथा शिल्प एवं रंग संयोजन के कारण लोकप्रिय हो रहीं हैं :

आजकल राजस्थान में बनने वाली पड़ों में देवनारायण पाबूजी, माता जी, रामधड़ा, कृष्ण धड़ा एवं रामदेव जी की पड़ मुख्य हैं।

देव नारायण की पड़ देव उठने (देवोत्थान एकादशी) से देव सोने (देवशयनी एकादशी) तक गाई जाती है, होली से शीतलाष्टमी तक पड़ नहीं बचती शेष पड़ें भी होली के दिनों को छोड़ कर वर्ष भर बचतीं हैं।

पश्चिमी राजस्थान में, दक्षिण में जालोर तक, पूर्व में में सीकर, मालवा, गुजरात व पाकिस्तान में भी पाबूजी की पड़ लोक कलाकार बाचते हैं, बाडमेर में भील लोग पाबू जी के भोपे होते हैं मेवाड़ में स्त्रियां पड़ के पीछे खड़ी रह कर गीत गाती हैं।

देव नारायण की पड़ 24 हाथ लंबा होती है जिसे बनाने में एक महीना लगता है पाबूजी की पड़ को बनाने में 10 से 12 दिन लगते हैं। पड़ों में हल्का पीला, सिन्दुरी गहरा पीला, हरा, भूरा, लाल, काला एवं आसमानी रंगों का प्रयोग किया जाता है।

पड़ फैलाकर, भोपा कथा के साथ छड़ी से चित्रों को इंगित करता है, चित्र भी विशेष क्रम में इधर-उधर होते हैं, वहीं भोपा पूर्ण निपुण माना जाता है जो वातावरण को नाटकीय व रोचक बनाने में सफल होता है।

बदले दौर में आवश्यकता है इन लोक कलाकारों एवं लोक कला को जीवित रखने के लिए सामाजिक मनोरंजन एवं सामाजिक जरूरतों से जोड़ना होगा, यह भोपा, रागरंग, लोक वाद्य, नृत्य आदि के साथ राजस्थान की ग्रामीण संवेदना से जुड़ा है, आवश्यकता है ठोस धरातल प्रदान करने की।



भीलों की लोकशैली-मांडणें

—रामकुमार

रंगों और रेखाओं के माध्यम से अपने भीतर के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति मानव में आदि काल से चली आई है। प्रागैतिहासिक काल में जबकि न रंग थे, न कूची, न कागज और न कोई अन्य साधन, उस समय भी कन्दराओं और गुफाओं में आदि मानव ने पाषाणों पर रेखाएं और रंग अंकित किये। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति भित्ति-चित्रों, लोक शैलियों, मांडणों आदि रंग-रूप ग्रहण करती गई।

लोक शैलियों की समृद्ध भारतीय परम्परा में राजस्थान के कुशलगढ़ क्षेत्र के भीलों की लोकशैली एक उत्कृष्ट कला-परम्परा का प्रतीक है। इस शैली को विवाह परम्परा से जोड़ा गया है। अतः जब तक विवाह की यह पद्धति चलेगी, भीलों की उक्त शैली निरन्तर जीवन्त रहेगी। लोक कला, वास्तव में भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं में जीवन के रस्मों-रिवाज और त्यौहारों से जुड़ी हुई जीवन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता मानी गई है। यही कारण है कि युगों से विविध रंग-शैलियां बराबर अपने अस्तित्व और सौंदर्य को कायम रखने में समर्थ हुई हैं। राजस्थान के बनवासी भीलों ने अपनी देवी भरदी माता से इस शैली को जोड़ा है। यह मान्यता है कि उनकी आराध्य देवी विवाहित युगलों की आकांक्षायें पूर्ण करती है। अतः भील महिलाएं दीवारों पर लोक-चित्र बनवाकर नव-विवाहित युगल के सुखी एवं समृद्ध जीवन की भरदी माता से प्रार्थना करती हैं।

विवाह के अवसर पर इस लोककला का अंकन किसी भी भील परिवार का दामाद घर की पूर्वी दीवार पर करता है। चावल के "मांड" और पीली हल्दी के साथ लाल, हरा, पीला और नीला रंग इन चित्रों को बनाने में प्रयुक्त किया जाता है। इन लोकमांडणों की आकृतियों में प्रमुख रूप से मोर आदि पक्षियों, सूर्य, चन्द्र, वृक्ष, बेल-बूटे एवं पत्तियों को चित्रित किया जाता है। लकड़ी का आसन जिसे "बाजोट" कहते हैं, का भी अंकन इन चित्रों में होता है। "बना-बनी" अर्थात दुल्हा-दुल्हन भी चित्रित किए जाते हैं। इन विषयों पर मांडणें बनाना विवाहादि अवसरों एवं शुभ कार्यों के समय मंगलकारी माना जाता है।

भीलों के इन मांडणों में सबसे ऊपर के हिस्से में उड़ते हुए पक्षियों या मोर का चित्र बनाया जाता है। चित्राकृति के मध्य भाग में "बना-बनी" की आकृतियां बनाई जाती हैं। इन मांडणों को ही कुल-देवी या आराध्य देवी के रूप में पूजा जाता है। भील परिवार में कन्या के विवाह के मुहूर्त से कुछ दिन पूर्व ही इस प्रकार भरदी माता के ये मांडणें बनाये जाते हैं। मदिरा, चावल आदि एक बर्तन में रखकर भरदी माता को चढ़ाये जाते हैं।

विवाह के दिन नवविवाहित युगल को भरदी माता अर्थात मांडणों के समक्ष लाया जाता है। उसके बाद एक विचित्र रस्म पूरी की जाती है। एक पानी का कीड़ा जिसे "केकड़ा" कहते हैं उसे लाकर मांडणों के सामने छोड़ दिया जाता है। यदि केकड़ा चावल का दाना उठा लेता है तो यह मान लिया जाता है कि मांडणों अर्थात माता ने नव विवाहित दम्पत्ति को आर्शीवाद प्रदान कर दिया है। यदि टूटा हुआ चावल का दाना, केकड़ा उठा लेता है तो इसे विवाहित जीवन में परेशानी का सूचक माना जाता है। इसके पश्चात प्रथम बार जब दामाद भील परिवार में आता है तो नारियल, मदिरा की बोतल और पकवान (चूर्मा) चढ़ाने का भी रिवाज है।

इस प्रकार अनेक मान्यताओं और रीति-रिवाजों से जुड़ी लोकशैलियों में भीलों द्वारा घरों में दीवारों पर चित्रित किये जाने वाले इन मांडणों की शैली भी लोकरंग की एक अनुपम छटा का परिचय देती है। प्राकृतिक दृश्य, पक्षी, सूरज, चांद आदि सृष्टि को सौंदर्य प्रदान करते हैं। सभ्यता के प्रारम्भ से अब तक मनुष्य को सुन्दर पर्यावरण प्रदान करने वाली प्रकृति का रंगों और रेखाओं के माध्यम से चित्रण करने वाले भीलों के मांडणों की लोक शैली हमारी समृद्ध लोक कला शैलियों की एक निधि है।



राजस्थानी संस्कृति का एक अछूता पक्ष "ला"

—जहूरखां मेहर

अनेक विस्मयकारी विशिष्टताओं से जुड़ी राजस्थान की संस्कृति के शौर्य और उत्सर्ग से जुड़ी सती, साका जौहर तथा धरना जैसी बातों की इतिहासकारों, पर्यटकों और लेखकों ने व्यापक चर्चा की है, लेकिन उन बातों की ओर उनका ध्यान हीं नहीं गया, जहां स्नेह, समता, और सहयोग की भावनाओं का उत्कृष्टतम रूप आज भी प्रचलित है। दानशीलता और रक्तरंजित रणांगनों की कथाओं की आंचलिक भूमि राजस्थान में कुछ ऐसी प्रथाएं अद्यतन विद्यमान है, जो सृजन और सहकारिता के ताने बाने से बुनी है। ऐसी ही एक प्रथा है, "ला"—जो सामाजिक सहयोग की एक अप्रतिम मिसाल है।

आधुनिक सभ्यता यहां की प्राचीन संस्कृति पर अपना रंग चढ़ाने के लिए संघर्षरत है। यहां के नवयुवक भी नये रंग में रंगे जाने के लिए उतावले दिखलाई पड़ने लगे हैं। पुरानी पीढ़ी अभी तक ज्यों-त्यों अनेक पुरानी प्रथाओं को जीवित रखे हुए है। एक दो पीढ़ी बाद इन गर्व योग्य प्रथाओं के अवशेष भी मुश्किल से मिल सकेंगे।

शेष संसार से अलग-थलग छोटे-छोटे गांवों में बसे लोग केवल अपने ही बल पर जीवन यापन के प्रयत्नों में संलग्न रहते हैं। झुलसने वाली लू काली-पीली आंधियों, वातचक्रों, रेतीले टीलों अथवा छोटी-छोटी पहाड़ियों के आंचल में बसे नन्हें-नन्हें गांवों के निवासियों के सम्मुख अपने बल-बूते पर निर्वाह] करने के लिए अतिरिक्त अन्य चारा ही क्या है?

भूगोल ने एक ओर इन ग्रामीणों को अलग-थलग रखा जो दूसरी ओर मरुस्थल की कठिनाइयों ने यहां के लोगों को स्नेह, अपनत्व और एकता के अटूट बंधन में बांध दिया। मरुस्थल के सुदुर ग्रामीण आंचलों में बसे हुए लोग एक दूसरे के सहयोग के लिए हर क्षण तत्पर रहते हैं। गांव में कोई नया झोपड़ा बनने लगता है तो हर्षोल्लास से अन्य ग्रामीण सहयोग करते हैं। कोई झोपड़ी को लीपने (दड़बावण) में हाथ बंटाता है तो कोई छत की बल्लियां व्यवस्थित करने (किड़ावण) में अपनी क्षमतानुसार जुट जाते हैं। शहरों में नवनिर्माण को ईर्ष्यावश पड़ौसी अपनी तिकड़म्बाजी से "स्टे" लाकर भले ही रोक दें किन्तु ग्रोमीणों में आज तक आश्चर्यजनक अपनत्व और प्रेमभाव मौजूद है।

इस निबंध में राजस्थानी समाज की एक अद्वितीय परम्परा "ला" का विवेचन विश्लेषण करने का यत्न किया गया है। इस गौरवास्पद परम्परा को राजस्थान में कहीं "ला" कहीं "ल्हास" तो कहीं कहीं "लाह" नाम से सम्बोधित किया जाता है। लगभग समस्त रेतीले पश्चिमी मरुस्थल में से "ला" नाम से ही पहिचाना जाता है। शब्दों की व्युत्पत्ति संबंधी जानकारों की मान्यता है कि "ला" शब्द मूल रूप से बना है। शुष्क मरुस्थल के वासियों के गले की कम्पन्न विस्तार की झिल्ली मोटी हो जाने से उनकी जिह्वा शब्दों का जल्दी-जल्दी उच्चारण नहीं कर पाती है। अतः कई शब्दों के कुछ अक्षर कम हो जाते हैं अथवा कठिनता से उच्चारित होने वाले अक्षरों के स्थान पर सहज अक्षर स्वतः जुड़ जाते हैं। लाभ से लाह शब्द बना और शनैः शनैः "ह" गायब होकर केवल "ला" शेष बच गया। संक्षेप में समाज के सहयोग से खेती करना "ला" का अर्थ माना जा सकता है। टीवों के बीच बसे हुए गांवों के लोगों की आर्थिक स्थिति मजदूर रखने लायक नहीं होती और न ही मजदूर उपलब्ध होते हैं। खेती-बाड़ी से जुड़ा कुछ न कुछ काम हर एक के होता है। यदि परिवार में परिश्रम करने योग्य अधिक सदस्य न हों तो कार्य को समय पर कैसे पूरा किया जाए। कृषि कार्य यदि ठीक समय पर सम्पन्न न किया जाए तो हानि की निश्चित सम्भावना रहती है। ऐसे समय "ला" का आयोजन किया जाता है। जिस व्यक्ति के यहां उसकी व्यक्तिगत सामर्थ्य से अधिक कार्य होता है। वह गांव के प्रत्येक घर में पहुंच कर सूचित करता है कि अमुक दिन उसके खेत में "ला" का आयोजन है। निमंत्रण कर्त्ता यह भी सूचित करता है कि काम किस प्रकृति का है, जैसे अनाज की बालियां काटनी है, निदान करना है, सूड़ करना है, लाटा लेना है, खारीया काटना है या नैणा एकत्रित करना है। निश्चित दिन पौ फटे ही गांव के समस्त परिश्रम करने योग्य पुरुष "ला" के निर्धारित स्थान पर पहुंच जाते हैं। सब लोग प्रातः भोजन अपने घर से करने के पश्चात मेजबान के खेत में पहुंचते हैं। कार्य की प्रकृति की पूर्व जानकारी होने से प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ आवश्यक कृषि उपकरण ले जाता है। निदान के लिए खई, झाड़ झंखाड़, साफ करने हेतु सुरड़िया, बालें काटने के लिए हंसिया (दातरड़ी) मोठ मूंग के नेणा

एकत्रित करने हेतु चौकणी, खारिया काटने के लिए दातरा और लाटे (गाणौ) हेतु ऊंट अथवा बैल आदि साधन अपने साथ लाता है । "ला" में सम्मिलत होने वाला कृषक स्वयं-सेवक पश्चिमी राजस्थान में "लाया" और शेष प्रदेश में "ल्हनसिया" कहा जाता है।

युद्ध में हरावल के सूरमां जैसे शत्रुओं पर टूट पड़ते हैं वैसे ही "लाये" गन्तव्य स्थान पर पहुंचते ही काम पर धावा बोल देते हैं । "लाये" आलस्य कभी नहीं करते । कहावत प्रसिद्ध है "ल्हासिया बड़िये सू बिवणो कारज साजे" अर्थात स्वयंसेवक मजदूर से दुगुना काम करता है । ठीक समय पर पूरा किया जा सके इसलिए कार्य को प्रत्येक "लाये" के लिए बराबर भागों में बांट दिया जाता है । जैसे यदि निदान करना है तो पन्द्रह-पन्द्रह फसल की पंक्तियां (ऊगरे) या जितने भी बराबर हों प्रत्येक लाये के सुपुर्द कर दिए जाते हैं। कार्य वितरण का एक लाभ तो यह होता है कि कोई भी आलस्य नहीं कर सकता । दूसरा कि जल्दी कार्य सम्पन्न करने के लिए "लायों" के बीच होड़ मच जाती है । लायों के बीच इस प्रतिस्पर्धा को प्रेरित कर उनके उत्साहवर्द्धन के लिए औजारों के घुंघरु बांध दिए जाते हैं । यदि धान की बालें काटनी हों तो हंसिये या निदान करना हो तो खई के घुंघरु बंध जाते हैं । एक सिट्टी खूंटने (धान की बाल काटने) के लिए तनिक झुकता हुआ लाया, सिट्टी खूंटने के साथ तनिक झटके के कारण बजते हुए घुंघरु और इसी के साथ "लाये" के मुख से एक खास लय निकलने वाले भणत (कृषि श्रमिक गीत) के बोल। पास ही किसी खेजड़ी की छाया में खड़े गांव ढोली द्वारा छेड़ी गई ढोल थाली की धमचक। इस रसीले संगीतमय वातावरण में "लाये" ऐसी तन्मयता से काम में जुटे रहते हैं कि स्वयं अपने को ही भूल जाते हैं।

दुपहर की तेज धूप निकलने तक निरन्तर काम में जुटे रहते हैं। इस बीच मेजबान सबके लिए भोजन पानी की व्यवस्था कर देता है । अधिकांशतः खाटा (कड़्ढ़ी), सोगरा, लपसी या गुड़ का हलुवा बनवाया जाता है । भोजन के बहाने लहासियों को विश्राम करने का थोड़ा अवसर भी मिल जाता है । भोजन परोसने के समय ऐसे कुछ निखट्टू भी आ पहुंचते हैं जो सामूहिक श्रम में सम्मिलित नहीं थे। यह लोग आते ही कुछ न कुछ बहाना बनाते हैं, जैसे "ला" में सम्मिलित होने की तैयारी तो रात को ही कर ली थी किन्तु ऐन वक्त पर यह हो गया था वह हो गया। इच्छा थी और मानस बना लिया था किन्तु फिर भी ठीक समय पर नहीं पहुंच पाये । इन कामचोरों को "पलाय" कहा जाता है। यह कहावत प्रचलित है "काम सरै लायां रै पांण पेट पलै पलायां रो "।

लाये तो काम पर पटकने का निश्चय कर ही आते हैं इसलिए भोजन करते ही पुनः काम पर जाते हैं । भोजन के बाद निश्चित रूप से "भणत" बोली जाती है । सुबह से ही काम करते करते दोपहर तक थकान चढ़ना स्वा-भाविक ही है, दोपहर की तेज धूप कठिनाई बढ़ा देती है और भोजन के कारण भी थोड़ा आलस्य सताने लगता है। अतः ल्हासियों को सचेत बनाये रखने का काम "भणत" करती है। "ला" के समय गाए जाने वाले कृषि संबंधी विशेष लोक गीत "भणत" कहलाते हैं। एक व्यक्ति जिसे पूरी "भणत" कंठस्थ होती है, तथा जो भणतिया कहा जाता है, काम करते करते "भणत" बोलना प्रारम्भ करता है । उसके पीछे अन्य लाये भी एक विशेष लय के साथ "भणत" बोलते हैं। भणत बोलते हुए लाये इतनी शीघ्रता से कार्य करते हैं कि देखते ही बनता है :—

भलौ जो मिलियो मेल ओ भाई
सलियो रे करणो काम ओ भाई
ओ अपणै सेणां रो है खेत भाई
सांवण बूंठा लैवे है ओ भाई
भादरवे री घोर ओ भाई
धुर में चमके आ बीज ओ भाई
धुर ने सब भरिया डैर ओ भाई
मिल ने रै सब बोलो रे भाई
जाणों रे धुरियौ ढोल ओ भाई
चांदणकी रै धट रात ओ भाई
सलिया रे करदो काम ओ भाई
हूं तो बाजरड़ी रो बीज ओ भाई
छोटे के कण रो धान ओ भाई
जूनों रे मिलियो हमें मेल ओ भाई
आंसू अै तपिया ताव (डे) ओ भाई
जोगी रे होग्या जाट अे भाई
जोगी रे बणिया जंजाल अे भाई
खंचिया रे म्हे सुरत्राण अे भाई
धूधरिया जड़ावे रे ओ भाई
घूंघर री आ झणकार ओ भाई
रमली रे मटकी रो दाव है भाई
भलै रे करजो काम ओ भाई
भलां रो है बरवाण ओ भाई
जवानी रा दिन चार ओ भाई
बुढ़ापों पण है त्यार ओ भाई
काले रे केसां काम ओ भाई
ललकारो लगावे है रे भाई
सेंढे रो सेंढाणो है रे भाई

भणत किसी भी साधारण से साधारण स्तर के व्यक्ति की समझ में आने वाले लोकगीत हैं । इनमें कृषक की भोली व निष्कपट आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है । भाइयों एकता रखो, मृदुभाषी बनो, सत्य बोलो और इसी प्रकार की अनेक सरल बातें "भणत" का विषय होती हैं। "भणत" एक

खास तरह से बोली जाती है और किसी भी श्रोता को भाव विभोर करने की क्षमता रखती है । यद्यपि भणतों में बहुत सरल सुगम बातें होती हैं किन्तु भणतें इतनी बड़ी होती हैं कि कई कई घंटों तक बोली जा सकती है । यही कारण है कि "ला" के अवसर पर भणतियों का विशेष महत्व होता है । किसी को यदि गीत-संगीत से थकान उतरनें की बात पर संदेह हो तो वह "ला" के समय प्रत्यक्ष देख सकता है । रिमझिम रिमझिम करते घुंघरु ढोल-थाली और भणतें मिल कर जादू जैसा असर डालते हैं । बिल्कुल गंवार कृषक इस गीत संगीत में ऐसा मगन-मस्त हो जाता है कि आलस्य या थकान उसके पास भी नहीं फटक पाता । आजकल तो सर्वत्र यह स्वीकारा जाता है कि हरिण जैसे जीव ही नहीं अपितु पेड़ पौधे पर भी संगीत का असर पड़ता है तब बेचारे कृषक यदि मस्त हो उठें तो क्या आश्चर्य ।

उत्साह और स्पर्धा से लाये सायंकाल तक सारा कार्य सम्पन्न कर देते हैं और रात्रि के भोजन से पूर्व अपने घर पहुंच जाते हैं । यह हुई "ला" कोई भी व्यक्ति दिन में तीन बार भोजन करता है तब अपना निजी काम करता है, किन्तु लाये प्रातः अपने घर से भोजन करके निकलते हैं व रात्रि भोजन अपने ही घर पर पहुंच कर करते हैं । बिलकुल नाम मात्र की लागत से ही सारा काम सुलझ जाता है । एकता अपनत्व और स्नेहभाव के रीति रिवाजों ने ही राजस्थानी लोगों को कठिन परिस्थितियों में सम्मिलित प्रयत्न करने की प्रेरणा और अपनी साँस्कृतिक धरोहर की रक्षार्थ सब कुछ बलिदान करने का बल प्रदान किया है ।

"ला" सम्पन्न हो जाने के बाद वृद्धजन चौपाल पर बातचीत के समय पूछते हैं कि अमुक व्यक्ति के यहां "ला" कैसी रही, कहीं "जोगियों वाली ला" तो नहीं हुई । "जोगियों वाली ला" एक कहावत बन गई है । प्रसिद्ध है कि किसी राईके (गडरिये) ने "ला" का आयोजन किया उस गांव में अधिकांश आबादी जोगियों की थी । "ला" की पूर्व संध्या को निमंत्रण मिलने पर जुलाब से पेट साफ कर खाने की तैयारी कर ली । राई के खेत गांव से चार-पांच मील दूर था । प्रातः जोगियों की टोली ने गांव से प्रस्थान किया । मार्ग में विश्राम करते करते यह लोग काफी दिन चढ़ने पर खेत पहुंचे थोड़ी देर काम का दिखावा किया, तब तक भोजन का समय हो गया । भोजन पर टूट पड़े । एक से एक सवाई खुराक का धनी । बेचारे राई के की भोजन सामग्री समाप्त हो गई । भाग दौड़ कर उसने गांव से नई सामग्री का आयोजन किया । ऐसी अव्यवस्था हुई कि गो-धूलि तक मुश्किल से भोजन संबंधी कार्यवाही पूरी हो सकी । काम करने की इच्छा तो प्रारम्भ से थी ही नहीं । इसलिए खाने के बाद अंधेरा होने का बहाना बना कर ल्हासिये नौ दो ग्यारह हो गए । बेचारा राई का बर्तन इत्यादि लेकर अर्द्धरात्रि तक मुश्किल से अपने घर पहुंचा । फिर तो यह "जोगियों वाली ला" सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई और किसी भी अव्यवस्थित ला को इसकी उपमा दी जाने लगी ।

"ला' का थोड़ा सा परिवर्तित रूप "सगाला" होती है । इस "ला" में अपने समधी के कार्य को निपटाने के लिए गांव के लोगों को सगोजी (दूसरा समधी) आमंत्रित करता है । इससे मेजबान सब ल्हासियों को अपने संबंधी की तरह समझ कर भोजन के समय विशेष खातिर करता है व आग्रहपूर्वक भोजन खिलाता है । चकाचक चूरमा, गेहूं की चपाती और अधिक मात्रा में घी इस प्रकार की "ला" के समय अवश्य परोसे जाते हैं ।

सार्वजनिक ला का आयोजन भी यदा कदा होता है । इसे "सिरोली ला" (साझे की ला) कहा जाता है । वर्षा से पूर्व गांव के सूखे तालाब की मिट्टी खोदने के लिए इस प्रकार ला का आयोजन किया जाता है । इसमें स्त्रियां व बच्चे भी सम्मिलित हो सकते हैं । इसके आयोजक गांव चौधरी कामदार, कोठारी आदि होते हैं । इनमें से जिसके पास गांव खर्च का पोता (हिसाब) होता है वह भोजन की व्यवस्था करता है ।

"ला सगाला" और साझे की ला के अतिरिक्त रावली ला, फाटी ला, हेला ला, आधी ला और पिंड बड़ी नामक अन्य लाओं का आयोजन भी होता है । वैसे तो ठाकुर बेगार आदि से अपने काम करवाया करते थे, किन्तु लोकप्रिय जमींदार बेगार की अपेक्षा "ला" का आश्रय लेते थे । रावली ला (ठाकुर की ला) में गांव ढोली, नाई आदि विशेष उत्साह से काम करते थे । इस ला में काम सम्पन्न होने के बाद शराब की विशेष महफिल जमती थी । लाओं में से पीने के शौकीन काम पूरा हो जाने पर, पीछे रुक जाते और मुनहारों के साथ पीते पिलाते ।

फाटी ला (अश्लील) केवल उस अवस्था में होती है जबकि खेत गांव से काफी दूर स्थित होता व थोड़ा सा काम निपटाना होता । इस ला में केवल युवा ल्हासिये आमंत्रित किए जाते वहां कुछ अश्लील भणतें बोली जातीं । भेड़ों की संख्या अधिक होने पर उनकी जट (ऊन) काटने के लिए आधी ला का आयोजन किया जाता । भेड़ों की ऊन उतारना प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं । यह तकनीकी का काम माना जाता है और इस काम में पटु लोगों को ही आमंत्रित किया जाता है । उनके द्वारा किए गए काम का वास्तविक मोल तो बहुत अधिक होता है किन्तु प्रत्येक लाये को एक भेड़ की ऊन उपहार स्वरूप दी जाती है । ऊंटों की जट उतारने के लिए भी आधी ला आयोजित की जाती है । बकरे-बकरियों के बाल काटना सरल कार्य है अतः इनकी संख्या चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हो "ला" का आयोजन वर्जित है । इसका सीधा अर्थ यह है कि हर कठिन कार्य में सहयोग के लिए सदैव समाज तत्पर है किन्तु शोषण की छूट नहीं है ।

मरुस्थल मनुष्य के जीवन निर्वाह में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न करता है इसलिए वहां के निवासियों में अपनत्व व सहयोग की भावना भी अपेक्षाकृत अधिक होती है । ल्हासियों को एक वक्त का भोजन खिलाने योग्य आर्थिक क्षमता भी मोथों (मरुवासियों) की नहीं होती इसलिए हेला ला होती है । आमंत्रणकर्त्ता ला के लिए केवल आवाज "हेला" देता है अपनी अपनी रोटी पानी की व्यवस्था लाये स्वयं करते हैं। अधिकांश अपने साथ कपड़े में लपेट कर सोगरे (बाजरे की रोटी) और प्याज ले जाते हैं । हेला ला के समान ही पिंड बड़ी होती है । हेला ला का मेजबान जब उसके द्वारा आमंत्रित ल्हासियों में से कोई ला आयोजित करता है तब तक उसके यहां पहुंच कर अन्य लाओं के साथ काम करता है । पिंड बड़ी का मेजबान अपने यहां आये हुए लायों किसी एक के यहां किसी भी सामान्य दिन काम करके अपने ऊपर चढ़े अहसान को उतार देता है ।

राजस्थान की सांस्कृतिक छवि अद्वितीय है। जैम्स टॉड जैसे विद्वान को यहां की धरती के कण कण पर थरमोपोली जैसे युद्ध और घर घर में लियोनीडाज जैसे योद्धा दिखलाई पड़े। तेस्सीतोरी और ग्रियर्सन राजस्थान की साहित्य सम्पदा से चकित हो गए। किसी को राजस्थान भक्ति रस में डूबा हुआ दिखलाई पड़ता है। काव्य तो यहां की रग रग में हिलोरे ले रहा है। अनपढ़ ग्रामीण बच्चों तक को कविताओं और कायमय पहेलियों का गजब चाव, खेल कूद से सम्बन्धित असंख्य कहावतों तथा कृषि श्रमिकों के गीतों से यह इन्द्रधनुषी संस्कृति गीत संगीत से झंकृत मीठी मांड राग सी लगती है ।

भणत कृष्ण वेला का लोकगीत है खसी या हंसिये की घुंघरु केवल संगीत का आनन्द लेने की दृष्टि से ही नहीं बांधे जाते हैं । इनसे शीघ्रता से कार्य सम्पन्न करने की होड़ लग जाती है । जो ल्हासिया सब के पीछे अपने हिस्से का काम समाप्त करता है उसके कृषि औजार के घुंघरू खोल दिए जाते हैं । निठल्लेपन की छाप लग जाती है और उसे यार दोस्तों के व्यंग सहन करने पड़ते हैं । भविष्य में होने वाली "ला" के समय इस निठल्ले लायें के औजार के घुंघरु नहीं बांधे जाते । यदि इस बार वह सबसे पीछे नहीं रहता तो उसे खोए हुए अधिकार पुनः मिल जाते हैं और जो सबसे पीछे रहता है उसे व्यंग बाणों का शिकार होना पड़ता है । जोधपुर के पास "भाखर वाले गांव" में इस सम्बन्ध में एक अत्यंत ही रोचक घटना हुई । गांव में एक चौधरी, बहुत बलवान। "ला" में यदि थोड़ा देरी से पहुंचे तब भी अपना काम दूसरों से पूर्व सम्पन्न करने में समर्थ । अनेक बार देरी से पहुंचने पर भी उसने कभी अपने औजार के घुंघरू न खुलने दिये । एक "ला" के अवसर पर किसी अत्यावश्यक निजी कार्य के कारण चौधरी जब विलम्ब से पहुंचा तब तक अधिकांश लाओं ने अपना काम पूरा कर दिया । कईयों का काम अंतिम छोर तक पहुंच चुका था केवल एक व्यक्ति जो शरीर से थोड़ा कमजोर था उसका लगभग आधा कार्य शेष था । गन्तव्य स्थान पर पहुंचते ही चौधरी शीघ्रता से काम करने लगा और कुछ ही देर में सबसे पीछे वाले व्यक्ति के बराबर पहुंच गया । संयोग से उस दुर्बल व्यक्ति की पत्नी किसी विशेष काम से वहां आई । स्त्री ने देखा कि उसके पति की कार्य करने की गति काफी धीमी थी । निश्चित था कि सारे गांव के लोगों के सामने उसके पति के औजार के घुंघरू खोले जाएंगे । आव देखा न ताव, उसने अपने पति के हाथ से हंसिया छीना और धान की बालें इतनी फुर्ती से काटने लगी कि देखने वाले दंग रह गए । अन्य लोग तो अपना काम समाप्त कर ही चुके थे, चौधरी को औजार के घुंघरू खुलवाने का दंड भुगतना पड़ा। सामान्यता स्त्रियां "ला" में सम्मिलित नहीं होती । जिस दिन गांव का सबसे करारा व्यक्ति एक स्त्री से मात खा गया । उस दिन से भाखर वाले गांव में औजार के घुंघरू बांधने की प्रथा समाप्त हो गई ।

मरुस्थल की कठिनाइयों ने यहां के मनुष्यों में परस्पर स्नेह और सहयोग की भावना को मुखरित किया । ल्हासिये चाहे किसी भी जाति या धर्म के हों मेजवान उनके आदर सत्कार में भेदभाव नहीं रखता । सब लोग मिलजुल कर अपने ग्रामीण बंधुओं की सहायता पूरे उत्साह से करते हैं। वास्तव में "ला" राजस्थानी समाज में बन्धुत्व, स्नेह, सहयोग आदि को प्रदर्शित करने वाली एक अनुपम प्रथा है ।

"ला" का महत्व यहां के लोगों के मन में कैसा था इसको प्रदर्शित करने के लिए सुप्रसिद्ध डिंगल कवि करणीदान कवियों द्वारा लिखा गया एक गीत यहां दोहराना अनुचित नहीं होगा । बड़ली के लालसिंह ने मराठा आक्रमणों के समय बहुत वीरता दिखाई । गीत में कवि ने ल्हास को युद्ध क्षेत्र की उपमा देकर रूपक बांधा है :—

पो हो कीरत खेत रजपूती, दाह सत्रां उर खाद दियो
हल भालौ करतां बड़ हाली, करसण आरम्भ गजब कियो

कांकल कदल बाहणी काढै, महपत्र सबल घणा मलमाण
सत्रहर डगल किया सहसूंधा, दल चांवर फेरे देवाण ।

अरि चारो जड़ हूंत उपाड़ै, साकुर धरी हांक सर
ल्हास करै फौजा बड़लंगर, कीध निनांणी हमर कर

लंगर बंध दुलावत लाला, सुपह दात परसी कर सार
सर डूंचण दुसहां नवसहसा, बड़ करसा झोका बड़वार

पहाड़हरा अवर कुण पूगै, जग धारा हासल रै जोड़
रस आई जाणी रजवाड़ा, रजवट री खेती राठौड़।

गीत का भावार्थ :--

हे लालसिंह तूने बैरियों के हृदय में अग्नि रूपी खाद देकर रजवट रूपी खेत में कीर्ति रूपी बीज बोया है । हे महाकिसान हल रूपी भाला ले कर तूने अजब ई खेती की ।

युद्ध में हल से शत्रु रूपी जड़ों को निकाल फेंका, हे महिपत तूने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को उखाड़ फेंका । वैरी रूपी पत्थरों को दूर कर शत्रुदल में चांवर फेर दी । अश्व रूपी बैलों को हांक कर शत्रु रूपी घास को जड़ से उखाड़ दिया। वैरी की जंगी फौज में ल्हास कर तूने निदान रूपी हमले से शत्रु दल का सफाया ही कर दिया। तूने शत्रुओं के सिर काट दिए, हे महाकिसान तुझे कोटि-कोटि धन्य । हे पहाड़सिंह के पौत्र तूने जो "हासल" (कर) वसूल किया उसके समकक्ष कौन खड़ा हो सकता है । तुम्हारे प्रयत्नों से देखा कि तुम्हारे वंश को राज्य-शासन रूपी खेती गजब ई रास आई ।



भारतीय चित्रकला का इतिहास और राजस्थानी चित्रकला

--विमला गोयल

भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजस्थानी चित्रकला का अपना विशेष स्थान है। राजस्थान एक विशाल मरुस्थली क्षेत्र है। यहां की चित्रकला को राजस्थानी चित्रकला के नाम से पुकारा गया है। राजस्थानी शैली के चित्र अपनी मौलिकता सोहलवीं शताब्दी तक ग्रहण करते हैं और अठारहवीं शताब्दी तक अपनी विशेषताओं को खो देते हैं।

राजस्थानी चित्रों का मूल स्रोत लोकचित्रकला या प्राचीन अपभ्रंश या जैन शैली है। इस शैली में भारतीय भित्ति चित्रण की आलंकारिक परम्परा दिखाई देती है। राजस्थान की प्रमुख चित्रकला शैलियों में मेवाड़ शैली, बूंदी शैली, किशन गढ़ शैली, जयपुर या आमेर शैली और बीकानेर शैली प्रमुख हैं। इन प्रमुख राज्यों के राजभवनों में भित्ति चित्रण के चिह्न प्राप्त हैं।

बारहवीं शताब्दी में भारत में स्वामी रामानुज ने एक सम्प्रदाय आरम्भ किया था जिसका समस्त उत्तरी भारत पर बहुत प्रभाव पड़ा। और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ तक इस सम्प्रदाय का बड़ा जोर हो गया था। ब्रज प्रदेश राजस्थान की सीमा पर था इसलिये ब्रज प्रदेश में ही इस सम्प्रदाय का अधिक जोर रहा। रामानुज सम्प्रदाय के अनुयाइयों में चेतन्य, वल्लभाचार्य, सूर, तुलसी, मीरा आदि प्रमुख थे। क्योंकि विष्णु के किसी भी रूप की आराधना पर बल दिया गया था, इसलिये यह वैष्णव सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। इस समय की चित्रकला व साहित्य पर इस वैष्णव सम्प्रदाय का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इस समय राजस्थानी व गुजराती तीर्थ स्थानों पर चित्रित पोथियां बांटी गईं। इन पोथियों की चित्रकला में कुछ नवीन विशेषताएं प्रकट होने लगी थीं।

मुसलमानों के आक्रमण और कट्टरपन के कारण चित्रकला कुछ हिन्दू राज्यों में शिथिल गति से जीवित रही और बाद में वही कला मौलिक विशेषताएं ग्रहण कर गई। बाद में सोलहवी शताब्दी में राजस्थानी कला पर मुगल कला का प्रभाव भी पड़ा और इसका रूप अधिक परिमार्जित हुआ और मुगल कला भी इस शैली के प्रभाव से मुगल या भारतीय शैली कहलाई।

मुगलों के प्रभाव से मेवाड़ ही अपने को बचाये रहा और स्वतंत्र राज्य रहा। इसलिये मेवाड़ में ही सर्वप्रथम चित्रकला का पुनरूत्थान हुआ। विभिन्न राज्यों में कला ने कुछ न कुछ अपनी निजी विशेषता ग्रहण की। मेवाड़ की राजधानी उदयपुर अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध है। यह नगरी मनोरम झीलों पहाड़ों और चारों ओर के घने, हरे भरे जंगलों के कारण अपना अनुपम स्थान रखती है। राजपूत सभ्यता की छाप मेवाड़ की चित्रकला में दिखाई देती है। मेवाड़ का महाराणा कुम्भा एक कला संरक्षक शासक था। मेवाड़ के बहादुर राणा संग्रामसिंह व राणा प्रताप को कौन नहीं जानता जिनके नाम से पूरे भारत का मस्तक गर्व से उन्नत हो जाता है। मेवाड़ की महाराणी मीरा, वैष्णव सम्प्रदाय से अत्यधिक प्रभावित थी। उनके कृष्ण प्रेम के भजन सारे भारत में अपना विशेष स्थान रखते है।

मेवाड़ शैली के आरम्भिक चित्रों का एक उदाहरण स्वापासनाचार्यय है। इस चित्र की शैली गुजराती तथा राजस्थानी शैलियों का सम्मिश्रण है। और शैली अलंकारी है जो पश्चिम भारतीय शैली या अपभ्रंश शैली का ही एक प्रगतिशील रूप है। मेवाड़ शैली विशेष रूप से श्रीनाथ जी और उनसे सम्बन्धित चित्रों तक सीमित है श्रीनाथ द्वारा की कला शैली धीरे-धीरे मेवाड़ के दूसरे नगरों में पहुंची और उदयपुर इसका विशेष केन्द्र बना। चित्तौड़ में भी इस कला शैली को विशेष स्थान मिला। इस शैली की एक अपूर्ण रंगीली चित्रमाला श्री गोपीकृष्ण कनेरिया संग्रह, कलकत्ता में सुरक्षित है। इस चित्रमाला में चमकते रंग हैं और रेखांकन पश्चिमी भारत शैली या अपभ्रंश शैली के समान है। कोणदार रेखाओं का प्रयोग है। चेहरे जैन

पोथियों की तरह हैं। मेवाड़ कला का एक उदाहरण "नायिकाचित्रमाला" नेशनल म्यूजियम में सुरक्षित है। आनन्दकुमार स्वामी के "केटालाग आफ इंडिया कलेक्शन्ज" के मुख्य पृष्ठ चित्र कृष्ण राधा की प्रतीक्षा करते हुए में दक्षिणी राजस्थानी या गुजराती शैली का प्रभाव है। मेवाड़ स्कूल की उत्पत्ति राजस्थानी लोक कला से हुई है।

मेवाड़ शैली के चित्र भागवत पुराण की कृतियों में प्राप्त हैं। इस समय यद्यपि कृष्ण की आराधना का जोर था फिर भी रामायण के आधार पर भी चित्र बनाये गये। प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में दशरथ का लौटते हुए जुलूस एक सुन्दर चित्र उदाहरण है। उस समय के चित्रकारों ने दरबार से प्रेरणा पाकर ही दरबारी जीवन और राग रागनियों का चित्रण किया है। राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली की रागमाला चित्रावली बहुत सुन्दर है और अपनी शैली की उत्कृष्ट कृति है। राजस्थानी चित्रकारों ने उस समय की कृतियों की रचनाओं पर आधारित चित्र बनायेगीत गोविन्द और सूरसागर पर आधारित चित्र भी बनाये गये। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में मेवाड़ी चित्रकला की अपनी विशेषताएं समाप्त हो गई ओर इन विशेषताओं का स्थान चित्रों की संख्या ने ले लिया। इस शैली की कृतियां विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत बनाई गई। आखेट दृश्य, जलूस दृश्य, अन्तःपुर के दृश्य का बहुत प्रचलन हुआ। कुछ बड़े आकारों की चित्रमालाएं भी बनाई गई जिनमें पृथ्वीराजरासो, दुर्गा-महात्म तथा पंचतंत्र पर आधारित चित्र बनें। इस समय बारहमासा भी बहुत लोकप्रिय हुआ।

मेवाड़ के चित्रों में चटक रंगों जैसे लाल, पीला, नीला का अधिक प्रयोग है। चित्र के प्रमुख व्यक्ति या महत्वपूर्ण घटना को चित्र के मुख्य भाग में संयोजित किया है। मानव आकृत्तियों की नाकें लम्बी, चेहरे गोल हैं तथा चिबुक और गर्दन के बीच का भाग भारी और पुष्ट बनाया गया है। वृक्षों के पत्ते बनाने में आलेखन और आलंकरण को महत्व दिया है। पशु-पक्षियों में पश्चिम भारतीय शैली या अपभ्रंश शैली की ही विशेषताएं हैं। चित्रों में गोलाई या डौल दिखाने के लिए चित्रकार ने सुकोमल छाया का प्रयोग किया है। पुरूषों की वेशभूषा में घेरदार जामे तथा कमर में पटका है। स्त्रियों को फूलदार आलेखन से युक्त कपड़े की चोलियां तथा लहंगा पहनाया है तथा ओढ़नी पारदर्शी दिखाई है। स्त्रियों को गहने पहनाये हैं। भवनों के शिखर गुम्बददार हैं और उनके साथ छज्जे तथा चबूतरें बनाये हैं। भवन प्रायः सफेद रंग से बनाये हैं। चित्रों के हाशिये लाल या पीली पटियों से बनाये हैं। मेवाड़ शैली में कृष्ण राधा के चित्रण को मुख्यता दी गई है। चित्रों में चित्रित दृश्यों के द्वारा उस समय के राजस्थानी जीवन पर पर्याप्त मात्रा में प्रकाश पड़ता है। मेवाड़ की चित्रमाला के पश्चात् राजस्थानी चित्रकला में बूंदी कोटा की चित्रकला का विशेष महत्व है। बूंदी के राजाओं ने सोलहवीं शताब्दी में मेवाड़ की अधीनता त्याग दी थी तथा मुगलों के अधीन हो गये थे। उन्होंने रणथम्बौर के दुर्ग में मुगलों के सामने शस्त्र डाल दिये थे। और दक्षिण की चढ़ाइयों में मुगलों का साथ भी दिया था। इस कारण बूंदी का दक्षिण से संबंध स्थापित हुआ था और बूंदी कला पर दक्षिणी कला का प्रभाव पड़ने लगा था। उसी समय कोटा भी बूंदी में शामिल हो गया था और कोटा भी बूंदी शैली का केन्द्र बन गया था।

बूंदी शैली के चित्रों का विकास रागनी चित्रों से होता हुआ दिखता है। इस शैली के आरम्भिक उदाहरण "राग-माला"—चित्रावली के भाग हैं जिसका एक उदाहरण "राग दीपक का चित्र है जो भारत कला भवन, काशी में सुरक्षित है। दूसरा उदाहरण "रागिनी भैरवी" का चित्र है जो नगरपालिका म्यूजियम इलाहाबाद में सुरक्षित है। इस चित्र में मेवाड़ की परम्परागत शैली और मुगल शैली का प्रभाव है। मानव आकृतियों में नाक की बनावट नुकीली है और अपभ्रंश शैली के चित्रों के समान है। इनमें मेवाड़ी प्रभाव है, परन्तु बूंदी शैली के चित्रों में कारीगरी बहुत उत्तम है। इस समय के कुछ सुन्दर चित्र उदाहरण हैं, जिनमें पीठिका पर नायक नायिका जो श्री जी०डी० गुजराती संग्रह बम्बई में सुरक्षित हैं। प्रेमी और प्रेमिका दूज का चांद देखते हुए प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में सुरक्षित है। अठारहवीं शताब्दी के कुछ सुन्दर चित्र जैसे "ग्रीष्म में हाथी" "कांटा निकालते स्त्री" प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में है। एक चित्र—"राधा और कृष्ण का मिलन" देसाई संग्रह बम्बई में है। ये चित्र भावात्मक सौन्दर्य के कारण उत्तम है। बूंदी शैली में राग-रागनियों, नायिका भेद, क्रीडा, उद्यान दृश्य और कृष्णलीला के चित्रों की अधिकता है परन्तु पशु चित्रण भी प्रभावशाली ढंग से किया गया बूंदी शैली अपनी कुछ विशेषताओं के कारण अपना एक मौलिक रूप धारण कर गई।

इस शैली में स्त्रियों के चेहरे मेवाड़ी शैली जैसे हैं। इन चित्रों में स्त्रियों के मुख पर उत्साह का बोध होता है परन्तु मेवाड़ी शैली की तुलना में स्त्री आकार अधिक कोमल व सुन्दर है। मानव आकृतियों में आंखों को पंखड़ियों के समान दो वक्रों से बनाया गया है। इस शैली के चित्रों में सुकोमल छाया के द्वारा गोलाई लाने का सफल प्रयास है। इन चित्रों में अलंकरण की प्रमुखता है और सोना-चांदी के रंगों का प्रयोग है। इन चित्रों पर कुछ दक्षिण के चित्रों का भी प्रभाव है। चित्र की मुख्य घटना को चित्र के बाईं ओर बनाया गया है जो दक्षिण के चित्रों की विशेषता है। नायिका भेद इस शैली के चित्रकार का प्रिय विषय है। रनिवास भोगविलास युक्त जीवन के चित्र भी चित्रकार के प्रिय विषय रहे हैं। क्योंकि चित्रकार की जीविका साधारण जनता पर विशेष रूप से निर्भर थी सो उसने जन साधारण के जीवन के चित्र अधिक बनाये। चित्रकार को जमीदारों, व्यापारियों तथा पुजारियों आदि का संरक्षण प्राप्त था।

किशनगढ़ जो राजस्थान का एक छोटा-सा राज्य है चित्रकला के क्षेत्र में अग्रणी रहा है। किशनगढ़ की चित्रकला सावन्तसिंह (नागरीदास) के शासन काल में अपने उच्चतम शिखर पर पहुंची। सावन्तसिंह एक वीर योद्धा, अच्छा लेखक व श्रेष्ठ चित्रकार था। उसने युवाकाल में विधिवत चित्रकला सीखी थी। सावन्तसिंह कृष्ण का प्रेमी था पर एक सुन्दरी जिसका नाम बनीठनी था उसके मन में आ बसी थी और वह उसके रूप पर मोहित हो गया था। वह चित्रकला में उसकी प्रेरणा बनी। सावन्तसिंह ने बनी-ठनी के रूप में राधा के आदर्श रूप की कल्पना करी और एक नवीन नारी रूप का अंकन हुआ। उसने अपने राज्य में चित्रशाला स्थापित की और किशनगढ़ की चित्रकला में स्त्री आकृतियों को मधुर, कोमल तथा मौलिक रूप प्रदान किया। इन चित्रों में मेवाड़ शैली का भारीपन हटाकर चेहरे पतले व कोमल बनाये गये थे। चिबुक के नीचे का भाग बोझिल न बनाकर पतला बनाया जिससे रूप में वृद्धि हुई। नेत्र कमल या खंजन के आकार के बनाये और नेत्रों की काली रेखायें कान को छूती हुई दिखाई, अधर पतले लाल बनाये, लम्बी पतली नाक बनाकर नारी के वीर भाव के स्थान पर माधुर्य तथा कोमलता चंचलता तथा नारीत्व भाव को प्रधानता दी गई। किशनगढ़ की शैली अठारवीं शताब्दी के अन्त में विशेष उन्नति को प्राप्त कर गई। इस समय के चित्रों में दरबार आदि के विषय दिखाई देते हैं, परन्तु अधिकतर चित्र कृष्ण के हैं। उस समय निहाल-चन्द्र नाम का प्रसिद्ध चित्रकार हुआ। उस चित्रकार ने अपनी संकोमल, भावपूर्ण तुलिका से राधा और कृष्ण के मार्मिक प्रेम की तीक्ष्ण अभिव्यक्ति की। इस चित्रकार ने एक नवीन स्त्री सौन्दर्य की कल्पना की जिसका प्रेरणा स्रोत बनीठनी का सजीव रूप था। क्योंकि निहालचन्द्र ने चित्रकला का विधिवत रूप से मुगल दरबार में अभ्यास किया था इस कारण उसके आरम्भिक चित्रों में मुगल शैली का मिश्रण है। उसी समय का दूसरा चित्रकार अमरचन्द्र भी हुआ। इस समय चित्रकार ने अन्तःपुर रंगमहल, स्नान-घर और रानियों की केलिक्रीड़ा आदि विषय के अनेक चित्र बनाये हैं। नायिका भेद को लोकप्रियता प्राप्त हुई। यहां के नौका विहार संबंधी चित्र राजस्थान में अन्यत्र प्राप्त नहीं होते। चित्रकार ने प्रेमी और प्रेमिका की प्रेमक्रीड़ा में विशेष रूचि ली है। उनके मिलन स्थानों के लिए कुंजल-बागों का चयन किया है। कृष्णलीला के चित्रों में "साझीं-लीला" कृष्ण राधा का दुपट्टा पकड़ते तथा कृष्ण गोपियों के साथ नृत्य करते हुए आदि चित्र बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। कृष्ण-राधा को उस समय के प्रेमी प्रेमिका का रूप देने की चेष्टा करी है।

किशनगढ़ शैली के चित्रों में चटक रंग और आकारों की मौलिक उद्भावना है। कोमल रंग बनाने के लिये सफेद रंग का प्रयोग है। सोने-चांदी के रंग भी हैं। लाल, हरा, पीला, नीला, काला के अतिरिक्त। स्त्रियों का पहनावा लहंगा, चोली तथा पारदर्शी आंचल है। सब अंगों पर आभूषण सजायें हैं। परन्तु नाक का आभूषण बेसरी अनोखे ढंग का है। स्त्रियों के कपड़ों में सुन्दर रंगों का प्रयोग है। पुरुषों को कहीं लम्बा जामा कहीं धोती पहनाई है। इस शैली के चित्रों की रेखाएं कोमल बारीक और भावपूर्ण हैं। रेखाओं में प्रवाह तथा गति है। यह चित्र जीते-जागते हैं और इनमें आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति है। जयपुर की चित्रकला राजा सवाईजयसिंह के समय ही प्रोत्साहन को प्राप्त हुई। इस राजा ने नवीन राजधानी जयपुर का निर्माण कराया। इससे पहले उनके पूर्वज आमेर में रहा करते थे जिनमें भगवान दास व मानसिंह को मुगल दरबार में श्रेष्ठ सम्मान प्राप्त था। भगवान दास की पुत्री जोधाबाई का व्याह बादशाह अकबर से हुआ था। इस समय के चित्रों में, प्राचीन भित्ती चित्रों की परंपरा या अपभ्रंश कला का ही विकसित रूप है। एक चित्र में भगवान कृष्ण को गोवर्द्धन धारण किये दिखाया है। इसमें गाय व ग्वालबाल चित्रित किये गये हैं दूसरा चित्र रास मण्डल का है जिसके मध्य में मानव की आत्मा और परमात्मा का प्रतीक भगवान कृष्ण और राधिका का दिव्य युगल है। युगल के चारों ओर गोपियां घेरा डालकर नृत्य कर रही हैं। दिव्य युगल में गति है तथा मुद्राएं लावण्यपूर्ण हैं। आकाश से देवता पुष्प बरसा रहे हैं। इन दोनों ही चित्रों में काले रंग की प्रधानता है। जयपुर, के चित्रों में मुखाकृति तथा व्यक्ति चित्रों का अपना विशेष स्थान है। इन चित्रों में राजस्थानी परम्परा बलवती रूप में दिखती है। जयपुरी चित्रों का विधान सुन्दर व सुकोमल है। इनमें यत्र-तत्र जहांगीर व शाहजहां कालीन मुगल प्रभाव इन चित्रों का प्राकृतिक वातावरण मेवाड़ शैली के समान अलंकारिक है। चित्र अधिकतर बड़े हैं। इन चित्रों में हरे रंग की प्रधानता है।

राजस्थान के 3 राज्यों बीकानेर, जोधपुर व मारवाड़ में भी समय-समय पर चित्रकला का विकास हुआ। बीकानेर शैली पर दक्षिण की बीजापुर शैली का प्रभाव है और जहां-गीर तथा शाहजहां कालीन मुगल चित्रकला का भी बीकानेर शैली पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसी कारण बीकानेर में एक रोचक राजस्थानी शैली विकसित हुई है।

जोधपुर शैली की अपनी ही विशेषता दृष्टिगत होती है। इस शैली के चित्रों का बड़ी पगड़ी, लम्बे जामे, हृष्ट-पुष्ट मोटी लम्बी मानवाकृतियों की लम्बी कलमों तथा मूछों के कारण सरलता से पहचाना जा सकता है।

मारवाड़ी शैली की जो कृतियां प्राप्त हैं, वे अपभ्रंश शैली से संबंधित हैं। इनमें लोक-कला जैसी आकृतियों, सरल सपाट रेखांकन और चटक विरोधी रंग लगाए गए हैं। इन चित्रों की आकृतियां कद में छोटी और स्थूलकाय हैं। इन आकृतियों के सर गोल हैं, माथा पीछे की ओर धंसा हुआ है। नेत्र बड़े-बड़े परवल के समान हैं।

ईलाजी

--चन्द्रकान्ता शर्मा

राजस्थान में होली ही नहीं, समस्त तीज-त्यौहारों की परम्परा लोक आस्था की सहज मनोहारी छटा से ओतप्रोत तथा लोक संस्कृति की प्रतीक है। विविध त्यौहारों में विविधकथाएं जोड़कर उसे बिभिन्न अंचलों में बहुआयामी मान्यता से अलंकृत किया गया है। पश्चिमी राजस्थान में आज भी होली पर ईलाजी नामक लोक देवता के गंभीर पूजन का प्रचलन है। जितनी गंभीरता इस पूजन में महिला समाज की ओर से मिली है, उतना ही हास्य-स्वरूप व हल्का मसखरापन इसे यहां पुरुष वर्ग ने दिया है।

अनेक शहरों के चौराहों पर ईलाजी की मूर्ति स्थापित है या फिर उनके मंदिर बनाकर भी लोगों ने इस आदी लोक-देवता के प्राचीन स्वरूप को अक्षुण्ण रखा है। जहां मूर्तियां खराब हो जाती हैं या मिट जाती हैं, वहां होली के दस-पांच दिन पूर्व इसे मिट्टी से बनाना प्रारम्भ कर दिया जाता है। माथे पर पाग, कतारधर मूंछें देदीप्यमान बहादुरों सा चेहरा, हाथ में तलवार आदी पुराने वस्त्रों भूषणों से सज्जित करके उनमें भांति-भांति के रंग भर दिये जाते हैं और इस देवता को सचमुच एक राजकुमार का रूप देने का प्रयास किया जाता है।

वैसे ईलाजी थे भी एक राजकुमार ही। कहा जाता है कि ईलाजी नास्तिक राजा हिरण्य कश्यप की बहन होलिका को ब्याहने जिस दिन बारात लेकर आ रहे थे, उसी दिन होलिका प्रह्लाद को अग्नि में लेकर बैठी थी और जल मरी थी। जब ईलाजी ने यह समाचार सुना तो वह विक्षिप्तों की तरह घोड़ी से उतर कर होलिका दहन स्थल की ओर भागे, तथा वहां की गरम-गरम राख को अपने नंगे शरीर पर लपेटने लगे।

उन्हें अपने सारे कपड़े फाड़ कर पागलों की सी हरकतें करते देख, सारी बारात में खुशी के स्थान पर विषाद की लहर दौड़ गई और बारात बिन ब्याहे ही लौट गई। इसके बाद ईलाजी आजीवन कुंवारे रहे और कालांतर में कुंआरों के मांगलिक आराध्य देव बन गए।

आज भी राजस्थान के लोक-अंचलों में स्त्रियां इनका सार्वजनिक रूप से पूजन कर सुखी दांपत्य जीवन व पुत्र लाभ की कामना करती हैं। जिस पुरुष का लंबी उम्र तक बिवाह नहीं होता या विधुर हो गया हो, उस से आज भी मजाक किया जाता है कि, "भैया ईलाजी पूज। लुगाई तब ही मिलेगी"। ईलाजी पूजन मुख्यतः बांझ स्त्रियों द्वारा ज्यादा किया जाता है। यहां यह लोक मान्यता है कि बांझ स्त्री को ईलाजी प्रसन्न होकर अविलम्ब पुत्र लाभ का संयोग देते हैं।

ईलाजी पूजन में मूलतः, नारियल, फूल पत्र, मिठाई व रोली के छींटें देनें की परम्परा है इस पूजन में जनास्था ईलाजी के लिंग में केंद्रित रहती है और उनका पूजन इसी ध्यैये से कुंकुम के छींटे व फूल पत्र चढ़ाकर प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। होलिका दहन के दिन आज भी अनेक गांवों में ईलाजी की बारात बनाकर होलिका दहन स्थल तक जाने तथा बाद में बिना ब्याहे रोते हुए लौटनें की अनादि परंपरा है। लेकिन आजकल यह मजाक रूप में ज्यादा प्रचलित होने से स्त्रियां पुरूष वर्ग से संकोच के कारण सार्वजनिक रूप से इस देवता की अर्चना में लज्जा करती हैं। फिर भी भोर व सांयकाल के झुटपुट में महिला समाज अपनी पूजा के फूल अर्पित करती देखी जा सकती हैं।



विश्व विख्यात कलात्मक नगरी जैसलमेर

--गिरीराज जोशी

सम्पूर्ण देश के विशाल क्षेत्रफल (35548 किलो मीटर) वाली इस रेतीली रणस्थली जैसलमेर में केवल 1,67,000 आबादी निवास करती है। आबादी का घनत्व प्रति वर्ग किलो मीटर 4 व्यक्ति है। इतने विशाल क्षेत्रफल वाले इस जिले को सदैव ही दुर्दम्य परिस्थितियों के मध्य से गुजरना पड़ा है। सीमा प्रहरी जैसलमेर की आज 1965 एवं 71 के पाकिस्तानी युद्धों के मात्र स्मरण से तरोताजा हो जाती है। इतना ही नहीं यहां के जन सामान्य को सदैव ही अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी प्रकोप, यातायात पेयजल आदि की समस्याओं से जूझता रहना पड़ता है यही कारण है कि यहां का इन्सान पत्थर के समान कठोर है।

दूसरी ओर जैसलमेर की नारी सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध रही है। पणिहारिनों का प्रदेश जैसलमेर ही कहलाता है जहां दूर-दूर से पानी की तलाश में स्त्रियों के झुंड सिरों पर घड़े रखकर आते दिखाई देते थे। आज भी पेयजल समस्या यहां पर बनी हुई है। पुराने जमाने में चारण भाटों ने कहावत भी कही है—

"मारवाड नर नीपजे नारी जैसलमेर
सिंधा तुरही (घोड़) सांतरा (उत्तम) कारहल बीकानेर।"

कला एवं संस्कृति का अनोखा संगम

विदेशी पर्यटकों की आकर्षण स्थली जैसलमेर कला एवं संस्कृति का अनोखा स्थल समझा जाता है। यहां की भव्य नक्काशी बारीकी में अपनी शानी नहीं रखती है। नगर के घुमावदार मार्गों पर सुन्दर एवं नयनाभिराम हवेलियों का निर्माण इस तरीके से किया हुआ है कि आने वाले सैलानी की मार्ग से गुजरते समय गर्दन ऊपर की ऊपर ही रहती है। यहां आने वाला यात्री इन हवेलियों में इतना अधिक खो जाता है कि उसे नीचे देखने का भान ही नहीं रहता है। यहां की हवेलियों पर जालीदार खुदाई समूचे विश्व में अपना गौरव स्थापित किए हुए है। जैन मंदिरों पर भी खुदाई का कार्य अनोखा एवं चिताकर्षक है। जैन मंदिर जो कि दुर्ग के अंदर बना हुआ है 10वीं शदी के ग्रन्थ उपलब्ध हैं उसमें 400 ताड़पत्र पर अभिलेख भी संग्रहित हैं।

जैसलमेर के मुख्य आकर्षण केन्द्र भव्य हवेलियां, लौद्रवा प्राचीन राजधानी एवं बादल विलास है। निजी हवेलियों में पटवों की हवेलियां एवं दीवान की हवेली देखने योग्य है। हवेलियों की कला शिल्प मानों छैनी और हथौड़ी के स्थान पर मशीन से कपड़ों पर कशीदा है। एक विदेशी पर्यटक ने जैसलमेर के बारे में कहा है कि "शहर का प्रत्येक मकान कारीगरी से सजा संवरा है मानों पत्थर पर कशीदाकारों ने कशीदा निकाल दिया हो ऐसी बारीक छैनी हथोड़ों की करामात जो कि आने वाले प्रत्येक पर्यटक को विस्मय में डाल देती है शिल्पियों की शिल्पकारिता के बारे में प्रशंसा के शब्द ढूंढनें पर भी नहीं मिलते हैं।"।

जैसलमेर की प्राचीन लोद्रवा

जैसलमेर से 10 मील दूर एक उजाड़ एवं सुनसान स्थान है यह जैसलमेर बसने से पूर्व राजधानी था। अब इसका अधिकांश भाग बालू के नीचे ढक चुका है। लोद्रा राजपूतों के समय के दो मंदिर बने हुए हैं ये मंदिर माताजी अर्थात् राजपूतों की कुलदेवी के हैं जो 700-800 वर्ष पुराने हैं। लोद्रवा जो कि प्राचीन समय में राजधानी था 12 दरवाजों वाला एक सुन्दर नगर था।

इसी नगर में बादल निवास नाम की एक सप्तखंडी इमारत जो कि किले की तलहटी में ही बनी हुई है अत्यन्त ही आकर्षक है। यह इमारत महा रावल वैरिशाल के समय की बनी हुई है। यहां की समस्त इमारतें यही पर निकलने वाले पीले पत्थर से बनाई हुई हैं एवं सभी पर कारीगरी की हुई है।

जैसलमेर शहर के चारों ओर 5 से 7 फुट चौड़ा 3 मील के घेरे में 10–15 फुट ऊंचा पक्का परकोटा है। जगह-जगह बुर्ज एवं बंदूक की मारें तथा तोपों के लिए स्थान बने हुए हैं। नगर में प्रवेश के लिए 4 दरवाजे एवं 2 खिड़कियां हैं। पश्चिम में प्रमुख दरवाजा अमर सागर एवं पूर्व में घडसीसर है परकोटे के अंदर त्रिभुजाकार पहाड़ी पर किला बना हुआ है यह किला भूमि से 250 फुट ऊंचा है। किले में रंगमहल, गजविलास एवं मोती महल नामक राजप्रसाद है। महलों के सामने भगवान आदिनारायण अर्थात् टीकमजी और भगवतीशक्ति के मंदिर बने हुए हैं। परकोटे में जैन मंदिर भी बने हुए हैं।

जैसलमेर पहुंचने के लिए जोधपुर से बसें एवं गाड़ी चलती है। सरकार यहां के लिए एक डकोटा विमान चलाने पर भी विचार कर रही है। इस स्थान पर पर्यटकों के ठहरने के लिए रेस्ट हाउस एवं विदेशी पर्यटक गृहों की सुन्दर व्यवस्था है। सरकार ने कुछ ही समय पूर्व पर्यटक विश्राम गृह के लिए 2 लाख की राशि व्यय कर यात्रियों के लिए आधुनिक तरीके का पर्यटक गृह बनाया है। यहां विदेशी पर्यटकों की भरमार रहती है। ये पर्यटक ऊंट की सवारी का आनंद यहीं आकर उठाते हैं।



होली गीत

नष्ट कर धरती का
तिमिर-पुंज
कुतर–कुतर

फैल गई कण–कण
ज्योति नई
इधर-उधर

घर–आंगन वन–उपवन
रंग–कलश
छलक उठा,

आज फिर जीवन में
इंद्रधनुष
बिहंस उठा ।

हर कोई द्वैष ग्रसित
तन–मन
निकाल

पोत रहा अंग–अंग
प्रीत का
गुलाल

उन्मत्त होली में
नृत्य–चक्र
बहक उठा,

आज फिर जीवन में
इंद्रधनुष बिहंस उठा ।

धर्मेन्द्र खुशबू



राजस्थानी लोक कला

—प्रेमचन्द्र गोस्वामी

लोक अथवा सामान्य जन की कला लोक कला कहलाती है। जन मानस की सांस्कृतिक आकान्क्षा जब कलात्मक सौन्दर्य के साथ सहज अभिव्यक्ति पाती है, उपलब्ध वस्तुओं की सहायता से अपने सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत होती है तो वह लोक कला रूप ग्रहण करती है। यह कला जन मानस की आन्तरिक सर्जनात्मक कला प्रवृति की प्रेरणा से उद्भूत होती है।

लोक कला का उद्भव किस निश्चित समय अथवा अवधि में हुआ यह कहना अत्यन्त कठिन है। वास्तव में लोक कला का जन्म मानस में सर्जनात्मक कला प्रवृति के विकास के साथ ही माना जाना चाहिए। जैसे जैसे मनुष्य में परिस्कृत रूचि का विकास हुआ वैसे वैसे उसकी सौन्दर्य दृष्टि में भी निखार आया और उसने अपने आस पास की चीजों को सजा संवार कर रखना प्रारम्भ कर दिया। अपने परिवेश में उपदानों को अधिकाधिक मनोरंजक आकर्षक और सुखदायक बनाने की दिशा में जब आदमी ने अपनी स्वाभाविक कलादृष्टि को काम में लेना शुरू किया, तो उसे लोक कला के आविष्कार की प्रेरणा मिली।

कला के साथ ही लोक कला का जन्म

यदि यह कहा जाये कि लोक कला का जन्म कला के जन्म से जुड़ा हुआ है, तो गलत नहीं होगा। जब मनुष्य पशुओं की भांति गुफाओं में निवास करता था तब भी लोक कला का प्रचलन था। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। जब वह अपनी भौतिक जरूरतों से सन्तुष्ट होने लगा तो कदाचित किसी अज्ञात प्रेरणा को पाकर वह अपनी स्थिति से थोड़ा ऊपर उठा। उसने अपने गुहा निवास को आभूषणों, शस्त्रों और अन्य वस्तुओं से सजाकर आसपास का अन्धेरा कम करने की चेष्टा प्रारम्भ की। ऐसा करते हुए निश्चित ही उसे सन्तोष हुआ होगा जिसे लगातार प्राप्त करते रहने के प्रयास में आगे चलकर उसने बर्तनों, भोज पात्रों और अन्य देनन्दिन उपयोग की वस्तुओं के बेलबूटे, फूल-पत्तों आदि के डिजाइन बनाने शुरु कर दिए। आकार निर्माण की मनः स्थिति भी तभी बनी जब हमारा आदि मानव अपनी संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति की शक्ति के कारण चित्रकला तथा खुदाई आदि के कौशलपूर्ण कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ।

सौन्दर्य चेतना और रुपाकर्षण

धीरे धीरे मनुष्य की चेतना ने सौन्दर्य को एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में स्वीकृत कर लिया जिसके कारण फूलों, बीजों, पतों, छालों और सीपियों से आगे बढ़कर वह पीतल, चांदी, स्वर्ण आदि धातुओं के द्वारा बन सकने वाले सुन्दर रूपाकारों की ओर आकृष्ट हुआ। इस दिशा में आदमी के सर्जनात्मक प्रयास उसे अलंकरण की ओर ले गये। परिणामस्वरूप घर आंगन की दीवारों, अग्रभागों, निवास और बैठकों को सजाना, संवारना एक सामाजिक अनुष्ठान सा बन गया।

सौन्दर्य का जीवन से पृथक कोई अस्तित्व नहीं होता। राजस्थान की लोक कला भी इसीलिए एक जीवन्त कला है क्योंकि उसमें सौन्दर्य का समावेश है। यहां की लोक कला को प्रारम्भ से ही एक विस्तृत धरातल प्राप्त हुआ है। इसके पास का आकाश इतना विशाल, इतना गहरा रहा है कि न तो इसे किसी विशिष्ट गुण के आधार पर बांधा जा सकता है और न इसे शुद्ध कला, सजावटी कला, व्यवहारिक या व्यापारिक कला आदि के समान कला की किसी श्रेणी में रखा जा सकता है। लोक कला लोक मानस की सर्जनात्मक कला का एक पहलू है जो जाति, धर्म, लिंग और कला के बन्धनों से मुक्त हर व्यक्ति के अन्दर अभिव्यक्ति गतिविधि के रूप में विद्यमान रहता है। अब कल्पना शीलता का आधार पाकर यह विकसित होता रहा है।

जन-कल्याण की भावना

लोक कला कभी किसी भी युग में आदमी की सामाजिक विवशता नहीं रही। मनुष्य की इस वृति में सौन्दर्य बांध और जन-कल्याण की भावना ही प्रमुख रही है। आंखों को आने वाले अंलकरणों से उसे जो आत्मतुष्टि मिलती रही उसके मूल में सामाजिक कर्त्तव्य और समूहगत जागरूकता मौजूद थी। अतः राजस्थानी लोक कला में भी अहमन्यता कभी नहीं रही। यह सदा से ही एक सामुदायिक और सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में मुखर रही है जो कठोर परिश्रम तथा अनुशासन के बीच विकसित होती है। यह कला रूपों के उतार-चढ़ाव, फैशन और शैली के प्रभाव से अछूती है।

राजस्थान की लोक कला के अन्तर्गत हमें सामाजिक उत्सवों धार्मिक संस्कारों तथा अन्य विशिष्ट अवसरों पर जन आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाली कलाकृतियों के दर्शन प्रायः हर अंचल में होते हैं। विशेषकर ग्रामीण अंचलों में, जहां भौतिक सुविधाओं और मशीनी जिन्दगी का वातावरण नहीं मिलता। ग्राम्यांचलों में आज भी परस्पर सहयोग, सद्भावना तथा बहुजनहिताय की सामूहिक भावना मिलती है। जापानी लोक कला के शोध और उसके पुनरुत्थान के प्रणेता डा० सोयत्सू यानागू ने लोक कला की विवेचना करते हुए सामान्य आदमी की सभी कृतियों की गणना लोक कला के अन्तर्गत की है।

लोक कला की अन्यतम विशेषता

नामहीनता लोक कला की अन्यतम विशेषता है। राजस्थानी लोक कला की प्रकृति भी ऐसी ही है। इस पर किसी व्यक्ति विशेष की छाप नहीं, यह सामान्य कलादृष्टि सम्पन्न सर्जक की दिनचर्या का एक अंग है। कलाहीन होना ही इसकी सार्थकता, चमत्कार और आकर्षण को अनुण्ण बनाये हुए है। मनुष्य के दैनन्दिन जीवन से इसका गहरा सम्बन्ध है। एक सर्वव्यापी आकर्षण इसकी विशिष्टता है।

लोक कला न तो प्रकृति की नकल करती है और न उसका यर्थाथ रूप ही सामने रखती है दरअसल यह सामान्य सर्जक की चेतना पर पड़ी छाप को कल्पना और अभिव्यक्ति के स्तर पर प्रतिविम्बित करती है। यही कारण है कि राजस्थानी लोक कला ने जन मानस के बीच पर्याप्त विस्तार पाया है। समयान्तर से यह घर आंगन तक ही सीमित नहीं रही बल्कि खिलौनों, कशीदाकारी, नक्काशी, भितिचित्रों, पूजाग्रहों और वस्त्रों आदि तक भी पहुंच गयी।

गहरे और प्रचलित रंग

राजस्थानी लोक कला के लिये सर्जकों की सृजन सामग्री की स्वाभाविक रूप से मिट्टी से बने रंग पदार्थों से ही प्राप्त हुई है। यही कारण है कि गहरे और प्रचलित रंगों में रंगी हुई रचनाएं हमें इस कला के अन्तर्गत अधिक दिखाई देती हैं।

रंग कलाकृतियों के गुणों के साथ साथ मानव चरित्र के भी परिचायक होते हैं। कला-पारखी रंगों के द्वारा विभिन्न प्रकार की भावनाओं, आवेगों तथा प्रतीकात्मक संकेतों को पढ़ने में सक्षम होते हैं।

जन मानस में प्रवेश

राजस्थानी लोक कला का प्रवेश जन मानस में इतना गहरा हुआ है कि वह लोगों के स्वभाव में घुलती रही है। यही कारण है कि लोक कला, सर्जक कला दृष्टि वाले लोगों को पीढ़ी विरासत में प्राप्त हो जाती है। इसके लिए कला के किसी ट्रेनिंग स्कूल या गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं होती।

सम्पूर्ण विश्व में आज राजस्थानी लोक कला के प्रति लोगों की रुचि बढ़ती जा रही है, वह इसकी समृद्धि की द्योतक है। विभिन्न देशों में लोक कला के सम्बन्ध में किया जा रहा शोध कार्य राजस्थान लोक कला की सादगी विशिष्टता और गतिशीलता का परिणाम है। आधुनिक भौतिक एवं मानसिक तनाव के युग में मन को सुख देने वाली यह सरल लोकरंजनी कला वास्तव में आत्मतुष्टि एवं जीवनीशक्ति के लिये प्रेरणादायी है। इसकी परम्परा अर्थपूर्ण है और जीवन के प्रवाह को शाश्वत बनाये रखने वाली है।



राजस्थानी लोक साहित्य में प्रकृति चित्रण

—योगेश चन्द्र शर्मा

साहित्य में समाज का ही नहीं, उस प्रकृति का भी प्रतिबिम्ब होता है, जिसकी गोद में व्यक्ति पल पोस कर बड़ा होता है और जिससे वह प्रेरणा ग्रहण करता है। साहित्य और प्रकृति का यह घनिष्ट संबन्ध आदि काल से चला आ रहा है। विश्व साहित्य के आदि ग्रंथ ऋग्वेद के रचयिताओं ने भी जब प्रकृति के रहस्यों को देखा तो उनसे चमत्कृत होकर उषा, सूर्य, अग्नि आदि का विस्तार से चित्रण किया। आदि कवि महर्षि बाल्मीकि का तो प्रेरणा स्रोत ही कौंच पक्षी का विहार करता हुआ वह जोड़ा था, जिसे एक शिकारी ने अपने तीर के प्रहार से एक दूसरे से अलग करके हंसती खेलती प्रकृति में अनावश्यक हस्तक्षेप किया था। विश्व साहित्य का कोई भी अंग प्रकृति के प्रभाव से अछूता नहीं। तब राजस्थानी लोक साहित्य ही इस से परे कैसे रह सकता था? लोक साहित्य का प्रसार यों तो साधारण कुटिया से लेकर विशाल राज प्रासाद तक होता है, किन्तु उसका विशेष संबंध होता जन साधारण से ही है। जन साधारण के जीवन का प्रकृति से गहन सम्बन्ध होता है और इसलिए राजस्थानी लोक साहित्य पर भी प्रकृति की गहरी छाप है। जन जीवन को प्रभावित करने वाले प्रकृति के विभिन्न तत्वों का यहां के लोक साहित्य में भरपूर चित्रण हुआ है और लोक गायक, कलाकार तथा जनसाधारण ने उससे भरपूर प्रेरणा ग्रहण की है। राजस्थान में प्रकृति के विभिन्न रूप विद्यमान हैं। कहीं वह आह्लादकारी है तो कहीं आतंककारी भी। राजस्थान के लोक साहित्य में इन दोनों स्वरूपों की स्पष्ट छाप है। प्रकृति के माध्यम से लोक साहित्य में कहीं मीठी और रसीली चुटकियां ली गई हैं, कहीं असंभव कल्पनाएं की गई हैं, कहीं उससे मानव मन की चोटों को सहलाया गया है और कहीं उसके रौद्र रूप को दिखलाकर मानव को मर्यादा में रहते हुए कर्त्तव्य पालन का उपदेश दिया गया है। यह सब चित्रण बिना किसी प्रकार के प्रदर्शन या आडम्बर के स्वतः प्रसूत है, प्रयत्न साध्य नहीं। लोक साहित्य स्वयं, स्वतः प्रसूत होता है। सो उसमें प्रस्तुत चित्रण का भी स्वतः प्रसूत होना सहज स्वाभाविक है।

विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले लोक गीतों का राजस्थानी लोक साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इन गीतों में हास परिहास, चुहलबाजी, नखशिख वर्णन, वर-वधु की एक दूसरे से रोचक फरमायशें सभी कुछ है और इनमें लगभग सर्वत्र प्रकृति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। वधु का सौन्दर्य वर्णन तो साहित्य में सामान्य बात है किन्तु राजस्थानी लोक साहित्य में वर का सौन्दर्य वर्णन भी उसी कुशलता से हुआ है। उसे कहीं पर सूर्य के समान तेजस्वी बतलाकर किरणों के बीच रखने की मंशा व्यक्त की गई है तो कहीं चन्द्रमा के समान निर्मल बतला कर तारों के बीच रखने की कामना प्रकट की गई है। ऋतु के अनुरूप वर को "चौमासे रौ चंपो", आलै रो आंबौ" तथा "सियालै रो सूरज" जैसे विशेषणों से संबंधित करके सर्वथा मौलिक कल्पनाएं की गई हैं।

दुलहन के सौंदर्य वर्णन में भी इसी प्रकार प्रकृति से चुने हुए और कुछ अछूते उपमान लिये गये हैं—

सूरज जिसौ अे उजास, मिरगानैणी जी राज
चांदै जिसी अे बा घणे ऊजली जी म्हारा राज।

पाना जिसी घण राचणी जी राज
हीरां नै सरीसी घणा-चिलकणी जी म्हारा राज।

दांत दाड़मि यै रा जी बीज मिरगा नैणी जी राज
जीभडल्यां इमरत बसै जी म्हारा राज।

पग पींपलियै राजी पान मिरगा नैणी जी राज।
अेड़ी तो कही जै सुरंग सोपारिया जी म्हारा राज।

दुलहन के द्वारा दूल्हे के समक्ष जो विभिन्न प्रकार की मांगें प्रस्तुत की जाती हैं, उन्हीं में यह गीत दृष्टव्य है, जो प्रकृति के प्रति लोक साहित्य के गहन रुझान को प्रकट करता है—

बना सा अंगूरां की हवेली चुणाय
छाजा लगाय दो दाड़म दाख रा।

बना अंबर रौ धाधरौ सींवाय
धरती की लावण दिरा दौ जी।

हां जी बना तारां री चूंदड़ रंगाय
बीजली रौ गोट करा दौ जी।

इसी प्रकार के अन्य लोक गीतों में दुलहन कहीं पर "सूरज चांद के बटन" लगाने की मांग करती है और कहीं पर समुद्र में सेज लगाकर मगरमच्छ का तकिया लगाने की कामना करती है। तारों से जड़ी चून्दडी के बारे में यह लोकगीत भी बहुतायत से गाया जाता है—

म्हनै ला दौनी जोड़ी रा ढ़ोला तारा जड़ी चून्दड़ी
तारा जड़ी चून्दड़ी ने आभा वरणी आंगणों
म्हने ला दौ नीं आली जा ढोला, तारा जडी चूनदड़ी।

राजस्थानी लोक गीतों की कुलवधू से जब उसके पीहर और ससुराल के बारे में चर्चा की जाती है तो उनकी उपमा भी वहां प्रकृति के उन सुरम्य स्थलों से दी जाती है, जिन्हें देखने की कामना हर राजस्थानी प्रायः करता है, मगर वह कामना पूरी हो पाती है बिरले लोगों की ही।

हंस सरोवर गोरी पीर तुम्हारो जो राज
मान सरोवर थांरौ सासरो जी राज।

मेघदूत की नायिका अपने प्रेमी तक अपनी विरह व्यथा पहुंचाने के लिए मेघ को दूत बनाती है तो राजस्थानी लोक साहित्य की नायिका अपनी इस विरह व्यथा को प्रेमी तक पहुंचाने के लिए अपने आसपास की प्रकृति से ही विभिन्न पक्षियों को उधार लेकर उन्हें अपना दूत बनाती है। इस संदर्भ में कभी पपीहे को दूत बनाना पड़ता है, कभी कुरजां को, कभी मोर को और कभी तोते को भी। लोक गीतों के इस दूत प्रकरण में प्रकृति चित्रण और भावाभिव्यक्ति किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। पपीहे को संदेश देते हुए नायिका कहती है—

पपह्या तूं बोल रै जित म्हारै आली जं भंबर रौ मुकाम
सांबण आयो सायबा वन में झिंगोरत मोर
कालिगड़ो कू कू करै म्हारे करत कोयल डी सोर
पपइया तूं बोल रे जित म्हारै करत कोयल डी सोर
पपइया तूं बोल रे जित म्हारै आली जै भंवर रौ मुकाम।

कुरंजा को दूत बनाकर नायिका संदेश भेजने की योजना बनाते हुए कहती है—
पांखडल्यां पे लिखूं घण रा ओलेबा
चांचडली पे सात सिलाम
कुरंजा ओ म्हारो भंवर मिला दौनी सा।

प्रकृति के अदने से समझे जाने वाले ये पक्षी, अपना दूत कार्य भलीभांति निभाते भी हैं। दूत बना हुआ तोता, नायक के पास जाकर, नायिका की व्यथा को बतलाने के लिए बड़ा सुन्दर अभिनय करता है—

चक्कर खायनै सूबटियौ
अरे पड्यौ धरा पै आय
साथी डां तौ पाछा हट्या
अं तौ राजन लियौ रे उठाय।

सूर्य आतप से झुलसते राजस्थान में जब वर्षा ऋतु का आगमन होता है तो जनमन ही नहीं सरसाता अपितु प्रकृति का अणु-अणु भी आह्लादित होकर थिरक उठता है। उस समय वृक्षों की टहनियों पर झूलें डालें जाते हैं और तब झूला झूलते हुए राजस्थान के पूर्वी आंचल की युवतियां गा उठती है—

सामन आयो अम्मा मेरी रांगिली जी, एजी कोई आई हरियाली तीज।

घर घर में झूला झूलें कामिनीजी एजी कोई गावत गीत मल्हार।

वन में पपीहा भैंना मेरी बोलते जी, एजी कोई कोयल करत पुकार।

बादर गरजें, चमकै बीजुरी जी, एजी कोई रिमझिम करत पुकार।

सामन आये अम्मा मेरी रांगिली जी, एजी कोई आई हरियाली तीज।

प्रकृति नदी की यह मोहक छवि राजस्थानी लोक साहित्य के गद्य पक्ष को भी समान रूप से प्रभावित किये हुए है। वर्षा ऋतु में प्रकृति की थिरकन को अभिव्यक्त करने वाली ये पंक्तियां लोक कथाओं में प्रायः कही सुनी जाती हैं—

"सांवण रै लग तो ई भादर बौ आयो। डेडरियां री डरडाटमाचा।

बिरखा मंडरी छै। बीजलिया सलावा भरे छै। सेहरां—सेहरां बीज चमकरी छै।

मोरूडा में आओ में आओ" बोल रिया छै। अलंधां री खड़ियो डी गोटा ऊपड़ती राती-पीली आंधी रै बिचालै मलार गावतां ई हाथी रे कान जितरी अेक बादली निकली)। बिजलियां खिवण लागी—पला ..... क झब, ... पला क झब, जै डै तौ छांटां आईज-तड़ तड़ तड़ तड़, अड़ ड़ ड़ ड़ ड़। पैपरलां पैपरला पांणी पड़णा लागौ। इणा भांत मूसलधार में बाबनौ मंडियौ स मंडियौ भाखारां रा नाला बोल दिया छै। बनसपति सूं बेलड़ियां लिपट रही छे। गाज-बाज छै साथे धटा आई सु जांणो परदेसी इन्दर राजा घणौ हरख आपरी धण-जमीं सूं मिलण आयो छे।"

राजस्थान में बरसात जितनी आह्लादकारी है, आंधी उतनी ही आतंककारी/राजस्थान लोककथाओं में आंधी का वर्णन प्रायः इन शब्दों में किया जाता है—

"धरत्यां टिकियोडी रेत असमान में चढ़गी।
खेंखाड़ माथै खेंखाड़ बाजाण लागा। थोथी करडावण शरवण वाला
जंगी रूंख चरड़ चरड़ उथलीजण लागा।

लुलताई राखण वाला कंवला बांटका अठी उठी ललाक ललाक लु लै, पण वां रो कीं नीं बिगडै । पगां चींथी जण वाला

धास नै तौ अेल ई नीं पूगै । सुख साता पूछती, लाड़ करती, पंपोलती

आंधी माथाकर निकल जावै ।

राजस्थानी लोक कथाओं में, ऐसी कथाओं की संख्या काफी अधिक है, जो मनुष्य और प्रकृति के बीच के रागात्मक संबन्धों को अभिव्यक्त करती है। इन कथाओं में राजस्थान के प्राकृतिक परिवेश को विशेष प्रधानता प्राप्त हुई है। यथा रेत के टीबे, कंटीली झाड़ियां, सूखते सरोवर, प्यासे पक्षी आदि। इन कथाओं में प्राकृतिक वातावरण के शान्ति प्रिय और आदर्श स्वरूप को विशेष रूप से उभारा गया है।

पशु पक्षियों पर कही सुनी जाने वाली लोक कथाओं की भी संख्या काफी अधिक है, जो मुख्यतः बालकों के लिए हैं। इन कथाओं में सिंह को एक शक्तिशाली किन्तु मूर्ख पशु के रूप में चित्रित किया गया है तो सियार को अत्यन्त चालाक और हरिण को निपट भोले भाले तथा सहज विश्वासी पशु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। हाथी बलशाली है किन्तु उसे चुनौती देने के लिए एक साधारण चींटी पर्याप्त है। वैसे चींटी, इन कथाओं में सब की सहायता करती प्रतीत होती है। कौवा चालाक पक्षी है, किन्तु चिड़िया मनुष्य की सहयोगी है। संकट के समय चूहा भी मनुष्य की सहायता करता है। मेंढ़क संकीर्ण मनोवृत्ति का है, जो अपनी ही दुनिया को सब कुछ समझ बैठा है। प्राकृतिक दृष्टि से पशु पक्षियों की यह प्रकृति प्रमाणित सत्य है। आदर्श की स्थापना तथा घटना को मनोरंजक बनाने की दृष्टि से कहीं कहीं अतिशयोक्ति सहज संभव है। इसी दृष्टि से मिठाइयों के वृक्ष, गुलगुलों के वृक्ष, चलने फिरने वाले वृक्ष, बोलने वाले वृक्ष तथा भविष्य वाणी करने वाले वृक्षों की भी लोक कथाओं में चर्चा है। एक लोककथा में तिल के एक ऐसे छोटे वृक्ष की भी कल्पना है, जिसके झड़ने पर गिरने वाले तिलों से पूरा कुआं भर जाता है। राजस्थानी लोक कथाओं में सर्प को सामान्यतः प्रेमी के रूप में और सर्पिणी को कठोर बदला लेने वाले प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है।

राजस्थानी लोक साहित्य में लोकोक्तियों का विशेष स्थान है और इन लोकोक्तियों में भी प्रकृति की झंकार हमें स्पष्ट सुनाई देती है। लोक साहित्य की अन्य विधाओं के समान यहां भी प्रकृति के उन्हीं तत्वों का विशेष उल्लेख है, जिन्हें यहां के लोग दिन रात देखते सुनते और महसूस करते हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं :—

"बैठतांई ऊंट ने टांणी नीं करणी।"
"धीणो भैंस रौ व्हो मलोंई सेर ई।"

"कागौ किणरौ धन खोसे, कोयल किणनै देय।
जी भड़ल्यां है कारणे, जग अपणौ कर लेय॥

"मौरियो पांखियां ने देख ने राजी व्हे
पण पगां ने देख र झुरै।"
"रूपा रा रूडा रोही डै रा फूला"

राजस्थान के निवासियों के लिए वर्षा वरदान है और उसका विशेष महत्व है। इसलिए यहां के बालक जोर जोर से "मैं बाबा आय जा, घी ने रोटी खायजा।" कहकर उसकी कामना करते हैं। वर्षा आगमन के लिए यहां के लोक साहित्य में अनेक लोकोक्तियां प्रसिद्ध हैं यथा——

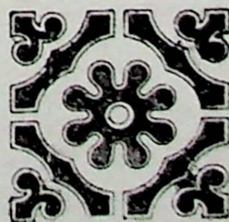
"आगम सू जै सांढ़णी, दौड़े थलां अपार
पग पटके······जद मेह आवणहार।"

राजस्थान में भरपूर वर्षा कभी कभी ही हो पाती है किन्तु अकाल अनचाहे मेहमान की तरह जब चाहे तब आ टपकता है। इसलिए वर्षा के समान अकाल के बारे में भी अनेक लोकोक्तियां प्रचलित हैं। यथा—"दिन में स्याल जो सबद करै, निरूचै है काल हलाहल पड़ै।"

राजस्थानी लोक साहित्य की पहेलियों में भी प्रकृति चित्रण पर्याप्त मात्रा में है। उदाहरणार्थ "कांचर की बेल" के लिए यह पहेली राजस्थान के परिवेश पर कितनी सटीक है——

"नव जाया नव पेट में नव नांनेरे जाय।
म तो करूं तो भले जिणूं, काल पड़्या कांई खाय।'।"

ओस की बूंदों के लिए यह पहेली भी दृष्टव्य है—
"बिरखा बरसी रात ने, भींजी से बणराय।
घड़ो न डूबे लोटियो, पंछी तिरसा जाय॥"



राजस्थानी लोक साहित्य में हास्य-व्यंग्य

—पुरुषोत्तम छंगाणी

राजस्थान की वीर-प्रसविनी धरती रण-जूझारों की पावन रमणस्थली रही है। राजस्थान का इतिहास आन, मान व मातृभूमि पर सर्वस्व उत्सर्ग करने वाले स्वाभिमानी शूरवीरों की गौरवपूर्ण गाथाओं से ओत-प्रोत है। यहां की रणचंडी क्षत्राणियों ने जोहर का उत्कृष्ट आदर्श धारण कर त्याग व शौर्य का अद्भुत परिचय दिया और नारी जाति को सामाजिक प्रतिष्ठा की ऊंचाइयों पर पहुंचा दिया था। ऐसे रजपूती धर्म में आकण्ठ डूबे राजस्थान के लोक-साहित्य-कारों एवं निर्भीक कवियों का मुख्य स्वर "वीरगान" या "शौर्य स्तुति" हो तो कोई आश्चर्य नहीं। राजस्थान के चारण कवियों ने अपना कवि-धर्म बड़ी ईमानदारी से निभाते हुए एक ओर जहां वीरत्व का अभिनंदन किया, वहां मुर्दा-दिल इंसानों में साहस के प्राण भी फूंकने में कोई कसर न रखी।

यह सच है कि वीरत्व के आराधक कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के व्यक्तित्व का कहीं-कहीं अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है, परन्तु यह भी उतना ही सही है कि इन स्वाभिमानी एवं निर्भीक कवियों ने क्षात्र-धर्म का पालन न करने वाले कायर, चरित्रहीन एवं देशद्रोही राजा-उमरावों की सार्वजनिक भर्त्सना भी की है। उनके ये कृत्य लेखन के प्रति उनकी यथेष्ट ईमानदारी के परिचायक तो हैं, परन्तु इतिहास साक्षी है कि इसके लिए उन्हें बड़ी कीमत भी चुकानी पड़ी है। राजस्थानी में ऐसे काव्य को "विसहर" कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है—निन्दा स्तुति। राजस्थानी का वीर-स्तुति काव्य, भाव व कला पक्ष की दृष्टि से जितना उत्कृष्ट है उतना ही श्रेष्ठ "विसहर" काव्य भी है। इसी "विसहर" काव्य को हम कुछ आधुनिक हास्य-व्यंग्य का प्राचीन रूप कह सकते हैं। विसहर से हटकर कुछ विशुद्ध हास्य-व्यंग्य की रचनाएं भी की गई हैं। साथ ही, राजस्थानी के इस हास्य-व्यंग्य की रचनाओं में हमें कवित्व की आक्रोश भरी गहराइयां व पैनी चोट क्षमता लक्षित होती है।

अब प्रस्तुत है, हास्य-व्यंग्य की उत्कृष्ट रचनाओं के कुछ आदर्श उदाहरण। इन से हमें मालूम होगा कि राज-स्थानी में केवल वीर रस की धाराएं ही नहीं फटी है, बल्कि विभिन्न रसों के निर्मल स्रोतों ने जन-जीवन को सरस बनाया है। युद्ध और आवेग के गंभीर वातावरण में भी हास्य-व्यंग्य की गुदगुदाने वाली फूलझड़ियां छूटी हैं।

मेवाड़ के महाराणा सज्जनसिंह को संवत् 1937 में अंग्रेजों की ओर से सितारे हिंद (जी०सी०एस०आई०) की उपाधि दी गई थी। इस अवसर पर चारण कवि ने एक करारा व्यंग्य कसते हुए कहा—

"आगे आगे बाजता, हिंद-हददरा सूर।
अब देखो मेवाड़पत, तारा हुआ हुजूर।।

तात्पर्य यह है कि-पहले समय में तो मेवाड़ के महा-राणा हिन्द के सूर्य कहलाते थे और अब वे "तारा" होकर रह गये हैं। महाराणा की प्रतिष्ठा सूर से घटकर "तारे" तक रह गई है। कवि ने एक छोटे से दोहे से कितनी गहरी व्यंग्यभरी चोट की है। अंग्रेजी शासनकाल में राजपूतों की गिरती हुई दशा पर कवि चिंतित रहे हैं। उन्होंने नाम-मात्र के राजपूतों पर आक्रोश करते हुए कहा है—

"ठाकुर गेया, ढग रहया, रहया मुलक रा चोर।
वे ठकराण्या मर गई, ठाकर जिणती और।।

"वे घोडा, वे गाम, रिजक वही, राजा वही।
रजपूतां रो राम, नीसरग्यो क्यूं नोपला।।"

कवि दुखी है कि घोड़े, राज्य, ग्राम सभी वहीं हैं परन्तु राजपूतों का "राम" उनके अंतस से क्यों निकल गया है। इसलिए" वह कहता है कि—

"आजकाल रा ठाकरां, थांसू ठाकराणयां रूड़ी।
फिट है थारी पाघड़ी, घिन वांरी चूड़ी।।

राजस्थान के कवियों को राज-समाज में आदर व ऊंचा स्थान प्राप्त था। वे समय-समय पर अपने आश्रयदाताओं से हंसी-मजाक करने से भी नहीं चूकते थे। जोधपुर के महाराज सर प्रताप ने अपनी वेश-भूषा त्याग कर अंग्रेजी पहनावा

अपना लिया था। यह कवि को सहन नहीं हुआ। उसने कहा---

"दाड़ी मूंछ मुंडाय के सिर पर धरियों टोप।
प्रतापसी तखतेसरा, (थारै), बाकी घटे लंगोट ॥"

राजस्थान की नारियां सब कुछ सह सकती थी, परंतु अपने पति की कायरता, पति की युद्ध से विमुखता या देश द्रोहिता उसके लिए पूर्णतः असहय रही है। राजस्थान के कवियों ने ऐसी वीर नारियों की ओर से अपने धर्म से च्युत पतियों के लिए उपालंभ भरे व्यंग्य रचे हैं यथा---

"दुसमण देसां लूंटकर, लै ज्यावै परदेस।
राजन, चुड़ल्यां पहरलो, धरो जनाना वेस ॥"
दूध लजाया माय रो, कीनो देस गुलाम।
के सलाम खुद झेलता, कर दिया खुद सलाम ॥"
यो सुवाग खारो लगै, जद कायर भरतार।
रंडावो लागै भलो, होय सूर सिरदार ॥"

शत्रु देश को लूट कर माल विदेश ले जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में, हे राजन। आप चुप बैठे हैं? आपको तो चूड़ियां पहन कर स्त्री-वेश धारण कर लेना चाहिए।

हे राजन। आपने मां का दूध लजा दिया है, क्योंकि आपके कारण देश गुलाम हो गया है। कहां वे दिन थे जब आप सलाम स्वीकार करते थे और कहां आज का वक्त है कि आप स्वयं दूसरों को सलाम कर रहे हैं।

क्षत्राणी कहती है---जब पति कायर हो तो वह सुहाग भी अच्छा नहीं लगता, परंतु यदि पति शूरवीर है तो वैधत्व भी भला लगता है।

उपर्युक्त दोहों में कायर व्यक्तियों के लिए कितना तीक्ष्ण व्यंग्य किया गया है। कायर पति से तो वैधत्व भी अच्छा---यह नारी का मूलमंत्र रहा है और इसी मूल मंत्र ने पुरुषों को संघर्षशील रहने को प्रेरित भी किया है। इतिहास के पन्नों पर ऐसे तीक्ष्ण व्यंग्य बाणों के चमत्कारी प्रभावों की अनगनित उज्जवल मिसालें देखी जा सकती हैं।

राजस्थान के लोक कवियों ने अन्य असामाजिक तत्वों पर भी व्यंग्य किये हैं जो शाश्वत सत्य की तरह जन-मानस में प्रचलित हैं। जातिगत स्वभाव पर रचे गये व्यंग्य-दोहे यर्थाथ को उजागर करने वाले समझे जाते हैं, यथा---

"सब सूं बुरो सुनार, बाण्यो उण सूं ही बुरो।
दरजी घानतदार, दीठो कोई न दानिया ॥"
अग्गम बुद्धि बाणियो, पिच्छम बुद्धि जाट।
तुर्तबुद्धि तुरकड़ो, बामण सप्पम पाट ॥"

सुनार स्वभाव से सबसे बुरा होता है, परन्तु बनिया उससे भी बुरा है। कवि दानिया कहता है कि कभी किसी दर्जी को ईमानदार नहीं देखा है।

बनिया सदैव आगे की सोचने वाला होता है, जाट हमेशा पीछे की सोचता है, मुसलमान समय पर सोचने वाला होता है, परंतु ब्राहमण तो मुफसफा यानी बिना किसी सोच का होता है।

पाखंडी साधु-संतों पर भी करारे व्यंग्य दृष्टव्य है---

"चेला लावे मांग कर, बैठा खावे मंथ।
राम भजन का नांव है, पेट भरण का पंथ ॥"
मूंड मूंडाया तीन गुण, मिटी टाट की खाज।
बाबा बाज्या जगत में, मिल्या पेट भर नाज ॥"

शिष्य भिक्षा मांग कर लाते हैं और महंत लोग बैठे ठाले खाते हैं। राम के भजन का तो केवल नाम है, वस्तुतः पेट भरने का ही पंथ हैं।

सिर मुंडाने से तीन लाभ हैं---खोपड़ी की खाज मिटती है, लोग बाबाजी के आदरयुक्त नाम से पुकारते हैं और पेटभर खाने को अनाज मिल जाता है।

भोजन-भटट ब्राह्मणों के प्रतीक से दूसरों की हानि पर अपने स्वार्थ को साधने वाले लोगों पर पैना व्यंग्य करते हुए किसी कवि ने कितना सुंदर कहा है---

"कथा इतरो जीमजो, जिण सूं फार मरंत।
म्हूं रांड होऊं तो भल होऊं, पर घर हांण करंत ॥"

हे पति। दूसरों के यहां इतना खा लेना, इतना खा लेना कि उससे भले ही तुम्हारा पेट फट जाये और तूं मर जाये। मैं विधवा भले ही हो जाऊं, पर दूसरों के घर की हानि अवश्य होनी चाहिए।

इस प्रकार राजस्थानी काव्य में व्यंग्य की एक संक्षिप्त मगर भव्य झलकी आपने देखी। अब कुछ उदाहरण हास्य के प्रस्तुत किये जा रहे हैं। राजस्थानी के कवियों की समर्थ लेखनी से हास्य रस की अत्युत्तम रचनाएं भी निरवृत हुई हैं। इन हास्य रचनाओं का काव्य सौष्ठव देखते ही बनता है। लोकोक्तियां व कहावतों आदि में भी हास्य-व्यंग्य की ऊंचाइयां दृष्टव्य हैं। आज के रंग मंचीय कवियों की तरह उनका हास्य-व्यंग्य फूहड़ नहीं था। उक्त चमत्कार से विशुद्ध हास्य का सृजन उनकी महान उपलब्धि रही है। रावण के सम्बन्ध में किसी कवि की रचना देखिए :---

"राजा रावण जनमियो, दस मुख एक सरीर।
जननी में सांसौ भयो, किण मुख धालूं खीर।

राजा रावण ने एक शरीर व दस मुंहों के साथ जन्म लिया था। उसकी माता संशय में पड़ गई कि किस मुंह में दूध डाला जाये।

जब कभी किसी मेले, उत्सव या शादी के अवसर पर अलग-अलग क्षेत्रों के कविगण मिलते थे तो "रेंयाण" के

समय प्रायः वे एक दूसरे के क्षेत्रों, राज्यों आदि पर हास्य-व्यंग्य की आशु रचनाएं करने से नहीं चूकते थे। हंसी-मजाक में रचा गया काव्य भी साहित्य की अमूल्य निधि हो गया है। मारवाड़ प्रदेश (मौजूदा जोधपुर, जैसलमेर क्षेत्र) पर तो कई हास्य-उक्तियां कहीं गई हैं, यथा---

"वाकूं बावा। देसडो, पाणी संदी तात।
पांणी केरै कारणै, पिव छडे अधरात।।

हे बावा! वह प्रदेश जलाने योग्य है जहां पानी का भारी कष्ट है। पानी प्राप्त करने के लिए प्रियतम आधी रात को ही अकेला छोड़ कर चला जाता है। पानी निकालने वाले रात रहते ही कुंए पर चले जाते हैं, अन्यथा वे पानी से वंचित रह जायें।

अकाल-भूमि जैसलमेर के बारे में कहा गया है--

"पग पूंगल, धड कोटड़े, बाहू बाडड़मेर।
फिरतो-धिरतो-बीकपुर, ठावोजैसलमेर।।"

अकाल कहता है कि मेरे पांव पूंगल में हैं, बाहें बाड़मेर में और धड़ कोटड़ा में है। घूमता फिरता बीकानेर भी जाता हूं, मगर जैसलमेर तो मेरा स्थायी निवास है।

ढूंढाड़ (जयपुर), प्रदेश के बारे में व्यंग्य किया गया है--

"गाजर मेवो, कांस खड़, पुरख ज पून-उधाड़।
ऊंधा ओझर अस्तरी, अई हो धर ढूंढाड।।'

जहां पर गाजर ही मेवा है, घास के नाम पर केवल, कांस ही पैदा होता है, जहां के पुरुष चूतड़ों को ढकते ही नहीं और उलटे पेट वाली स्त्रियां हैं। ऐसे ढूंढाड़ देश, तुझे धन्य है।

अंत में हास्य का एक आख्यान, प्रस्तुत करता हूं। इसमें एक मस्त चारण कवि ने किस प्रकार हास्योक्ति से बात पलट कर सजा के स्थान पर पुरस्कार प्राप्त कर लिया था। पंद्रहवीं सदी में जैसलमेर में एक स्वतंत्र प्रकृति का चारण कवि हुआ था--रंगरेलो। यथानाम तथा गुण। उसने जैसलमेर के राजा पर कई हास्य-व्यंग्य की रचनाएं की थीं, इस कारण उसे निर्वासित कर दिया गया था। अपने निर्वासन काल में वह घूमते-घूमते जालोर राज्य में चला गया था। एक दिन किसी तालाब के किनारे अपने कपड़े धो रहा था तो वहां से नवाब की सवारी निकली। पानी के छींटे नवाब के कपड़ों पर पड़े तो वे क्रोध में चिल्लाएं--ओ कुट्टन (धोबी)। नवाब आगे कुछ बोलते उससे पहले ही रंगरेला कवि बोला--"कुटटन थारो (तुम्हारा) बाप" इस पर नवाब व उसके चाकरों ने क्रोध में तलवार म्यान से निकाली और उसे मारने को तत्पर हुए। कवि स्थिति समझ गया और अपनी गलती का उसे अहसास भी हुआ। नवाब के चाकर उस पर वार करते उससे पूर्व कवि बोला--"जहांपनाह, मैंने गलत नहीं कहा है। सच में आपके पिताजी तो महान कुटटन रहे हैं" सभी आश्चर्यचकित होकर कवि की ओर देखने लगे। कवि ने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा--'मालिक, आपके पिताजी को मैंने महान कुटटन इसलिए कहा है कि वे एक महान शूरवीर योद्धा थे। फिर कवि ने कविता सुनानी शुरू की--

"कुटटन थारो बाप जिणै--बाढाणो कुटटी।।
कुटटन थारो बाप जिणे सिवाणो लुटटी।
कुटटन थारो बाप जिणे सिरोही झूंटी।
कुटटन थारो बाप जिणे वाह--वाही लुटटी।।

कुटटन (योद्धा) तुम्हारा बाप था, जिसने बाड़मेर को सर किया था। कुटटन तुम्हारा बाप था जिसने सिवाना को लूटा था। कुटटन तुम्हारा बाप था जिसने सिरोही को झड़प लिया था। कुटटन तुम्हारा बाप था जिसने सर्वत्र प्रशंसा अर्जित की थी।

जालोर के नवाब साहब कवि रंगरेला की इन पंक्तियों को सुनकर क्रोध भूल गया और उसके चेहरे पर गर्व का रंग चढ़ गया। कवि की लंबी कविता पूरी होने के बाद उसके मुंह से निकला--"वाह कवीश्वर! तुम्हारा जवाब नहीं।" नवाब ने अपने गले से मोतियों का हार निकालकर कवि को भेंट किया और दरबार में उपस्थिति देने का सादर अनुरोध किया। बाद में नवाब ने कवि को ससम्मान पुरस्कृत किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थान का प्राचीन साहित्य हास्य-व्यंग्य की उत्कृष्ट रचनाओं से समृद्ध है। यहां के कवियों ने वीर व शृंगार रस के साथ-साथ हास्य रस की रचनाओं में भी अपना अनुपम काव्य-कौशल उडेल दिया था। हास्य-व्यंग्य की ये रचनाएं जन-मानस का स्वस्थ मनोरंजन तो करती ही है, साथ ही जीवन संघर्ष के लिए अनुकरणीय प्रेरणा भी देती है।

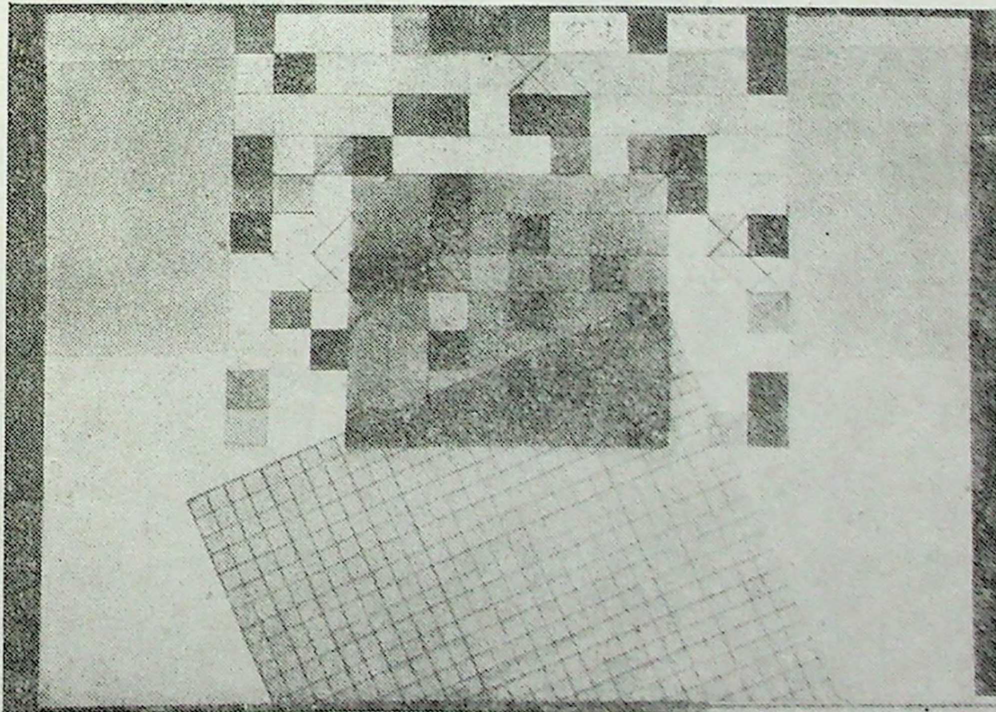


उदयपुर: आधुनिक मुहावरों में उलझी "आज" की कला

—जगदीश भाटी

कला और संस्कृति दोनों ही दृष्टियों से उदयपुर समृद्ध रहा है। विशेषतः कला की एक दीर्घकालीन परम्परा अपने विशिष्ट कला सौष्ठव के माध्यम से कला जगत में पृथक अस्तित्व बनाये हुए हैं। उसी परम्परा अथवा परम्परा में, प्रयोग तथा आधुनिकता के आज के विशेष "आग्रह" को जोड़ते हुए या फिर नवीनतम प्रयोगों की व्यापक धुनियों की मृगतृष्णा में स्वयं अपनी "पहचान" या उस पहचान को चिरस्थाई बनाने की उत्कंठा आज भी यहां के कलाकारों को कुछ निरन्तर नवीन करते रहने के लिये प्रेरित किए हुए है। यही कारण है कि जीवन की विविध अनुभूतियों की गहराई में पैठते हुए सृजन के प्रति सत्यनिष्ठा के साथ यहां का कलाकार जी रहा है।

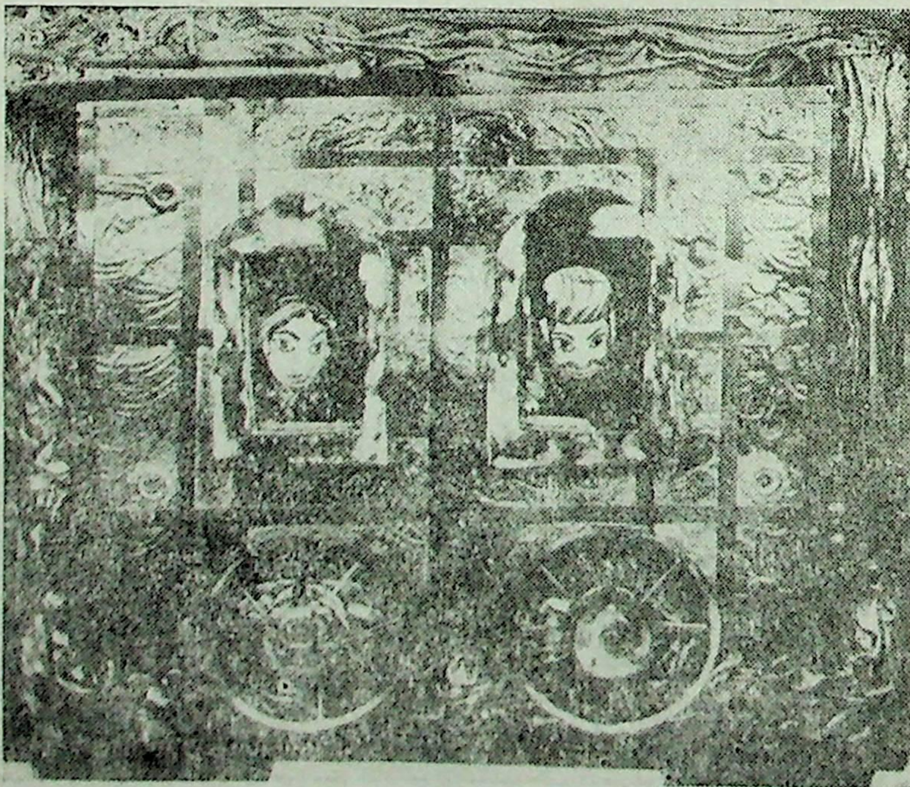
"आज" की कला पर चर्चा करते हुए उदयपुर में हो रहे इस ओर विशेष नवीन प्रयोगों का संदर्भ अपने आप में एक आवश्यक तत्व बन गया है। यहां के युवा प्रयोगरत कलाकारों की अपनी एक विशिष्ट पंक्ति है जिनकी कृतियों से आशाएं बनती ही हैं तथा साथ ही उनकी अपनी "पहचान" भी स्वतः उभरती सी प्रतीत होती है। वस्तुतः नवीन-नवोत्थान आन्दोलन के वैशिष्ठय से ही यहां की कला में विविधि अनुपम प्रवृत्तियों का शुभारम्भ हुआ। शान्ति निकेतन में दीक्षित गोवर्धन जोशी ने ही यहां की कला परम्परा को एक नवीन मोड़ दिया। यही नहीं अपितु इसके उपरान्त चित्रण शिल्प में कई नवीन संभावनाओं का उद्भव कला जगत में शुभ लक्षण ही कहा जा सकता है।



"परम्परा" का परिमार्जन एवं पुनः संस्कार कर उसके नवीन परिष्कृत स्वरूप को अपने ही ढंग से विकसित कर उसे नये आयाम प्रदान कराना सहज नहीं है। इसी चुनौती को स्वीकारते हुए यहां के कला-साधकों ने नित्य नवीन प्रयोगों के माध्यम से कला जगत में एक "हलचल" सी पैदा अवश्य ही की है।

पारम्परिक चित्रण-शिल्प को नवीन परिवेश में अलंकृत कर कला की धूरियों के विकास का श्रेय अग्रणी एवं वरिष्ठ कला साधक गोवर्धन जोशी को है। इन्होंने कृत्तियों में लोक परम्परा को सर्वथा नवीन परिवेश में प्रस्तुत कर पृथक अपनी ही एक सृष्टि का निर्माण किया है। "अनुभव" एवं "कल्पना" के अनुपम समन्वय के आधार पर जिस सौन्दर्य सृष्टि का निर्माण हुआ है उसमें कलाकार का भाव जगत अत्यधिक क्रियाशील रहा है और इसलिये कला में उनकी एक स्वछन्द सृष्टि है। जिसमें उनकी प्रतिमा स्वतः ही उजागार हो प्रेक्षकों को विशिष्ट आनन्दानुभूति का अहसास कराती है। परमानन्द चोयल भी यहां के कला जगत का बहुचर्चित नाम है। इनकी कृतियों में "परम्परा" एवं 'आधुनिकता" का अनूठा एवं विलक्षण-समन्वय प्रेक्षक को अपनी ओर आकृष्ट करता है। "मूर्त" से "अमूर्त" की ओर अग्रसर होता प्रयास रचनात्मक संवेदना के साथ ही "सहजता" को भी स्पष्ट करता है। चित्रों में कहीं स्पष्ट तो कहीं धूमिल सी होती गई आकृतियां एक अलग सा ही वातावरण बनाती हैं। तेल रंगों के उनके चित्रों में जिनमें कुछ "सेरे" भी हैं जलरंगों सा प्रभाव कलाकार की अपनी दक्षता ही कही जा सकती है। परस्पर एक दूसरे में समाते रंगों की परतों में जहां रंगों के कई व्यक्तित्व हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं वहां ही कई "मनःस्थितियों" का स्पष्टीकरण भी कृत्तियों में विशिष्ठ अभिनव गति का समावेश करता सा प्रतीत होता है। प्राचीन भवनादि की जर्जरित प्राचीरों पर उभरते असंख्य "टेक्सचरों" को जिस दक्षता से कलात्मक सौन्दर्य को "फ्रेम" में जड़ा है वहां एक विशिष्ट संतुलन भी अपने आप में दृष्टव्य है। हाल ही में तैयार की गई कृतियों में निर्वसनाओं की स्थूल देहों के मांसल उभार छटपटाते अंग-प्रत्यंगों में अपने में ही गहराती रंगते जीवन की विभिन्न स्थितियों का आभास सा देती है।

परम्परा में गहन आस्था तथा उससे सम्बन्धित मान्यताओं को स्वीकार कर अपने ही ढंग से उन्हें नवीन परिवेश में ढालते हुए उसके परिष्कृत स्वरूप को कृत्तियों में अलंकृत कर "परम्परा" और "आज" का सुन्दरतम समन्वय स्थापित करने का प्रयास स्वयं में 'प्रयोग' ही तो है जो केवल 'साधन" के रूप में प्रस्तुत हुआ है न कि "साध्य" रूप में। यद्यपि इस प्रकार की कृतियों को आज का "प्रयोग" कोई विशेष महत्व नहीं देना चाहता तथापि इन्हें नकारते हुए विस्मृत कर पाना भी संभव नहीं है। "आज" क जब हम संवाद का विषय बनाते हैं तो 'कल" पर भी दृष्टिपात करना अत्यावश्यक हो जाता है क्योंकि "कल" जो "आज" का आदि है या "स्रोत" है के आधार पर ही हम आज तक के अतीत की अवधारणाओं या परम्पराओं के क्रमिक विकास की प्रक्रिया का समुचित ज्ञान प्राप्त करते हैं। "कला" और आंज के मध्य स्थित अन्तराल में ही तो परम्परा या इतिहास का क्रमिक विकास निहित है। बिना इतिहास या अतीत के क्या हमारा अस्तित्व संदेहास्पद न हो जायेगा। तो फिर "आज" के लिये जो नींव बना अथवा जिसने 'आज" के निर्माण या विकास में नवीन प्रयोगों की संभावनाओं को व्यापकता प्रदान की उसको सहज ही में विस्मृत कर "आज" से संपूर्णतः विलग कर देना क्या संभव हो सकता है ?



हाँ छुक छुक

उदयपुर के नित्य बदलते जा रहे भौतिक परिवेश के साथ ही परम्परा मूल्यों एवं मान्यताओं में भी काफी कुछ बदलाव सा हो गया है और उस बदलाव का प्रभाव यहां की कला परम्परा पड़ना "आज" की नियति ही कहा जा सकता है। "प्रयोग" ही मूल में आज की कला पर हावी है। यहां का अधिकांशतः युवा कलाकार वर्ग कला परम्परा को नवीन दृष्टिकोण से लेकर विविध प्रयोगवादी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर हो रहा है। पाश्चात्य के प्रभाव से आज के देशकाल में परम्परा, मूल्य एवं आवधारणाएं जिस गति से बदलती जा रही हैं और उससे जहां सर्वत्र "कुंठा" और "संत्रास्त" से लिप्त परिवेश का निर्माण हुआ है उसी ने सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रतिमानों को तेजी से पतनोन्मुख भी किया ही है। आज के "संक्रमण" काल का सम्पूर्ण परिवेश आज की कला को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किये हुए है। उससे विलग हो सर्वथा अपने आसपास से कटकर जीना भी असंभव है। इसी अर्थ की गहनता से परिचित हो यहां के कलाकारों का वर्तमान की आवश्यकता का अहसास कर कला को एक नये ही रूप में प्रतिष्ठापित करने का सहज प्रयास उल्लेखनीय है। इन किये गये प्रयासों में भी हमें स्पष्टतः दो भिन्न दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। एक तो वह जो अतीत की किसी भी "मान्यता" एवं "मूल्य" से चिपक कर उसके बारे में सोच विचारने हेतु बाध्य नहीं होना चाहता, अपितु आज के देशकाल में नित्य प्रतिदिन टूटती जा रही अतीत की आवधारणाओं एवं जीवन मूल्यों के ह्रास से उत्पन्न संक्रमणता के यथार्थ, को उन्मुक्तता के साथ भोगना चाहता है। इसलिये पाश्चात्य की सभी विकसित कला प्रवृत्तियों का विस्तृत अथवा आंशिक प्रभाव इन कलाकारों की कृतियों में कहीं न कहीं परिलक्षित होता ही है। "प्रयोग को आधुनिक मुहावरों की जिजीविषा में जीवित ये कृतियां जहां अपनी धरती से सर्वथा कटी हुई सी दृष्टिगत होती हैं वहां ही किसी न किसी प्रकार चाहे वह रंगविधान, आकार, प्रतीक या वैचारिक तत्व ही हो——अपनी धरती से "जुड़ी" हुई भी हैं ही।

आज की कला में यहां अत्याधुनिक प्रयोगों की ओर विशेषतः आकृष्ट व्यक्तित्व सुरेश शर्मा है। सुरेश शर्मा की कृतियों में कठोरतम फलक (हार्ड ऐज) और कोमलतम फ्लक (सोफ्ट ऐज) के अनुपम समन्वय के अन्तर्गत पाश्चात्य का प्रभाव स्पष्टतः समक्ष प्रस्तुत होता है। इनकी कृतियां परम्परावाद की प्रत्येक सीमा को लांघती हुई, सहज, असीमित, उन्मुक्त व आकारहीन रंगीन प्रकृति के आस्तित्व में संपूर्णतः लीन होती सी प्रतीत होती हैं। परम्परा से सर्वथा परे हटकर स्वछन्द नवीन अभिव्यक्ति के प्रति एक तीव्र "जिज्ञासा" कलाकार के अंतस को गहराई से स्पर्श किये हुए है। उन्मुक्त रंग विधान के माध्यम से प्रकृति के असीमित व अनन्त स्वरूप को केनवास पर उतारने का सहज प्रयास अपनी विशेषता ही कहा जा सकता है। मूल रंगों की भिन्न-भिन्न रंगतों में जहां "कंपन" (वायब्रेशन) का आभरस होता है वहां ही विविध "मनःस्थितियां" स्वतः जागृत हो प्रेक्षक को अपनी ही रंगतों के माध्यम से सीमित क्षेत्र में "प्रकाशमय" अभूर्त रूपों का चित्रण शिल्प की विलक्षणता के साथ ही विचित्र सी "अनुभूति" का आभास देता है। ज्योमित्तीय आकार भी उनकी कृतियों में अपना पृथक प्रभाव छोड़ते हैं। अपने अमरीका प्रवास के अन्तर्गत वहां चल रही विविध कला प्रवृत्तियों से सुरेश शर्मा अत्याधिक प्रभावित दृष्टिगत होते हैं। यही कारण है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पाश्चात्य प्रवृत्तियों का प्रभाव उनकी कृतियों में कहीं न कहीं दृष्टिगत होता ही है।

लक्ष्मीलाल वर्मा भी यहां की "आज" की कला का एक परिचित नाम हैं। एक लम्बे अर्से से वर्मा "ग्राफिक्स" कला में प्रयोगरत रहे हैं तथा इस क्षेत्र में काफी नाम भी अर्जित किया है। हाल ही के चित्रों में भी उनकी ग्राफिक पद्धति का असर देखने को मिलता है। इन कृतियों में प्राथमिक रंगों का प्रयोग सहजभाव से प्रेक्षक को अपनी ओर खींचता सा है। हवशुद्ध ज्यामितीय आकारों की "पारदर्शी" रंग योजना के अन्तर्गत सूझ-बूझ के साथ की गई संरचना स्वयं में एक उपलब्धि है। कला में अन्तरंमन की अभिव्यक्ति की महता को प्रतिष्ठिापित करने की सहज प्रक्रिया इनकी कृतियों में परिलक्षित होती है। "दृष्य" जगत के साथ ही साथ "अदृश्य" रूपों को भी अपनी कृतियों में साकार रूप प्रदान कर कला सौष्ठव के वशिष्टय को उभारने का प्रयास अपने आप में विलक्षण है। "ज्यामितीय" एवं "प्राकृतिक" आकारों का अनुपम सामन्जस्य इनकी कृत्तियों में एक विशिष्ट प्रभाव छोड़ता सा प्रतीत होता है। इन चित्रों में रेखाओं का भी अपना पृथक छोड़ता सा प्रतीत होता है। इन चित्रों में रेखाओं का भी अपना पृथक अस्तित्व स्पष्टतः दृष्टिगत होता है——गतिशील रेखाओं का संयोजन कलाकार के कृतित्व को अत्यन्त प्रभावोत्पादक बना देता है।

उदयपुर की "आज" की कला में देवीलाल पुरोहित और हर्ष छाजेड़ भी कुछ न कुछ जोड़ने के सम्यक भाव से प्रेरित हो प्रयोगरत हैं। दोनों ही की कृतियों में ज्यामितीय आकारों का "संयोजन" कला सौष्ठव के बैशिष्ठय को उभारता सा प्रतीत होता है। पुरोहित के चित्रों में रंगों की विविधता रंगों के अपने "व्यक्तिवों" को स्पष्टतः प्रेक्षक के समक्ष प्रस्तुत करने में सहायक भी हैं। कठोरतम फलक (होर्ड ऐज) के अन्तर्गत "घनीय" आकारों का चित्रण विशेषतः दृष्टव्य है। डच कलाकार मोन्द्रिया की अभूर्तकला का प्रभाव इन कृतियों में देखा जा सकता है। ज्यामितीय आकारों के माध्यम से रचना कौशल को प्रदर्शित करने का एक सहज एवं बिश्वसनीय प्रयास हर्ष छाजेड़ की कृतियों में दृष्टिगत होता है। इन आकारों के साथ ही "प्रतीकों" का संयोजन भी अपने आप में एक प्रभाव छोड़ता हुआ सा अनुभव होता है।

विष्णु कुमार, राजाराम, विमला कोठारी, पूनम अग्रवाल, दिनेश अरोड़ा, हेमन्त चित्रकार, शशी सिंघल, अम्बालाल, स्नेहलता कोठारी, भामिनी तलेसरा, श्री निवासन अय्यर, गगन दाधीच आदि भी किसी न किसी प्रकार आज के प्रयोगवाद के विशेष आग्रह से जुड़कर रचना कर रहे हैं। इन कलाकारों की कृतियां यद्यपि आज के "प्रचलित" आधुनिक मुहावरों से सम्बद्ध है, तथापि उनमें "अपनापन" और एक विशिष्ट "आत्मीयता" कहीं न कहीं दिखाई देती अवश्य ही है। श्री निवासन अययर जहां अपने कोलाज के माध्यम से कला साधना में लगे हैं वहां गगन दाधीच ने अपनी कृतियों में मानवीय संवेदनाओं का चित्रण किया है। युवा मानसिकता की जकड़न व टूटन की अभिव्यक्ति विशेष दृष्टव्य है।

इन विशुद्ध प्रयोगवादी कृतियों से सर्वथा भिन्न अपने पृथक अस्तित्व को बनाये हुए एक पंक्ति ओर भी कलाकारों की है जो "प्रयोग" के प्रति आस्था तो रखती है, परन्तु परम्परा और संस्कृति से नितान्त कटकर भी नहीं। ऐसी कृतियों में "अतीत" को भी आज के नवीन परिवेश से अछूता न रखकर प्रस्तुत करने का सहज प्रयास सौन्दर्य-पासना की अपनी ही प्रक्रिया कही जा सकती है। इस धारा में बहकर सृजन कर रहे युवाकलाकारों की अपनी पहचान सी बनती जा रही है। इसके साथ ही ये कृतियां कई प्रश्न चिन्ह हमारे समक्ष प्रस्तुत करती सी प्रतीत होती हैं और ये सभी प्रश्न आप के वैचारिक द्वंद्व के मध्य चल रहे रचनात्मक संघर्ष से ही सम्बद्ध होते हैं। वास्तुशिल्पीय रूपाकारों के आधार पर आकर्षक प्रस्तावनाएं जहां नवीन सौन्दर्य सृष्टि का निर्माण कर रही हैं वहां यह बिन्दु भी अत्यन्त स्मरणीय है कि पारम्परिक शिल्प और यहां की मिनिएचर कला भी निश्चित रूप से उन की रचना में सहायक हो रही है।

शैल चोयल के चित्र उक्त धरातल पर ही विकसित प्रस्तावनाएं हैं जो कि असंख्य संभावनाओं को प्रस्तुत करती सी प्रतीत होती हैं। रंग, स्पेक्ष और परिदृश्य आदि को समाहित कर राजस्थानी मिनिएचर कला के वास्तुशिल्प तथा अन्य तत्वों को ज्यों का त्यों लेकर किये गये प्रयोग विलक्षण अनुभूति प्रदान करते हैं। इन सभी प्रस्तावनाओं से एक पृथक "लोक" या "सृष्टि" के विशिष्ट आनन्दानुभूति का सहज अनुभव प्रेक्षक को किसी गहराई तक छूता सा है और उससे कई "मनःस्थितियां", "स्पष्टत" उजागर होती है। इन चित्रों में "अतीत" व "वर्तमान" के असंख्य अन्तर सम्बन्धों का अपना अलग एक "संसार" दृष्टिगत होता है। शैल की रचनाओं से जहां विशिष्ट सौन्दर्यानुभूति का आभास होता है वहां ही प्राथमिकता एवं गहराये रंगों की विविध रंगतों का प्रयोग भी अपना "निजित्व" लुप्त नहीं होने देता। "पारलोकिक" एवं "ऐहिक" दोनों ही प्रकार की आनन्दानुभूति का सहज आभास प्रेक्षक को आकृष्ट करता ही है। शैल चोयल केन्द्रीय ललित कला अकादमी, नई दिल्ली द्वारा पुरस्कृत किये जा चुके हैं।

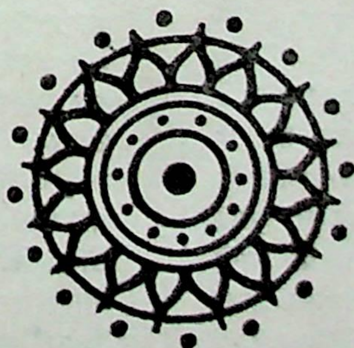


लेटर टू द इन्टीक्यूटी

किरण मुडिया, रामेश्वर सिंह, बसन्त कश्यप, ललित शर्मा आदि भी उक्त प्रवृत्ति से ही सम्बन्ध कलाकार हैं। इनमें अधिकांशतः वास्तुशिल्पीय आधार पर ही अपने ढंग से "प्रयोग" कर रहे हैं। जहां इनकी कृतियों में "एक रूपता" दृष्टिगत होती है वहां वहीं "एक रूपता" रंग की विविध श्रृंखलाओं एवं रूपाकारों की पारस्परिक भिन्नता के आधार पर एक स्थिति में जाकर समाप्त होती सी दृष्टिगत होती है। इसलिए इन रचनाओं में अलग-अलग कलाकारों का अपनापन कुछ कहने के लिए प्रेषक को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करता ही है। प्राचीन वास्तुशिल्प का रेखाओं द्वारा सरलीकरण और उसे भिन्न-भिन्न कोणों से नवीन अर्थों के साथ जोड़ने का प्रयास आधुनिकता से जोड़ता सा है ही। रामेश्वरसिंह राजस्थान की परम्परावादी फड़चित्रों में भिन्न भिन्न टेक्स्वरों के माध्यम से प्रयोग कर कला क्षेत्र में नवीन कुछ करने में रत हैं। केन्द्रीय ललित कला अकादमी नई दिल्ली, द्वारा पुरस्कृत हो चुके हैं।

तेज करण, शीला शर्मा, छाया भाटी आदि भी अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी पहचान बनाने की प्रक्रिया की ओर विशेषतः प्रयत्नशील हैं। इन सभी की कृतियों में भी हम परम्परा, लोक कला या पारम्परिक कला का नवीन परिवेश में प्रस्तुत करने का विशिष्ट आग्रह स्पष्टतः देखने को मिलता है। "प्रयोग" के प्रति "आकांक्षा" अथवा "जिज्ञासा" भी इनमें सहजता से परिलक्षित होती है। इस प्रकार इस सारी चर्चा के उपरान्त एक बात तो स्पष्टतः सामने आती ही है कि यहां की कला अपनी धरती की तलाश या अपनी पहचान बनाने या उसे चिरस्थाई बनाये रखने के अपने विश्वसनीय प्रयास की ओर अग्रसर है और अपने उस सम्यक ध्येय में उसने किसी सीमा तक सफलता प्राप्त की ही है। एक बात और भी है जो हमें कहने के लिए बाध्य करती है वह है कुछ "आकारों" एवं "प्रतीकों" का बार-बार चित्रांकण जो कलाकार के सीमित भावजगत को स्पष्ट करता है न कि व्यापकता को। परन्तु फिर भी कृतियों के स्तर में इससे कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाता।

विविध मुखी कला प्रवृत्तियों द्वारा उदयपुर की कला में नये "अर्थ" और "सन्दर्भ" जुड़े हैं। यहां का आज का कलाकार नये की खोज में अधिकांशतः परम्परा विच्छिन, अग्रगामी, अत्याधुनिक दृष्टिकोण के साथ सम्बन्ध स्थापित करता सा प्रतीत होता है। नवीनता में ही रमणीयता निहित है। अतः रमणीयता को प्राप्त करने हेतु आज का कलाकार प्रयोगरत है। इतना सब "आज" की कला में झांक लेने के बाद यह बात स्पष्ट है कि प्रयोग होने चाहिए वस्तुतः जीवन के यथार्थ "सत्य" या "अर्थ" को उदघाटित करने के लिए जो कि वास्तविक गहन अनुभूति के माध्यम से ही संभव है तथा जिसके लिए उदयपुर का आज का चित्रण शिल्पी सतत प्रयत्नशील दृष्टिगत होता है। पर आवश्यकता इस बात की है कि आज का कलाकार देश की परम्पराओं एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों का आज के देशानुकूल संस्कार एवं परिमार्जन कर उन्हें नवीन "रूप," तथा "अर्थ" में समाज के समक्ष प्रस्तुत करे। ताकि चिरन्तन आस्था एवं मान्यताओं के आधार पर निरन्तर प्रवहमान कला को "आज" के सन्दर्भ में "अपनी" कला कहा जा सके। जिसमें अपने "मूल" व "स्व" की प्रतिष्ठा हो और अपनी संस्कृति व धरती की सोंधी महक का अहसास हो सके। पर यह सब कुछ "कल" की शुभ आशाओं पर ही निर्भर है क्योंकि "आज" तो प्रयोग में पूर्ण लीन हो गया है।



वीर-विनोद

राजमल बोरा

राजस्थान की संस्कृति से यदि कोई परिचित होना चाहे और वह पूछे कि किसी एक ग्रंथ का नाम बतलाओ तो मैं उसे कवि राजा श्यामलदास का वीर विनोद ग्रंथ पढ़ने के लिए कहूंगा। हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसा महत्वपूर्ण ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है। सच तो यह है कि यह ग्रंथ छपने के बाद भी बंध नहीं सका। किसी जिल्दसाज के पास यह ग्रंथ पहुंचा ही नहीं। छपे हुए फार्मे कालकोठरी में बरसों तक बन्द रहे। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के बाद इन फार्मों का उद्धार हुआ और फार्मों के रूप में ही जिन विद्वानों ने इसका महत्व जाना, वे इसे उदयपुर के सरस्वती पुस्तकालय से ले गये। सरकारी कीमत पर ही इन फार्मों को बेचा गया। संभवतः अब तो वे फार्मे उपलब्ध न हों। इसी ग्रंथ को मैं भी फार्मों के रूप में सन् 1971 ई० में ले आया था। इन फार्मों को मैंने 8 भागों में विभाजित कर सबको अलग-अलग ग्रंथ का रूप दिया है। इस ग्रंथ का अति संक्षेप में परिचय यहां पर दे रहा हूं और चाहता हूं कि यह ग्रंथ प्रकाशित हो तो भारतवर्ष के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ेगा। इतिहास-राजनीति, समाजशास्त्र और साहित्य को समझने में यह ग्रंथ बहुत ही उपादेय हैं और इस ब्याज से हम हमारी संस्कृति से भी परिचित हो सकते हैं।

–2–

वीर विनोद के पृष्ठ साढ़े तेरह इंच लम्बे और साढ़े दस इंच चौड़े हैं। 8 जिल्दों में विभाजित इस ग्रंथ के पृष्ठों की संख्या 2685 है। मोटे और सुवाच्य अक्षरों में यह ग्रंथ छपा है। 8 जिल्दें मैंने अपनी सुविधा से बनाई हैं। वैसे कविराजा श्यामलदास ने इसे संभवतः दो भागों में विभाजित किया है। पहला भाग जहां, समाप्त होता है, वहां इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। प्रथम भाग, समाप्त साफ लिखा है। यह भाग 426 पृष्ठों का है। दूसरे भाग में 20 प्रकरण हैं और इनकी कुल पृ० संख्या 2259 है। इस तरह 426 और 2259 दोनों का योग करें तो कुल पृष्ठ संख्या 2285 होती है। वीर विनोद के रचयिता कविराजा श्यामलदास ने अपना परिचय इस ग्रंथ में दिया है। कविराजा के शब्दों में ही परिचय नीचे लिख रहा हूं :—

"मेरा (श्यामलदास) जन्म विक्रमी 1893 द्वितीय आषाढ़ कृष्ण 7 (हि० 1252, ता० 20 रबीउलअ० वल-ई० 1836 ता० 5 जुलाई) को और मेरा प्रथम विवाह विक्रमी 1907 (हि० 1266-ई० 1850) में, और दूसरा विवाह विक्रमी 1916 (हि० 1276-ई० 1849) में हुआ। विक्रमी 1918 (हि० 1278-ई० 1861) में मेरी बड़ी स्त्री का देहान्त हो गया। विक्रमी 1927 (हि० 1287—1870 ई०) में मैं अपने पिता का क्रमानुयायी बना। विक्रमी 1904 (हि० 1263-ई० 1847) में मैं अपने पिता के साथ महाराणा स्वरूपसिंह की सेवा में आया था। इसके दो तीन वर्ष पहले से मैंने सारस्वत और अमरकोश पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। उसके पीछे दूसरे भी कोश और काव्य तथा साहित्य के ग्रंथ पढ़ता रहा। फिर मुझको ज्योतिष का शौक हुआ और थोड़ा सा गणित का अभ्यास करके फलित ग्रंथों में लग गया। मुहुर्त-चिन्तामणि, मुहुर्तमार्तण्ड, मुहुर्तगणपति, जातकाभरण, मुहुर्तमुक्तावलि चमत्कार चिन्तामणि, हिलारजातक, लघपाराशरी, बृहत्पाराशरी, षटपंचाशिका, प्रश्नभैरव और हायनरत्न वगैरह कई ग्रंथ देखने के पश्चात फलितपर से मेरी श्रद्धा उठ गई। फिर मेरा चित्त थोड़े दिनों के लिए मंत्र शास्त्र सिद्धनागार्जुन, इन्द्रजालादिक की तरफ रूजू हुआ, लेकिन उनकों भी व्यर्थ जानकर शीघ्र ही चित हट गया। फिर मैंने थोड़े दिनों के लिए वैद्यक पर चित्त लगाया। अलबत्तह इस विद्या में मुझको कुछ लाभ मालूम हुआ, लेकिन अंग्रेजी डाक्टरों से मित्रता होने के कारण संस्कृत वैद्यक का अभ्यास छूट गया। उसके बाद मुख्य विद्या काव्य, कोश और साहित्य की तरफ मन लगाया, और बीच-बीच में महाभारत, रामायण, भागवत, देवी भागवत आदि कई पुराण ग्रंथ भी देखे। इन सब का फल यह हुआ, कि मेरे मन से मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन और डाकिन, भूत, मूठ, जादू वगैरह का वहम बिलकुल निकल गया। इसी के साथ धर्मसम्बन्धी ग्रंथों में भी संदेह होने लगा। तब मैंने वेदान्त के पंचदशी वगैरह छोटे छोटे ग्रंथ देखे, जिससे कुछ विश्वास हुआ, क्योंकि संसार में जितने धर्म है, उन सब में बहुत कुछ बारीकियाँ निकाली गई हैं, लेकिन यह सोचा कि सब सृष्टि का नियम बनाने वाली कोई एक वस्तु है, अनेक नहीं, इसीलिए कुछ मजहबों में एक दूसरे के साथ कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य

है; परन्तु सच्चाई दया और ईमानदारी प्रभृति अच्छी बातें और झूठ, चोरी तथा हिंसा आदि बुरी बातें सब मजहबों की राय से एक ही हैं और सबों के मत से सृष्टि को बनाने वाली वस्तु एक और व्यापक है इसलिए मैंने सब मतों की राय के अनुसार अपने ही वेदान्त शास्त्र को ठीक जानकर उसी पर सन्तोष कर लिया। फिर मेरा शौक ज्यादातर इतिहास की तरफ झुका, लेकिन हमारे ऐतिहासिक ग्रंथों को तो लोगों ने मजहब में मिलाकर बढ़ावे और करामाती बातों से बहुत ही कुछ भर दिया है और इसके सिवा पुराने ग्रंथों में देखा जावे, तो साल संवत भी नहीं मिलते; अलबत्तह हमारे काव्य और जैन के ग्रंथों से कुछ-कुछ साल संवत् और इतिहास का प्रयोजन सिद्ध होता है। मैं इन बातों को खोजने में लगा हुआ था, कि इसी समय याने विक्रमी 1928 (हि० 1288-ई० 1871) में मेवाड़ के पोलिटिकल एजेन्ट ने महाराणा शम्भुसिंह साहिब से मेवाड़ का इतिहास बनाने के लिए बहुत कुछ कहा। तब महाराणा साहिब ने इस काम के लिए दो चार आदमी मुकर्र किए, लेकिन जैसा चाहिए वैसा काम न चला। फिर मुझको आज्ञा मिली।"

–3–

(वीर विनोद, प्रथम भाग, पृ० 181, 182 और 183 स्पष्ट है कि वीर विनोद इतिहास का ग्रंथ (प्रधान रूप से कहना चाहिए) है। और इसका काम सन् 1871 ई० में शुरू हुआ। इसमें मेवाड़ का इतिहास है। वीर विनोद के प्रथम भाग में (426 पृष्ठों में) भारतवर्ष का भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक परिचय है और इस परिचय में मेवाड़ के इतिहास की भूमिका आ गई है। मेवाड़ के संदर्भ में ही भारतवर्ष का परिचय दिया गया है। मेवाड़ के महाराणा सांगा तक का इतिहास प्रथम भाग में आ गया है। दूसरा भाग महाराणा रतनसिंह से शुरू होता है इस दूसरे भाग में जैसे कि पहले ही लिखा गया है 20 प्रकरण हैं और इन 20 प्रकरणों में महाराणा रतनसिंह से महाराणा सज्जनसिंह के शासनकाल तक अर्थात् सन् 1884 ई० तक का इतिहास वीर विनोद में है। महाराणा फतेहसिंह का इतिहास वीर विनोद में नहीं है। महाराणा सज्जनसिंह का देहान्त 1884 ई० में हो गया था। उसके बाद फतेसिंह महाराणा हुए।

–4–

वीर विनोद का काम सन् 1871 ई० में शुरू हुआ और यह काम लगभग पच्चीस वर्षों तक चलता रहा। छपाई के साथ इस काम को जोड़ लें तो इसका समय अनुमान से और भी पांच वर्ष तक बढ़ सकता है। बात यह है कि 1884 ई० तक का इतिहास इसमें है। इसलिए 1871 ई० से 1884 ई० तक का काल तो निश्चित ही है। इसके साथ-साथ वीर विनोद के प्रथम भाग में 1891 ई० की मर्दुमशमारी की संख्याएं दी गई हैं। अतः 1891 ई० के बाद में इसका लेखन चलता रहा है, यह प्रमाणित है। निश्चित ही लेखन का मुख्य कार्य 1891 ई० के बाद में होता रहा है। यह काल तीन चार वर्ष भी मान लें तो 1895 ई० तक का काल तो आगे बढ़ जाता है: कविराजा श्यामलदास की मृत्यु कब हुई और वीर विनोद ग्रंथ प्रकाश में आने से क्यों रह गया, इस सम्बन्ध में अनुमान ही करना पड़ेगा। इतनी बात तो निश्चित है कि इस ग्रंथ के निर्माण में दो दशकों से अधिक समय लगा है।

–5–

कविराजा श्यामलदास ने ग्रंथ किस तरह से लिखा और लिखने के लिए सामग्री किस तरह एकत्रित की इसका विवरण दिया है। कविराजा लिखते हैं—

"मैंने (कविराजा श्यामलदास ने) और पुरोहित पद्मनाथ ने ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी करना शुरू किया (सन् 1871 ई० से) और कुछ सामग्री एकत्र होने के बाद तवारीख लिखना शुरू कर दी, परन्तु इसका मुसवद्दह बहुत बढ़ावे के साथ लिखा जाने लगा, क्योंकि पहले मुझको इतिहास विद्या में पूरा अनुभव प्राप्त नहीं हुआ था, केवल दो चार फार्सी तवारिखें देखकर उसी ढंग से तअस्सुब के साथ लिखने लगा। थोड़े ही दिन पीछे ईश्वर ने इस कार्य को रोक दिया, याने महाराणा शम्भुसिंह साहिब का परलोकवास होने से मेरे दिल पर बड़ा भारी सद्मा पहुंचा, जिससे यह काम भी बन्द हो गया, लेकिन मैंने ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठा करना नहीं छोड़ा। अपने तौर पर पाषाण लेख, सिक्के ताम्रपत्र, पुराने कागजात, जनश्रुति, भाषा और संस्कृत के ग्रंथ, काव्य तथा अंग्रेजी व फार्सी वगैरह ऐतिहासिक पुस्तकें एकत्र करता रहा। इसी अरसे में वैकुण्ठवासी महाराणा सज्जनसिंह साहिब ने मुझको कुछ दिनों बाद मुसाहिबों (मंत्रियों) में दाखिल करके अपना सलाहकार अर्थात् मुख्यमंत्री बना लिया, जिससे मुझको रियासती कामों के सबब इस काम के लिए बहुत ही कम फुर्सत मिली। रियासती प्रबन्ध में मेरी तुच्छ सलाह से विद्या की उन्नति, देश का सुधार, सेटलमेंट और जमाबन्दी का प्रबन्ध कौन्सिल वगैरह न्याय की कचहरियों का खोला जाना, नई-नई इमारतों के बनाने से देश को रौनक और प्रजा को लाभ पहुचाना वगैरह अनेक अच्छे अच्छे कार्य किये गये, जिनका फल इस वक्त दिखाई दे रहा है। (वीर विनोद भाग 1, पृ० सं० 183) महाराणा सज्जनसिंह के समय में मुख्यमंत्री हो जाने के कारण कविराजा श्यामलदास को इतिहास लिखने के लिए समय ही नहीं मिला। अंग्रेज अधिकारी चाहते थे कि यह काम होना ही चाहिए। अतः कर्नल इम्पी (मेवाड़ पोलिटिकल एजेन्ट) ने महाराणा सज्जनसिंह से प्रार्थना की कि कविराजा श्यामलदास को अन्य कार्यों से मुक्त कर केवल इतिहास लेखन का महत्वपूर्ण कार्य ही दिया

जाये। और तब महाराणा सज्जनसिंह ने कविराजा को अन्य कार्यों से मुक्त कर दिया। ठीक अर्थ में यह काम 1879 ई० में आरम्भ हुआ। कार्य के आरम्भ होने के बाद का विवरण इस प्रकार है—

"मैंने गवर्न्मैंट अंग्रेजी से पाषाणलेख पढ़ने वाला एक आदमी मांगा इस पर फ्लीट साहिब की मारिफत गोविंद गंगाधर देशपाण्डे नाम का एक पण्डित एक वर्ष से जियादह समय के लिए हमको मिला। इस पण्डित के जरिये से मैंने मेवाड़ और मेवाड़ के समीपवर्ती स्थानों के कई एक पाषाणलेख प्राप्त किये और हमारे दो तीन आदमियों को भी उक्त पण्डित के पास रखकर प्रशस्ति छापने और बांचने का कार्य सिखलाया। इन बातों से मुझको बहुत कुछ अनुभव हासिल हो गया। इसके बाद मैं रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल का मेम्बर बना और कुछ लेख भी उक्त सोसाइटी के जर्नलों में दिए। फिर उक्त सोसाइटी के मेम्बरों ने मुझको आर्कियोलॉजी और हिस्टरी का ऑनरेरी मेम्बर चुना और बाद उसके मैं रायल ऐशियाटिक सौसाइटी लन्दन व बंम्बई ब्रैंच रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी का मेम्बर हो गया। फिर हिस्टॉरिकल सोसाइटी लन्दन का फैलो बना। यदि मैं इन सोसाइटियों में लेख देने का ही काम रखता, तो कोई जर्नल मेरे लेख से खाली न रहता, लेकिन मैंने आज तक अपना कुल समय इसी इतिहास वीर विनोद के बनाने में व्यतीत किया। महाराणा सज्जनसिंह साहिब ने मुझको कविराजा की पदवी (खिताब), जुहार ताजीम, छड़ी, बॉहपसाव, चरण शरण की बड़ी मुहर, पैरों में सर्व प्रकार का सुवर्ण भूषण और पघड़ी में मांझा वगैरह सब प्रकार की इज्जत इनायत की और गवर्न्मैंट अंग्रेजी से मुझको महा-महोपाध्याय का खिताब मिला। वर्तमान महाराणा साहिब ने भी इस इतिहास वीर विनोद की कद्र करके मेरा बहुत कुछ उत्साह बढ़ाया। महाराणा सम्भुसिंह साहिब और सज्जनसिंह साहिब ने मुझको यह आज्ञा दी थी कि तवारीख में तारीफ नहीं चाहिए, उसी तरह वर्तमान महाराणा साहिब की भी अभिरुचि है, जिससे इस इतिहास के पूर्ण होने की आशा है।"(वीर विनोद भाग 1, पृ० 184 तथा 185)

कविराजा श्यामलदास का विवरण कुछ अधिक हो गया किन्तु यह सब देना मैंने इसलिए आवश्यक समझा कि ग्रंथ के रचयिता का परिचय ही नहीं अपितु ग्रंथ की योजना का भी और योजना से सम्बन्धित प्रयत्नों का बोध भी हो जाए।

—6—

कविराजा श्यामलदास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन थे। वीर विनोद जैसा इतिहास ग्रंथ भारतेन्दु काल में ही लिखा जाता रहा है। महाराणा फतेसिंह के समय में अर्थात् 1884 ई० के बाद में भी यह ग्रंथ लिखा जाता रहा है। लगता है दूसरा भाग पहले लिखा गया और पहला भाग, जो भूमिका के रूप में है, बाद में लिखा गया हो। दूसरे भाग के आरम्भ में भूमिका लिखी हुई है और प्रकाशन तिथि—प्रकाशन के आरम्भ होने की तिथि कहना चाहिए—दी है। और इस तिथि का उल्लेख इस प्रकार है—

पूर्वजवीरविनोदप्रकाश सज्जनमनोरविंदस्थान
विकिरन् परागपुंजान् जयति श्रीमान फतेसिंह
सम्वत् 1943 मित्रवासर—चैत्र शुक्ल 15—

अर्थात् वीर विनोद का प्रकाशन 1886 ई० से आरम्भ हुआ। भूमिका में लिखा है—

"इस इतिहास के विभाग करने का इस तरह विचार किया था कि जब अकबर बादशाह ने, विक्रमी संवत 1624 चैत्र कृष्ण 11 (हिजरी 975 तारीख 25 शाबान-ईसवी 1568 तारीख 24 फेब्रुअरी) को, चित्तौड़ का किला फतह किया, उस समय से वर्तमान समय तक का हाल इसमें लिखा जावे, परन्तु देखा गया तो महाराणा उदयसिंह के पिछले चार वर्ष का हाल इस भाग में और पूर्व वृत्तान्त अन्य में रहने लगा, इससे पढ़ने वालों के मन का पूरा सन्तोष न होगा यह सोचकर महाराणा (संग्राम सिंह) सांगा के अंत समय विक्रमी 1584 (हिजरी 934-ई० 1527) तक का हाल इसमें हो, ऐसा निश्चय किया गया, क्योंकि रत्नसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह का इतिहास मिला हुआ है।

(दूसरे भाग की भूमिका से)

प्रथम भाग में 1891 ई० तक के विवरण हैं इसलिए यह कहना ठीक होगा कि दूसरे भाग का प्रकाशन पहले हुआ और प्रथम भाग का बाद में। क्योंकि दूसरा भाग तो 1886 ई० छपना आरम्भ हो गया था। वीर विनोद में दूसरा भाग ही प्रधान है और इसे मेवाड़ का इतिहास कहा गया है। यह विनोद नाम कविराजा श्यामलदास ने आरम्भ किया है। इतिहास वास्तव में वीर लोगों के लिए विनोद का काम करता है। मिश्रबन्धुओं ने भी अपने इतिहास (हिन्दी साहित्य के इतिहास का) नाम विनोद ही रखा है। विनोद का अर्थ यहां इतिहास हो गया है किन्तु वास्तव में तो इसका अर्थ अभिधा से लक्षणा और फिर व्यंजना तक पहुंच कर ही समझा जा सकता है। मिश्र-बन्धुओं ने अपने विनोद के लिए जो लिखा है "हिन्दी साहित्य का इतिहास" है और इसी तरह कविराजा श्यामलदास ने वीरों के विनोद के लिए जो लिखा वह इतिहास है। इतिहास वीरों के लिए विनोद की सामग्री है।

—7—

कविराजा श्यामलदास महाराणा स्वरूप सिंह के समय में राजसेवा में काम करने लगे थे। किन्तु इतिहास लेखन का काम उन्हें महाराणा शम्भुसिंह के समय में सौंपा गया और इनको सर्वाधिक सम्मान महाराणा सज्जनसिंह के समय में मिला। महाराणा सज्जनसिंह के ये मुख्य सलाहकार और

ख्यमंत्री भी रहे हैं। सन् 1875 ई० में महारानी विक्टोरिया का पुत्र एडवर्ड एलबर्ट जब बम्बई आया था, उस समय महाराणा सज्जनसिंह उदयपुर से बम्बई गये थे। महाराणा के साथ कविराजा श्यामलदास भी गये थे। उस समय की बम्बई के सारे राजनीतिक समाचार वीर विनोद में मिल जाते हैं। मैं कहना यह चाहता हूं कि इतिहास लिखने वाले व्यक्ति के पास इतिहास की सारी सामग्री मौजूद थी और वह स्वयं उसका प्रधान अंग रहा है। मेवाड़ के घराने का इतिहास वह व्यक्ति लिख रहा है, जिसको सब प्रकार के अधिकार अपने समय में प्राप्त रहे हैं। कविराजा महाराणा के निजी सलाहकार और मुख्यमंत्री रहे हैं और उन्हें मेवाड़ घराने का मुख्य पुस्तकालय सुलभ था। महाराणा सज्जनसिंह ने अपना निजी पुस्तकालय बनाया था और उसका नाम सज्जनवाणी विलास रखा था और यह पुस्तकालय सन् 1875 ई० में कविराजा को सौंप दिया था।

–8–

कर्नल जेम्स टॉड ने एनल्स एण्ड एण्टीक्वीटिज ऑफ राजस्थान––ग्रंथ लिखा है। राजस्थान का यह प्राथमिक इतिहास ग्रंथ माना जाता है। इस इतिहास की भूलों का निर्देशन कविराजा श्यामलदास ने वीर विनोद में स्थान-स्थान पर किया है। उदाहरण के लिए टॉड साहब ने मीरांबाई को महाराणा कुंभा की रानी लिख दिया तो उसका निराकरण करते हुए कविराजा ने साफ लिख दिया कि टॉड साहब धोखा खा गये हैं। (देखिये, वीर विनोद, भाग 2, पृ० 1 तथा 2) यह इतिहास भाट लोगों का इतिहास नहीं है। इसमें पृथ्वीराजरासों के विवरणों की जांच करते हुए यह प्रमाणित किया है कि रासो में ऐतिहासिक भूलें हैं। इतिहास की दृष्टि से रासो को कविराजा ने प्रमाणित नहीं माना है। लिखा है––

> हमारे ख्याल से जिस तरह मलिक मुहम्मद जायसी ने पदमावती का ख्याली किस्सा बना लिया, उसी तरह पृथ्वीराजरासा भी किसी ने ख्याली बना लिया है क्योंकि इसमें थोड़े से सही नामों के साथ ख्याली नाम और ख्याली किस्से घड़ लिए गये हैं। (वीर विनोद प्रथम भाग पृ० सं० 279)

सच तो यह है कि कविराजा ने अपने इतिहास को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयास किया है। कविराजा के इतिहास में जितना इतिहास लिखा हुआ, लगभग उसी परिमाण में इतिहास के लिए प्रामाणिक सामग्री भी––मूल दस्तावेजों के रूप में कहना चाहिए––संकलित है। यह ग्रंथ अपने आप में इतिहास और इतिहास के लिए साधन स्रोतों का काम भी करता है। पाषाणों पर लिखे हुए अभिलेख, इसमें यथावत प्रकाशित हैं। पुरातत्व विभाग की दृष्टि से भी वीर विनोद भरपूर सामग्री प्रदान करने वाला ग्रंथ है। जिन्हें नया इतिहास लिखना हो, वह इस सामग्री का उपयोग कर सकता है। समय-समय पर मेवाड़ के राज दरबार से जो राजनीतिक और सामाजिक पत्र व्यवहार होता रहा है और कानून कायदे बदलते रहे हैं, उन सब के दस्तावेज की मूल नकलें वीर विनोद में ऐतिहासिक क्रम में प्रकरणों के अंत में यथावत् प्रस्तुत है। साहित्यिक सामग्री का उपयोग भी कविराजा ने किया है। अंग्रेजों के काल का भारतवर्ष का रजवाड़ों का कच्चा चिटठा इस ग्रंथ में विस्तार से है। लगता है, जब यह ग्रंथ छपने लगा तो और छपते छपते पूर्ण हो गया तो जिल्द का रूप धारण करने से पहले ही किसी ने महाराणा से कुछ कह दिया हो कि इतिहास में यह लिखा हुआ है। और यह नहीं लिखा जाना चाहिए था। फिर क्या है? महाराणा जितने पसीजते हैं, उतने ही कुपित भी होते हैं। परिणाम यह हुआ कि छपे हुए फार्मों को कालकोठरी में बन्द कर दिया गया। यह गनीमत है कि इन्हें जलाया नहीं गया। और जो महान इतिहास ग्रंथ सन् 1900 से पहले ही छप गया था सन् 1947 ई० तक भारतवर्ष के स्वतंत्र होने तक अंधकार में रहा और क्या आज भी वह प्रकाश में है? इतने विशाल ग्रंथ को राजस्थान में इतनी साहित्यिक संस्थाओं और परिषदों के होने पर भी छापने का साहस किसी में नहीं है यह काम सरकार ही कर सकती है। इसका छपना बहुत आवश्यक है क्योंकि भारतवर्ष के किसी राजघराने का एक व्यक्ति द्वारा लिखा हुआ (आधुनिक बाने में कहना चाहिए) इतिहास और कोई उपलब्ध नहीं है। इस इतिहास की भाषा को देखकर भी हिन्दी गद्य के निखार की कल्पना की जा सकती है। महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के पूर्व का यह काल है। राजस्थान में हिन्दी गद्य के प्रचलन का स्वरूप भी ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रंथ के आधार पर हो जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में और विशेष रूप से आधुनिक काल का इतिहास लिखते समय इस प्रदेश के गद्य साहित्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यहां पर मैंने वीर विनोद के साहित्यिक पक्ष पर कुछ भी नहीं लिखा है। इतिहास को कविराजा ने केवल राजनीतिक इतिहास के रूप में नहीं लिखा है। इसमें उन्होंने समाज-संस्कृति और साहित्य को भी जोड़ लिया है। विश्वास करता हूं कि इतिहास प्रेमी इस ग्रंथ के प्रचार-प्रसार प्रकाशन के लिए प्रयत्नशील होंगे।



राजस्थान के अज्ञात कवि : कृष्णदास

--कु० श्यामा सिंधी

संतों की वाणी से इस देश की भावधारा सदा प्रभावित रही है जिसने एक तरफ संस्कृति को बल प्रदान किया तथा दूसरी तरफ जनमानस को नैराश्य के गर्त में जाने से बचाया है। पश्चिमी राजस्थान के भक्तिकाल में जहाँ मीरा जैसी भक्त कवयित्री ने अपनी अमृतोपम वाग्धारा से जनमानस को आत्म-विभोर किया तो रीतिकाल में नामदेव वंशीय भक्त कवि श्री कृष्णदास जी ने कृष्ण भक्ति धारा को प्रवाहित किया।

भक्त कवि नामदेव कृष्णदास जी के जीवन के बारे में कहा जाता है कि वे उत्तर भारत के प्रसिद्ध संत द्वारिकादास जी की आत्मा थे। संवत् 1973 में वैरागी महात्मा द्वारिकादास जी हरिद्वार से आबू की यात्रा के लिए पधारे। यात्रा करने के बाद लौटते समय वे रामसेण ओपश्वरधाम में पधारे और वहीं चतुर्मास किया। उस समय रामसेण में नामदेव वंशीय तोलाजी से मिलना हुआ। तोला जी निःसंतान थे अतः उनकी पत्नी ने व उन्होंने संत महात्मा द्वारिकादास जी की खूब सेवा की। इस बीच में द्वारिकादास जी नाहरुरोग के शिकार हो गए जिसके कारण दूसरा चतुर्मास भी रामसेण में ही करना पड़ा। महात्मा जी को ऐसे रोग की अवस्था में तोलाजी उन्हें अपने घर पर ही लाए एवं दोनों पति-पत्नी ने मिलकर उनकी मन लगाकर सेवा की। ठीक होने पर जब वे रामसेण से रवाना होने लगे तो निःसंतान पति-पत्नी की आंखों में आंसू आ गए। उन्होंने महात्मा जी से रोते हुए कहा कि इतने दिन आप हमारे परिवार में रहे और हमने आपको अपने परिवार का ही सदस्य माना था, पर अब आप पधार रहे हैं। इतने दिन हम तीन थे अब वापस दो हो जाएंगे। महात्मा जी से उनका दर्द देखा नहीं गया। उन्होंने दम्पति को आशीर्वाद दिया और कहा कि अगले भाद्रपद मास में कृष्णजन्म के समय मैं तुम्हारे घर आऊंगा। ऐसा कहकर महात्मा जी वहां से चले गए एवं उन्होंने आबू पहुंचकर नक्शी में अपना शरीर छोड़ दिया। इसके बाद संवत् 1875 की भाद्रपद कृष्णा अष्टमी की आधी रात्रि में कृष्ण जन्म के समय तोलाजी के घर एक पुत्र ने जन्म लिया। पति-पत्नी दोनों बहुत खुश हुए। हर्षित दम्पति ने महात्मा जी के कथनानुसार उसका नाम कृष्णदास रखा। अपने जन्म आदि के विषय में स्वयं कृष्णदास जी ने लिखा है :

संवत वरस अठारपंचोत्तर भद्रतमों परव आठम भाखो,
अर्द्धनिशि वरतीत उदैशशि जन्म भयो कुल छीपक जाको,
तात तोला गुरु जीवन जानहु द्वारिकादास ददा गुरु दाखो,
ताहि के किंकर कृष्ण लधु कवि पुत्र प्रभुदत्त पाठक पाको ॥

(संवत अट्ठारह सौ पचहत्तर के भद्रापक्ष मास की अष्टमी के दिन अर्धरात्रि को चन्द्रोदय होने पर छीपक (दर्जी) वंश में लाधु कवि कृष्णदास का जन्म तोला रामजी के कुल में हुआ। मेरे गुरु का नाम जीवनदास जी व दादा गुरु का नाम द्वारिकादास जी है। विधाव्यसनी प्रभुदत्त मेरे पुत्र का नाम है।)

उपर्युक्त कविता से ज्ञात होता है कि कृष्णदास जी के पिता का नाम तोलाराम, गुरु का नाम जीवनदास जी एवं पुत्र का नाम प्रभुदत्त था। जीवनदास जी एवं कमलदास जी दोनों द्वारिकादास जी के शिष्य थे। कमलदास मोहब्बत-नगर में बिराजते थे अतः कमलदास जी के सान्निध्य में उनकी शिक्षा प्रारंभ हुई। इनके गुरू जीवनदास जी थे, पर वे अधिकतर भ्रमण करते रहते थे अतः कृष्णदास जी ने विद्या कमलदासजी से ग्रहण की। उनके आध्यात्मिक गुरु तो जीवनदास जी ही थे। चौदह पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में ही उनका विवाह हो गया। वे निरंतर भगवद् भक्ति में ही लीन रहते थे एवं साधु संतों से उनकी गोष्ठी होती रहती थी। कवित्त शक्ति थी ही अतः सत्संग मनभाव खूब होता था। कहते हैं कि महान व्यक्ति के मार्ग में कुछ न कुछ रोड़े अटकाने वाले मिलते हैं। कृष्णदास जी के साथ भी उनसे जलने वाले लोगों ने यही काम किया। उस समय रामसेण में ठाकुर नवसिंह जी राज्य करते थे। कृष्णदास जी की कीर्ति से जलने वाले चापलूसों ने उनके विरुद्ध ठाकुर साहब को भड़काया कि यह छीपा आपके राज्य में ढोंग रचकर जनता को बहका कर लोगों को ठग रहा है। यदि इसे भगवान मिले हों और बड़ा महात्मा संत हो तो यह आपका लंगड़ा पांव ठीक कर देगा अन्यथा इसे गांव से बाहर निकाल दो। ठाकुर साहब ने लोगों के कहने पर भक्त कृष्णदास जी को बुलाया एवं अपना पांव ठीक करने के लिए कहा। कृष्णदास जी ने कहा कि मैं तो साधारण व्यक्ति हू एवं भगवद् भजन करता हूं। न तो मैं भगवान हूं और न ऐसा अपने को मानता हूं ? भवतवर ने नवलसिंह जी ने ठाकुर साहब को बहुत प्रकार से समझाने की कोशिश

की पर वह नहीं माने और पांव ठीक न करने पर गांव से निकल जाने के लिए कहा। इस पर महात्माजी कृष्णदास ने ठाकुर साहब को कहा कि आपके चारों ओर यह स्वार्थी एवं चापलूस लोगों का गिरोह है। यह आपके काम आने वाला नहीं और आप मुझे गांव से मत निकालो उन्होंने कहा :

हाटों में हथियार गर्वीनर बाधे धणा।
भारत पड़िया भार कोइक नर लोभी कसनीया ।।

अर्थात्––रावले में प्रवेश करते हुए सभी लोग अपने [आपको भाग्यशाली गिनते हैं, पर जब हथियारों पर सान चढ़ती हो तब विरले ही उसको सहन कर सकते हैं।

अंत में उनके बहुत अनुनय-विनय करने पर भी जब नवलसिंह जी ने उनकी कोई प्रार्थना नहीं सुनी तब उन्होंने यह कहते हुए प्रस्थान किया कि पृथ्वी को मेढकों ने नहीं खाया है एवं मेरी भाग्य रेखा किसी ने पोंछ नहीं दी हैं, हे नवलसिंह जी आपके राज्य में संतों को रहने की आवश्यकता नहीं :

मही न खाधी मीडकी लूछी नहां लीलार।
नवला थारे राज्य में भक्तों ने कई भार ।।

वहां से फिर कृष्णदास जी सीधे रामसेण के नृसिंह मंदिर में गए भगवान से प्रार्थना की एवं अपने परिवार को लेकर रवाना हो गए। ग्रामांत तक बहुत से लोग उन्हें पहुंचाने गए। ऐसी स्थिति में उनकी पत्नी की आंखों में आंसू आ गए तब उन्होंने अपनी पत्नी को ढांढ़स बंधवाते हुए कहा कि जिस गांव में कृष्ण भक्तों के लिए कोई स्थान नहीं उनमें किसी भी प्रकार का दयाभाव न हो, जहां साधु जनों की सेवा का भाव नहीं रखते हैं, योद्धाओं की कीमत नहीं की जाती, पर परानारी की प्रति जहां निवास करती है, जहां अज्ञान का अंधकार छाया हुआ है एवं वेद लबाड़ियों के वचन माने जाते हैं उस गांव के गंवारों को तुरन्त छोड़ देना चाहिए :

जिन गांव दया ध्रमदान नहीं।
निज नाम नहि गिरधरिन लो ।।

भट साधु जना हित रोव नहिं।
जठे नेम खरो परनारिन लो ।।

अप्रीत अबूझ अज्ञान बसै।
अरु वेद को वाक्य लबारिन लो ।।

लाख सलाम करो क्रसना इन।
तज रै इन गांव गंवारिन को ।।

फिर अपनी पत्नी से कहा कि अपनी चिंता तो वही परमात्मा करेगा जिसने जन्म दिया है :

चिंता करसी सोय जिन स्वना एती स्वो।
हाथी सूंड न होय कि जल पीवेकसनीया ।।

कृष्णदास जी अपने गुरु कमलदास जी के पास बुगाडा जाना चाहते थे, पर पूनग गांव की धुरगांव की पाति के लोगों ने उन्हें अपने यहां रख लिया। वहां बाड़मेर जिले के गड़ानगर के रावतजी धुरगांव के संबंध के कारण आते जाते थे। उन्होंने इस संत महात्मा (कृष्णदास) के विषय में सुन रखा था एवं जब उनका इनसे प्रत्यक्ष संबंध हुआ तो वे उन्हें गड़ानगर लेकर चले गए, जहां वे बारह साल तक रहे। इधर रामसेण में बहुत नुकसान हुआ उनके सारे घोड़े मर गए एवं कई दुष्टजनों की मृत्यु हो गई तो ठाकुर साहब ने बहुत पछतावा किया। वे ग्राम के सभी वर्गों के लोगों को लेकर भक्तवर कृष्णदास जी को बुलाने गए एवं उन्हें मना लाए। जैसे ही वे ठीकाने में प्रविष्ट हुए उन्होंने पिंजरे में एक सूअर एवं सूअरनी को देखा। उनके हृदय में प्राणी मात्र के प्रति अथाह प्रेम था उन्होंने उन्हें बराहावतार मानकर तराह स्तुति की रचना की एवं उनमें ईश्वर का रूप देखा। ठाकुर सा० से कहकर उन्हें मुक्त करवा दिया।

श्री कृष्णदास जी का जीवन बड़ा ही सादा और सरल स्वभाव का था। संत कबीर, दादू और अन्य संत की तरह ही महात्मा जी भी सच्चे कर्मयोगी थे। अपनी आजीविका के लिए कपड़े सीना, हाथ की रंगाई, छपाई, चित्रकारी, जिल्दसाजी और पठन-पाठन का काम करते थे।

एक बार संवत 1925 में बड़ा भारी अकाल पड़ा। घर की अवस्था शौचतीय हो गई तो रामसेण के नृसिंह मंदिर में प्रेमपुकार की रचना की। कहते हैं कि भगवान कृष्ण ने भक्त की भक्ति को देखकर सहायता के लिए बनजारे का रूप धारण किया और गांव में अनाज बेचने के लिए निकल पड़ा। लोगों को उस अनाज का भाव बहुत ऊंचा बताया गया इस पर कृष्णदास की गरीबी की हंसी उड़ाते हुए लोगों ने कहा कि इतने दाम तो वह कृष्णदास ही दे सकता है हम इतने दाम में नहीं ले सकते। पूछते-पूछते श्रीकृष्ण भक्त के घर गए और बिना कुछ कहे ही सारा अनाज डाल दिया। कृष्णदास जी की पत्नी घर पर थीं उनकी पत्नी ने कहा कि हमारे पास तो दो समय का खाना भी नहीं है और हम इतने सारे अनाज का पैसा कैसे देंगे। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम कह देना कि कोई बनजारा यह अनाज डाल गया है इस पर कृष्णदास जी की धर्मपत्नी को बड़ा आश्चर्य हुआ। आखिर यह सब क्या है, इसमें जरूर कोई राज है। उन्होंने उस अनाज को तब तक नहीं छुआ जब तक कि शाम को पति घर नहीं आए। उनके आने पर पत्नी ने सारी घटना से कृष्णदास जी को अवगत किया। भक्त को समझते देर न लगी। उन्हें बहुत दुख हुआ कि भगवान ने उनके घर को तो पावन कर दिया, पर उन्हें दर्शन नहीं दिए तो वे पुनः आधी रात तक मंदिर में करुण भाव से भगवान के सामने खूब रोए। भक्त की भक्ति ने भगवान को अपने पास बुला ही दिया अर्थात्

भगवान ने उन्हें फिर दर्शन दिए और कहते हैं कि तब से ही नित्य उनकी पाठ की पुस्तक से सात रुपये मिलौडे कलदार निकलते थे जो तीस साल तक आए लेकिन इतने पर भी उन्हें घमंड कहां। यह रुपया उन्होंने साधु संतों की सेवा में खर्च किया। निस्पृह तो इतने थे कि तीन बार अपने घर का सामान लुटवा दिया।

इस प्रकार की घटनाएं कृष्णदास जी के साथ और भी हुई जिस प्रकार 'प्रेम पुकार' की रचना हुई। उसी प्रकार एक बार कृष्णदास जी को सांप ने काटा तो उन्होंने 'करूणाकष्ट' की रचना कर उसके विष को उतारा। उनकी प्रमुख रचनाएं निम्न हैं :

नाम	छंदसंख्या	रचनाकाल
तत्वबोध	100	1912
मुक्तामणि	108	1916
विवेक सागर	371	1924
अद्वैत प्रकार	200	1924
श्री गुरु महिमा	44	1925
प्रेम पुकार	27	1925
जस तिलक	169	1926
श्री बोध प्रस्ताव	50	1929
नरहरि लीला	310	1930
जानकी मंगल	114	1945
लंका काण्ड	235	1945
नामदेव चरित	200	1951

उपरोक्त कृति के अतिरिक्त इन्होंने कई फुटकर स्तोत्र, स्तुतियां, छंद एवं गीतों की रचना की जिनमें करूणाष्टक, शुभ कोरड़ों, गणपत्रिका, मंजरीनाम माला, विष्णु पत्रिका आपेश्वर, भीमेश्वर, सारणेश्वर विषयक शिव स्तोत बहुत प्रसिद्ध है। मुक्तिकाल उनका संवत् 1955 में कहा जाता है। उनके अवसान के समय वह अपने परिवार जनों को पास रखना नहीं चाहते थे लेकिन उपस्थित परिवार जनों ने जब यह कहा कि हम आपका वियोग सहन नहीं कर सकेंगे। हमको भी आप साथ ले लो। तब भक्तवर ने छः मास में सबको अपने पास बुलाने का आश्वासन दिया लेकिन प्रभुदत्त की पुत्री अमीया को अपने पास नहीं बुलाएंगे क्योंकि वह विवाहित है एवं अब पराई है। इस प्रकार छः मास में समस्त परिवार समाप्त हो गया।

सारांश

उपरोक्त विवेचन से भक्त कृष्णदास जी का जीवन व स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। वैसे कर्मयोगी महात्मा जी का कोई चित्र तो उपलब्ध नहीं है, पर भक्त परंपरा ने उनके शरीर के गठन का वर्णन इस प्रकार किया है--आपके शरीर का कद न अधिक लंबा, न ठिगना वर्ण गौर, शरीर गठीला, नेत्र बड़े चमकीले, दया और प्रेम भाव से भरे दिखाई देते थे। भक्त कृष्णदास जी की शरीर रचना से ही हमारे ऊपर उनके महान व्यक्तित्व का एक अलग ही प्रभाव पड़ता है। उनके विषय में कई प्रकार के चमत्कार उनकी भक्त मण्डली में प्रसिद्ध है।



आदिवासियों की रहस्यमयी तांत्रिक शक्तियां

—श्री कृष्ण 'जुगनू'

किसी भी प्रान्त की चिरन्तनी परम्पराओं की छाप वहां के आदिवासी—लोक जीवन में देखी जा सकती है। वे परम्पराएं चाहे ऐन्द्रजालिक भी क्यों न हो, आद्यन्त टोने-टोटके जैसी न्यूनता तो लिये ही होंगी। और न्यूनता अपनी विरानी अधिकता का परिचय दिय बिना नहीं रहती। आदिवासियों के तांत्रिक विश्वास भले ही हम उन्हें अन्ध-विश्वास कह दें, किन्तु उनके प्रथा-परिसर से गुजरने पर यह अभिज्ञान निर्मूल हो जाता है। दक्षिणी राजस्थान के आदि-वासी बहुल क्षत्रों ने भारतीय काला जादू का परम्परागत ढंग से निर्वाह किया है, कर रहे हैं—यह कहते कदापि अतिश्योक्ति नहीं होती है। यहां के आदिवासी अब भी अपने कुछ कार्यों की पूर्ति के लिये तान्त्रिक शक्तियों पर ही निर्भर और विश्वस्त हैं। इसीलिये वे हर मंत्र सिद्ध व्यक्ति को आदर। अभिवादन देते हैं। उनकी धारणा है कि वह उनके हर कार्य की पूर्ति और फन्द फान्दों का निराकरण कर सकता है।

"फन्द-फान्दे"

किसी आत्मा का किसी औरत या व्यक्ति के लग जाना फन्द-फान्दा कहलाता है। औरतों को प्रायः डाकिनियों के और व्यक्तियों को भूत प्रेतों के फन्द लगते हैं। इसके दौरान जब आत्मा शरीर में उपस्थित होती है, रोगी के दांत कटट करके भींच जाते हैं, वह हाथ पैर पटकने लग जाता है, सारा शरीर कम्पन करने लगता है, परिणामतः रोगी की मृत्यु तक हो जाती है। इन फान्दों का निवारण दो प्रकार से किया जाता है। पहला, आत्मा की मुराद पूरी कर और दूसरा पीट कर। पहली विधि में बुहारी से पवन डाल ओझा आत्मा का समाह्वान करता है, इससे आत्मा रोगी के शरीर में उपस्थित हो जाती है, न आने की स्थिति में मगर के कलेजे या लोबान की धूप दी जाती है। आत्मा के उपस्थित होने पर वह पूछता है कि वह क्या चाहती है?

डाकिनियें प्रायः साड़ी लहंगा या श्रृंगारिक वस्तुएं किसी निश्चित स्थान पर रखवाती हैं और भूत प्रेत मिटटी के बरतन में मक्का की गूगरी तम्बाकू, पान, शराब, मिष्ठानादि वस्तुएं या बलि लेकर रोगाक्रान्त व्यक्ति को प्रभावमुक्त कर देते हैं। यदि कोई विकराल आत्मा, जिसे नुगरी कहा जाता है, लगी है, तो उसके लिये ओझा अपने शक्ति सम्पन्न मंत्रों और देव शक्तियों का सहारा लेता है, अन्यथा स्वयं के प्राण संकट में पड़ जाते हैं।

"उपद्रवकारी बीर"

बीर वे तांत्रिक पिशाच होते हैं, जो किसी के घर भेजे जा सकते हैं, रखे जा सकते हैं। उनके वहां पहुंचते ही समग्र परिवार जनों में उपद्रव होने लगता है, शरीर में विभिन्न आत्माओं की उपस्थिति होने लगती है विचार शक्तिक्षीण होने लगती है, असमय मृत्यु से घर श्मशानवत् हो जाता है और अन्ततः वहां जिन्नों का डेरा लगने लगता है। वह आदिवासी जो किसी से बदला लेने की भावना रखता है—ऐसे बीरों की सिद्धि करता है।

श्मशान में जाकर गड़े हुए कुछ गिरिरशवों को बाहर निकालना, विशेष मंत्रों से उनमें प्राण प्रतिष्ठा कर प्राणों को पुनः काले उड़दों में प्रतिष्ठित करना—ऐसी शव साधना बीर क्रिया कहलाती है। बीरों के जंजीरे होते हैं, जिनमें एक साथ कई-कई बीर रहते हैं। बीरों को जिस भाषा में सम्प्रेषित किया जाता है, दुश्मन के घर पहुंचने पर वे रोगी को वैसी ही भाषा में उच्चारण करवाते हैं।

ओझा जब वहां पहुंचता है, शरीर में उपस्थित बीरों से उनके आने का कारण और भेजने वाले के बारे में पूछता है। पता लगने पर वह उनकी अभिलाषा पूर्ति करा प्रभाव क्षीण करवाता है। कभी-कभी ऐसे कुकर्मी व्यक्तियों, जिन्हें "बीर दिया" कहते हैं, को मार दिया जाता है, ताकि यह क्रिया लुप्त होती जाय।

"मारण क्रियाएं"

हत्या के लिये आदिवासियों में बहुधा दो विधियां प्रचलित हैं। अविलम्ब मारण के लिय "मूठ" और असहय कष्ट दे-देकर मारण के लिये "कामण" का प्रयोग किया जाता है। मूठ में उड़दों का प्रयोग किया जाता है। ये उड़द पूर्व अभिमंत्रित करने होते हैं। जुम्मेरात को श्मशान में पीर का ढेर और भैरू की मूरत बनाते हैं। जीवित मुर्गे की हत्या कर खून से इनका अभिषेक करते हैं, उड़दों को इसमें रंगते हैं और पिशाच की आत्मा की इन उड़दों में करते हैं--प्राण प्रतिष्ठा। मूठ-सिद्धि की ऐसी शमशानमयी दास्तानें इस क्षेत्र में विशेषकर प्रचलित हैं। कहते हैं कुछ साधक किसी यंत्र को लिखकर जमीन में गाड़ देते हैं। उक्त स्थान पर उड़द बो कर अंकुरित होने से लेकर पकने तक सम्पुटी मंत्र से झाड़ का नियमित अभिषेक करते हैं। इसी तरह कुछ साधक मानव-कपाल में भी मिट्टी डाल, उड़द बोते हैं और पकने तक, झाड़ के समक्ष-मंत्र जापकर मूठ के पिशाच का आव्हान करते हैं। इन उड़दों पर मंत्र पढ़कर शत्रुपर फैंक देते हैं, फलतः अचूक वार हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस पर मूठ डाली जाती है, वह इसे पुनः डालने वाले व्यक्ति के पास भेज, उसे ही मारने की आज्ञा दे देता है। ऐसे में पहले वाले व्यक्ति के प्राण विपत्ति में पड़ जाते हैं। कभी-कभी वह उड़ते पक्षियों के पास उसे भेज देता है, बेचारे भोले-भाले पक्षियों की हत्या हो जाती है--ऐसे पैशाचिक कृत्यों से।

आदिवासियों में मारण की दूसरी क्रिया है कामण--या कीलण। इसके अंतर्गत तान्त्रिक आटे या मोम का पुतला अथवा भोजपत्र पर शत्रु का चित्र बनाते हैं। तदन्तर उसके कुछ भागों को लोहे की सूइयों से बींधते हैं? इसके बाद उसे एक निश्चित अवधि के लिय अनुबन्धित कर किसी स्थान पर रख या गाड़ आते हैं। यहीं से उस व्यक्ति का क्रमशः विनाश होना शुरू हो जाता है। घुटनों, जोड़ों में दर्द होता है, जो क्रमशः बढ़ता जाता है, खून बनना बन्द हो जाता है और पुतले की अनुबन्धित अवधि तक कष्ट साध्य जीवन बिता मर जाता है। कामण में अनुबंधित व्यक्ति का इलाज डाक्टर तक भी नहीं कर पाते हैं यह अकाट्य सत्य है। इसलिये कामण का संकेत लगते ही, आदिवासी "हाजरात-क्रिया" के जानकार के पास जाते हैं। इस क्रिया से कामण का पुतला निकाल, उसके अभाव को शून्य किया जाता है।

"तान्त्रिक न्यायालय हाजरात"

"हाजरात" से प्रत्येक तान्त्रिक क्रिया के प्रभाव को सुगमता पूर्वक देखा जा सकता है। हाजरात वस्तुतः "हजरत-अली" की न्यायालय है। हाजरात की मूल और प्रामाण्य क्रिया किसी बच्चे के दाये हाथ के अंगूठे पर विशेष काजल लगाकर सम्पन्न की जाती है। क्रिया के आद्यन्त ओझा मन्त्र का उपांशु उच्चरण करता है। क्रिया के प्रथम चरण में भंगी आकर झाडू लगा जाता है, द्वितीय में भिश्ती आ, पानी छिड़कता है, तृतीय में चपरासी आकर कुर्सियां लगाता है और अंतिम सोपान में स-अदब हजरत-अली आकर रोगी का मुकद्दमा सुनता है। रोगाक्रान्त व्यक्ति पर यदि किसी आत्मा का प्रभाव है, तो उसके संकेत प्रस्तुत होते हैं, और यदि प्राकृतिक कष्ट है, तो क्रिया आगे ही नहीं बढ़ती है। प्राप्त संकेतों के सहारे ओझा रोग की छान-बीन करना शुरू कर देता है।



भील गवरी : लोक नाट्य-नृत्य उत्सव

--एन० डी० चौधरी

संसार में संभवतः सब से लम्बी अवधि का धार्मिक, सामाजिक उत्सव अरावली पर्वत श्रेणीयों में निवासित भील जन जाति मनाती है। भाद्रपद कृष्ण पक्ष 3 (रक्षा बन्धन के तीसरे दिन) से आश्विन कृष्ण पक्ष अर्थात् दशहरा के पहले दिन तक निरंतर 43 दिन यह उत्सव मनाया जाता है। भील लोग "गवरी" (पार्वती) की पूजा के रूप में मनाते हैं।

"गवरी" भीलों की रक्षा करने वाली देवी है। प्रचलित दंतकथा के अनुसार "गवरी" भील कन्या है। उसके सौंदर्य पर मोहित शंकर भगवान उसमें निवास करते हैं। एक दिन गवरी के भाई द्वारा नन्दी (शंकर जी का वाहन) को चोट पहुंचाने से क्षुब्ध शंकर जी ने श्राप दिया कि गवरी के भाई असंस्कृत रहेंगे। तत्पश्चात् सब भाइयों ने मिल कर गवरी से याचना की कि श्राप वापस लेने के लिए वे शंकर जी को राजि करें। तब से भील लोग प्रति वर्ष वर्षा ऋतु में "गवरी' उत्सव मनाते आ रहे हैं।

एक अन्य पौराणिक कथा के अनुसार शिव जी ने भस्मासूर को जलाया था। भील लोग उसके भक्त थे। वे बुड़िया (शिव जी का स्वरूप) को भस्मासूर के प्रतीक के रूप में पूजते हैं।

दक्षिण-पश्चिम राजस्थान के भीलावड़ सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रति वर्ष सैंकड़ों गांव "गवरी" उत्सव मनाने की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए भोपा (गवरी व भीलों का मध्यस्थ व्यक्ति) के द्वारा श्रावण माह में किसी दिन रात जगाकर के माता जी से उत्सव मनाये जाने की स्वीकृति देने की याचना करते हैं। सामान्यतः एक गांव को 3–6 वर्षों में एक बार यह उत्सव मनाने का अवसर मिलता है। यदि गवरी माता जी स्वयं किसी गांव की अतिथि बनना चाहती हैं तब वह अपनी इच्छा भोपा को स्वपन में बता देती हैं। जिस गांव में "गवरी" लेने की अनुमति मिल जाती है उस गांव के प्रत्येक व्यक्ति को कृतार्थता महसूस होती है। जिस गांव को "गवरी" लेने की अनुमति नहीं मिल पाती वे किसी अज्ञात नैसर्गिक आपत्ति की आशंका से डरे डरे रहते हैं। उससे बचने के लिए वे अनुमति प्राप्त गांव की "गवरी" एक अपने गांव में खेलने के लिए आमंत्रित करते हैं।

प्रत्येक आशार्थी गांव में "खेलों का" (अभिनेत) एक दक्ष दल विद्यमान होता है। यद्यपि लोक नाट्यकार व नर्तक होते हैं।

भोपा (रक्षा के लिए गवरी माता जी की स्तुति करने वाला) कतकरिया (सम्वादों की व्याख्या करने वाला), गोरन्या (गवरी दल व क्षेत्रीय गांव का सम्पर्क व्यक्ति), पुजारा (माता जी के मन्दिर में पूजा करने वाला), राई (गवरी का स्वरूप), बुड़िया (शंकर जी का स्वरूप) आदि "गवरी" उत्सव के प्रमुख पात्र होते हैं। रक्षा बन्धन के दूसरे दिन सब प्रमुख पात्र शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि वे उत्सव के 43 दिन तक अपने अपने घर छोड़कर माता जी के (मन्दिर) देवरे में रहेंगे, हरी सब्जी, मांसाहार, मदिरापान तथा स्त्री सम्पर्क से परहेज करेंगे, दिन में एक बार ही भोजन करेंगे व रात-दिन माता जी की आराधना कर इसे तुष्ट करेंगे। उत्सव के अन्तिम दिन हाथी बडारने की विधि (माता जी की मूरत का विसर्जन) के पश्चात मन्दिर में मुख्य पात्रों को अग्नि परीक्षा देनी होती है। अग्नि परीक्षा के लिए माता जी के सामने जलती आग में वे अपने दोनों हाथ डाल देते हैं। यह मान्यता है कि अगर किसी ने प्रतिज्ञा पालन से कोताई की हो तो उसके हाथ जलेंगे अन्यथा नहीं।

"गवरी" उत्सव के पात्र चार प्रकार के होते ह-- भगवान, मानव, पशु व दुष्ट। 9 स्त्री व 17 पुरूष पात्र होते हैं। स्त्रियों को उत्सव में भाग लेने की अनुमति नहीं होती है। स्त्री पात्र भी पुरूषों द्वारा खेले जाते हैं। स्त्रियां उत्सव देख सकती हैं। जब प्रमुख पात्र खेलें उत्सव में रात-दिन लगे रहते हैं तब उनकी स्त्रियां खेत व घर की जिम्मेदारी बखूबी निभाती है।

"राईबुड़िया" के स्वरूप उत्सव का केन्द्र बिन्दु होता है बुडिया लाल पीली छींट की बंडी पहन कर पीठ पर चोपहराई ओढ़ें हाथ में नंगी तलवार पकड़े, चेहरे पर शंकर जी का मुहटोप पहन कर ऐसा स्वांग रचता है कि देखते ही बनता है। जब वह बाई से दाहिने ओर और खेले दाहिनी से बाई ओर वृत्ताकार में नृत्य करता है तब वह साक्षात् शंकर भगवान ही प्रतीत होता है। सम्पूर्ण उत्सव

में शिव जी के जीवन के कितने पहलुओं का अभिनय किया जाता है। सदियों में भील जाति के लोग स्वयंस्पूर्त पौराणिक परम्परा को संजोय हुए ह।

प्रयोग की तैयारी

"गवरी" के प्रमुख पात्र माता जी के देवरे में रहते हैं। वे प्रातः ही अपने अपने पात्रों के अनुसार वस्त्र भूषण पहन कर तैयार हो जाते हैं। किन्तु खेलें अपनी परम्परागत वेष-भूषा में रहते हैं वे सब साथ साथ पाती (निमंत्रण) के गांव के लिए प्रस्थान करते हैं। वहां पहुंच कर वे गांव के चौराहे के पास या गांव के बाहर एक मैदान चुन लेते हैं। आवश्यकता हो तो उसे समतल कर स्वच्छ करते हैं। बस, उसी क्षण बिना पूर्व तैयारी के गवरी खेलने के लिए खुला रंगमंच तैयार है। दिन में ही खुले रंगमंच पर खेले जाने वाला गवरी नाट्य-नृत्य अद्वितीय होता है।

दिन का कार्यक्रम प्रातः 9–10 बजे प्रारम्भ किया जाता है। मैदान के मध्य में 2–3 समतल पत्थर रख दिये जाते हैं जिस पर "गवरी" माता जी की मूरत स्थापित की जाती है। माता जी के एक तरफ त्रिशूल व दूसरे तरफ भाला रोक देते हैं। पास में ही मोर पंखों का गुच्छा लोह की जंजीरें, दीपक आदि रखते हैं। भोपा उन पर पुष्पमाला चढ़ाता है। माता जी के सम्मुख खड़ा होकर वह धूपदानी में कन्डे की आग पर धूप-अगरबती करता है। मादल बजाने वाला व कांसे की थाली बजाने वाला पास ही अपना-अपना स्थान ग्रहण करते हैं।

जयशंकर महादेव, जय गवरी माता जी की, जयघोष में मादल की थाप व कांसे की थाली की टिन टिन पर खेले नृत्य प्रारम्भ करते हैं। वाद्य यंत्रों की ध्वनि पर दूर दूर से जाति-पाति लिंग-आयु के भेद रहित लोगों के झुण्ड के झुण्ड खिचे चले आते हैं भोपा माता जी की स्तुति प्रारंभ करता है। फिर उसमें माता जी का भाव आ जाता है। भाव की स्थिति में आने पर वह लोहे की जंजीर अपनी पीठ पर जोर जोर से मारता है। मादल व थाली की ध्वनि तीव्रतर होती जाती है एवं खेलों के नृत्य में गति उतनी ही तेजी व अनुरूपता दिखाई देने लगती है।

इसके पश्चात भोपा भील जाति के दंवह देवताओं की उपासना करता है। "कतकरया" देवी देवताओं के नामों के उच्चारण में उसे सहयोग देता है। इस विस्तृत प्रस्तावना में एक घन्टे का समय लगता है। कांसे की थाली की तीव्र किन्तु कर्णप्रिय नाद एवं वश में कर लेने वाली मादल की आवाज पात्र व प्रेक्षकों की समा बांधे रखता है।

दिन भर में भमरा भमरी (भील युगल) बनजारा-बनजारन: कालूकीर (दुष्टात्मा)–अम्बा (माता जी): नाहर (शेर)–कालका (माता जी): खलिया भूत-खेतड़ी: काना-गुजरी (श्री कृष्ण-गुजरन: (युगल) बादशाह की फौज जैसी पौराणिक-सामाजिक कथाओं के मंचन के बीच बीच में मौलिक व स्वयंस्पूर्त प्रहसन, हास्यविनोद तथा लोहे के गरम (लाल लाल) गोले मुंह में लेने जैसे अदभुत चमत्कार भी दिखाये जाते हैं। नाहर बने पात्र से पीठ थपथपाने तथा भोपा के मोर पंखी से बच्चों को आशीर्वाद प्राप्त करने में प्रेक्षक उत्सुक रहते है।

"गवरी" नाट्य-नृत्य उत्सव के शहरी प्रेक्षक यह सोचने के लिए उधत होते हैं कि भील लोग प्रतीकों का उपयोग इतने अच्छे ढंग से करते हैं कि निपुण नाटककार भी यह देख कर दांतों तले ऊंगली दबायेगा। भील लोग "गवरी" के प्रयोग में पात्र, कथानक, उपकथानक व मेकअप की सामग्री, दिग्दर्शन सब कुछ स्थानीय होता है। बाहर से कुछ भी आवश्यक नहीं होता।

भमरा-भमरी :

गजानन्द की आराधना के तुरन्त पश्चात भमरा-भमरी (भील प्रेम युगल) प्रस्तुत किया जाता है। वे दोनों चेहरे पर कोयले का चूर्ण लगा कर मेकअप कर नृत्य करते हुए गीत गाते हैं:—

आ रे देवर काना रे—
आपो चाला मगरे माल्ल रे····
भावच जुमाए आया
बडलियभमर लेवा चाला रे

भमरा : वड़लिये भोला भतरो वासिया है
तां भमर लेवा नी चाला ये आ रे·····

भमरी—मारे देवर काना रे
भोला भूत बारे बररारी जोड चड़ाडला
और बारा मया बाकला चड़ाहुला
आ रे आया भमर लेवा चाला रे·····

भमरी-भमरा को कहती है हम माल मगरी (पहाड़ी) पर शहद इकटठा करने चलें। वहां बड़ के पेड़ पर छत्ता लगा है। भमरा कहता है कि माल मगरी पर बड़ के पेड़ पर तो दुष्ट आत्मा निवास करती है। भमरी कहती है कि मैं उसे बारह जोड़ी बकरे, 12 मन गुगरी (उबली हुई मक्की) भेंट करूंगी चलो चलें····

इस तरह के प्रत्येक लघु नाटिका के अन्त में सभी पात्र माता जी के सम्मुख आकर प्रणाम करते हैं तथा आर्शीवाद प्राप्त करते हैं व नृत्य करते हुए एक ओर प्रस्थान करते हैं तब अगली नाटिका का प्रहसन के पात्र तैयार होकर दूसरी ओर से नृत्य करते हुए रंगमंच पर उपस्थित होते हैं।

बनजारा दाणी :

बनजारा एक व्यापारी होता है। वह अपने बैलों पर अनाज रख कर गांव गांव अनाज बेचता है। रास्ते में चुंगी नाके पर उसे चुंगी देने के लिए कहा जाता है। बनजारा चुंगी देने के लिए मना करता है। चुंगी वाला उसे धमकी देता है कि वह उसके बैल आगे जाने नहीं देगा। भील जन जाति बहुल्य क्षेत्र में जगह जगह चौकियां थीं। प्रत्येक चौकी पर कुछ भील तैनात रहते थे। वे यात्री से बोलाई (कर) वसूलते थे। बोलाई मिलने पर वे यात्री को अगली चौकी तक पहुंचा देने की जिम्मेदारी निभाते थे।

आ रे बन जारा रे
मारा दाणी डारो
दाण चुका देरे
हां हां रे बालदियो
के रे धारा दाणी डारो
दाणं तो कदीपे नी देकूरे
हां हां रे दाणी नीयों थारी
बालद तो कदी पे नी जावा देवू रे
नय मणी के तो रोके दाणी
के तो रोके माणी
मारा दाणी डारो दाण चुकायदे।

इस तरह एक के बाद दूसरी लघु नाटिकाओं का गीत नृत्य द्वारा प्रस्तुतीकरण संध्या में 5–6 बजे तक चलता रहता है। दिन का खेल जय शंकर महादेव, जय गवरी माता जी के उदघोष में समापन किया जाता है।

भोजनोपरान्त सभी पात्र अपने गांव वापस आते हैं। देवरे में आने पर प्रमुख पात्र एक के बाद एक माता जी के सम्मुख आते हैं, प्रणाम करते हैं एवं आरती उतारते हैं उसके पश्चात वे अपने अपने वस्त्राभूषण उतारते हैं। खेले अपने अपने घर जा सकते हैं किन्तु थोड़ी देर में वापस देवरे में भजन के लिए आते हैं। भजन के पश्चात वे वहीं सो जाते हैं। इस तरह 43 दिन की दिनचर्या होती है।

सांस्कृतिक सामाजिक महत्व :

भील जन जाति व पड़ोसी जातियों में आर्थिक सम्बन्धों के उदाहरण देखने में मिलते हैं किन्तु जीवन के अन्य पहलुओं में इनमें आदान प्रदान के अवसर विरले ही होते हैं। "गवरी" उत्सव भील व अन्य जातियों में सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक सम्पर्क का एक अपूर्व माध्यम बना हुआ है। यह देख कर प्रसन्नता होती है कि तथाकथित उच्च जातियों के लोग जो भीलों के प्रति अनास्था दिखाते हैं वे लोग गवरी दल से मिलकर अपने गांव में खेलने के लिए आमंत्रित करते हैं। "गवरी" दल के सम्मान में वे पलक बिछा देते हैं। सामूहिक अतिथि सत्कार का यह उदाहरण कौतुकास्पद है। गवरी खेलने के बाद संध्या को गवरी दल के प्रत्येक सदस्य को आदरपूर्वक भोजन कराया जाता है वे राई की गोद भरते हैं तथा ढ़ाल (बड़ी टोकडी जिसमें गवरी की मूरत रखी जाती है। वे दल के आवश्यक खर्चा चलाने के लिए दान देते हैं।

"गवरी" दल का कार्यक्रम 40-45 कि०मी० के घेरे में बसे गांव में बारी बारी से प्रस्तुत किया जाता है। गवरी खेलने वाले गांव के दल को निम्न प्रकार के गांव गवरी खेलने के लिए आमंत्रित करते हैं :—

(1) कुनयावास—ऐसे गांव जिनमें गवरी लेने वाले गांव की कन्याएं ब्याही गयी हों।

(2) उधार बन्टी—ऐसे गांव जिनमें परस्पर धार्मिक विधियों का विनिमय होता हो।

(3) हाजी के गांव—गांव जहां गवरी खेलने वाले गांव के साहुकार-दुकानदार निवास करते हों।

(4) नये गांव—गांव जो नये मित्र सम्बन्ध बनाना चाहते हों।

सारांश में "गवरी" उत्सव में भील जनजाति के जीवन व सांस्कृति का चलता फिरता मेला देखने को मिलता है। इसमें उनकी आस्था परक दृष्टि व उत्कट अभिरूचि का स्वेच्छानुरूप प्रकटीकरण देखने को मिलता है। जाने अनजाने में ही वे उच्च कोटी का नाटय नृत्य-गीत, पौराणिक कथाओं का स्मृति से परे अवधि से संजोये हुए हैं। इसका काल निर्धारण अभी तक नहीं किया जा सका है। इसमें भाषा का उपयोग न्यूनतम होता है। किन्तु संकेत व मन के भावों के माध्यम से विषयों को स्वच्छन्दता से संचार किया जाता है। इन कथानकों को अभी तक लिपिबध नहीं किया गया है। भील लोगों का ऐसा विश्वास है कि मादल की आवाज व थाली की टन टन ही पात्रों को एक स्थिति से दूसरी स्थिति में तथा एक गतिक्रम से दूसरे परिवर्तन करने के लिए दिग्दर्शन करते हैं।

इस उत्सव के पात्रों का चयन वेष-भूषा, आभूषण कथानक प्रस्तुतीकरण का क्रम सब कुछ पात्र व प्रेक्षकों को अच्छी तरह ज्ञात होता है। इसके माध्यम से उनकी बौद्धिक, भावनात्मक ललितकला की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। भील लोगों की मान्यता है कि गवरी उत्सव सुख समृद्धि का प्रतीक है जो आनन्द मंगल की उमड़ती हुई सरिता के समान है यदि कोई चाहे तो वह इसके किनारे आकर चाहे जितना पानी स्वच्छन्दता से पीकर कृतार्थ अनुभव कर सकता है।

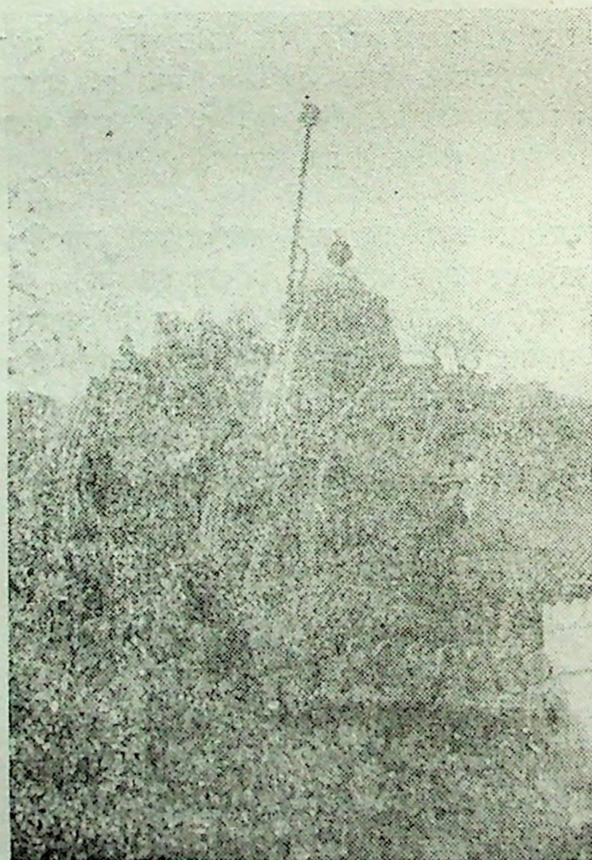
मध्य भारत का तीर्थ–कैलाशपुरी

—योगेश्वर शर्मा

जय एकलिंगनाथ का उद्घोष ज्योंही अरावली पर्वत शृंखलाओं के शिखरों से गूंजता कि घाटियों से गुजरती मुगल सेनाओं के पांव भय और शंका से लड़खड़ा उठते और जब पुनः इसी उद्घोष के साथ ही भीलों के धनुषों से निकले तीखे तीरों और लुढका कर गिराये गये बड़े बड़े पत्थरों के रूप में मौत की वर्षा सी होने लगती तो आततायी विजय की लालसा को त्याग अपने प्राणों की रक्षा के लिये आगे बढ़ते कदमों को पीछे की ओर मोड़ लेते। जय एकलिंगनाथ का वह गगन भेदी उद्घोष तो अब कभी सुनाई नहीं देता लेकिन जिस एकलिंगनाथ के जयघोष के साथ ही शिथिल रक्त शिराओं में भी उबाल आ जाता था उसी मेवाड़ के आराध्य आदि देव भगवान शंकर का नयनाभिराम मंदिर आज भी अपने अपूर्व सौन्दर्य और प्राचीन वैभव की कहानी का बोलता प्रमाण बनकर उदयपुर नगर की उत्तर दिशा में 20 किलो मीटर दूर कैलाशपुरी नामक कस्बे के बीच मुख्य सड़क पर ही दांयी ओर स्थित है और हजारों श्रद्धालुओं तथा पर्यटकों की आस्था और आकर्षण का केन्द्र हैं।

भारत व राजस्थान के प्राचीनतम स्थानों में से एक कैलाशपुरी के इस शिव मंदिर तक आज कल एक दम आसानी से पहुंच जाने वाला पर्यटक या दर्शक यह सोच भी नहीं पाता कि कभी यह स्थान अत्यन्त दुर्गम मार्ग से जुड़ा था और जब तक महाराणा सज्जन सिंह 1874–84 ने आधुनिक सड़क मार्ग नहीं बनवाया, तब तक यहां पहुंचना एक कठिन और श्रम साध्य कार्य था। महाराणा सज्जन सिंह द्वारा बनवाया गया सड़क मार्ग पहले "चीरवा" नामक दरवाजे से होकर घाटी में उतरता था। महाराणा फ़तेह सिंह ने इस द्वार को नये सिरे से बनवाया था। जहां से सड़क मार्ग की पर्वतीय चढ़ाई शुरू होती है, ठीक उसी स्थान पर से एक कच्चा सड़क मार्ग अमरख महादेव के खण्डहर होते मंदिर को जाता है यह स्थान तीन तरफ पहाड़ी से घिरा होने और सदाबहार झरने की उपस्थिति के कारण अत्यन्त रमणिक और मन को शांति प्रदान करने वाला है। सड़क मार्ग की चढ़ाई शुरू होने से पहले अम्बेरी नामक प्राचीन गांव है जो आजकल काफी समृद्ध हो गया है। कभी इस गांव का बहुत महत्व था। पूरे देश से आने वाले श्रद्धालुओं के विश्राम के लिये महाराणा शम्भुसिंह (1847-84) की रानी झाली ने एक धर्मशाला बनवाई थी जो आज भी मौजूद हैं।

सड़क मार्ग दो विशाल पहाड़ों के बीच में से चीरवा द्वार की बाईं ओर से गुजरता है। अभी आजादी से कुछ ही पहले तक यह मार्ग द्वार में से ही था लेकिन फिर भारी



मुख्य मन्दिर की उत्तर पश्चिम दिशा

वाहनों के कारण पहाड़ को तोड़ कर द्वार के पास से ही मार्ग बना लिया गया है जो तीखे ढाल को पार करके आगे बढ़ता है तो थोड़ी दूरी में सड़क के किनारे "राणा प्रताप की बावड़ी" है जो उपेक्षा और गुमनामी के माहौल में अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष कर रही है। इस बावड़ी से आगे लगभग छः सात किलोमीटर के बाद सड़क बागेला तालाब के बांध के एक दम पास से गुजरती हुई कैलाशपुरी का उतार उतरती है। तालाब के बांध से जुड़ा हुआ कभी गणेशपोल नाम से एक विशाल द्वार था परन्तु आज उसका नामोनिशान नहीं है। बागेला तालाब एक बरसाती तालाब है जिसका निर्माण महाराणा मोकल ने (1418–33) करवाया था इस तालाब से निकलने वाला एक छोटा नाला लगभग पांच किलोमीटर दूर बप्पा रावल की समाधी तक पहुंचता है। बागेला तालाब का अन्य महत्व ये है कि इसके पश्चिमी किनारे पर प्रस्तर कला स्थापत्य तथा, मूर्ति कला के अद्भुत सौन्दर्य का प्रमाण "सास बहु का मंदिर" है तथा थोड़ी ही दूरी पर मेवाड़ की सबसे पहली राजधानी नागदा नामक गांव है जिसकी स्थापना राजा नागादित्य ने 610 ई० के आस पास की थी और आगे जाकर मेवाड़ संस्कृति के संस्थापक बप्पा रावल (राजा कालभोज) की राजधानी बना। यहीं पर जैन संप्रदाय के एक मंदिर में 9 फुट ऊंची "अद्भुत बाबा" की भव्य मूर्ति है। बागेला तालाब के बांध पर से ही वह कच्चा मार्ग भी कैलाशपुरी को पहुंचता है जो वर्तमान सड़क मार्ग बनने से पूर्व कई शताब्दियों तक प्रयोग होता रहा। इस मार्ग से उतरे हैं तो दायी तरफ एक शिव मंदिर और प्राचीन तक्षक कुण्ड हैं। कहा जाता है कि इस कुण्ड का पानी पीने से सांप-बिच्छु काटे का जहरी असर समाप्त हो जाता है। आयताकार कुण्ड में पानी बहुत कम है तथा एकदम सुनसान क्षेत्र में होने तथा उपेक्षा के कारण पत्तों और मिट्टी से पटता जा रहा है। इसका हल्का दुधिया रंग का पानी पीने में तो स्वादिष्ट है ही साथ ही इसके पास बने शिव मन्दिर की मूर्तियों का सौंदर्य और इसके ठीक किनारे पर बनी विष्णु लोक की प्रस्तरी झांकी वास्तव में रोमांचित करने वाली हैं। यहां तक पहुंचने के लिये कच्चे मार्ग पर ही बाई तरफ को बने धारेश्वर महादेव के मंदिर के पास से एक पगडंडी घने जंगल में जाती है। शायद इसी से लोग यहां जाते कतराते हैं। जिस धारेश्वर महादेव के मंदिर के पास से तक्षक कुण्ड को पगडंडी जाती है वह मंदिर इस कारण दर्शनीय है कि उसे दर्जियों द्वारा उस "धारजी" नामक दर्जे की याद को स्थाई करने के लिये बनवाया गया था जिसके कारण पिछले साढ़े तीन सौ सालों से एकलिंग जी के मंदिर पर एक दिन के लिये विश्व में सबसे बड़ी, दर्जियों की ध्वजा लहराती हैं। सड़क मार्ग से ये दोनों स्थान बाई तरफ काफी निचाई पर दिखाई देते हैं। जिस स्थान सड़क मार्ग कैलाशपुरी में प्रवेश करता है उसी स्थान पर बागेला तालाब से आने वाला प्राचीन मार्ग इस मुख्य सड़क में आ मिलता है। कैलाशपुरी एक छोटा सा कस्बा है जो चारों तरफ पहाड़ों से घिरा है। इसका दिल है भगवान शिव का "एकलिंगनाथ" मंदिर जिसकी धड़कन कस्बाई शरीर की कोशा रूप हर घर में सुनाई देती है बस, मंदिर के मुख्य द्वार के पास रुकती हैं। मुख्य द्वार का बाहरी सौन्दर्य ही इस बात की संभावना बता देता है कि भीतर कितना अनुपम सौन्दर्य देखने को मिल सकेगा।

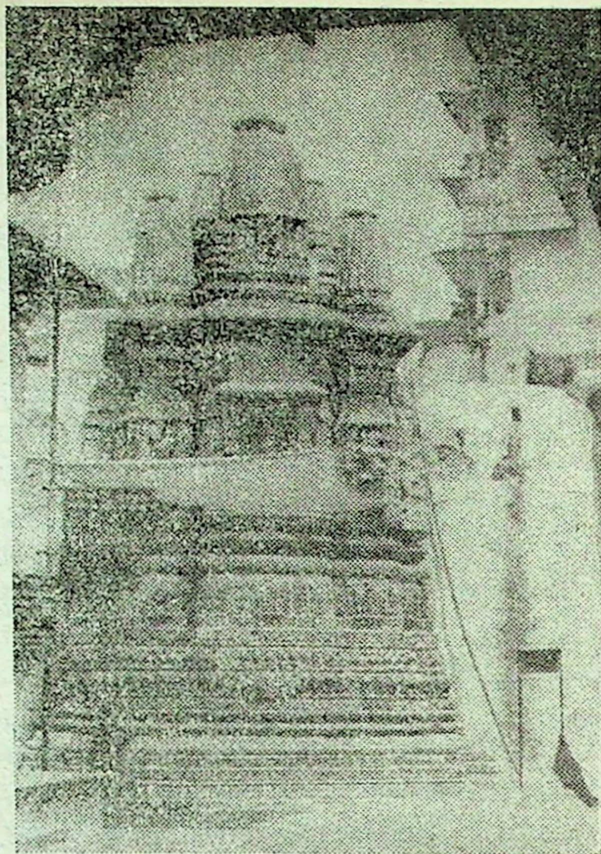
हालांकि एकलिंगनाथ के मंदिर का इतिहास अनेक स्याह-सफेद पृष्ठों का संकलन है परन्तु इसकी स्थापना की कहानी और भी रोचक और रोमांचक है। मंदिर के इतिहास के अनुसार बप्पा रावल का बचपन बहुत ही संघर्षपूर्ण रहा। अपने शासन काल में वे अपनी मां के साथ नागदा के ब्राह्मणों के घर सेवक के रूप में रहते थे और उनकी गायें चराते थे। गायों में एक कपिला नस्ल की गाय जब शाम को घर पहुंचती तो उसके स्तनों में एक बूंद भी दूध ना मिलने पर बहुत दिनों तक तो मालिक लोग चुप रहे। आखिर कार उन्होंने बप्पा रावल (जिसका वास्तविक नाम काल भोज था) की मां से शिकायत की तो बप्पा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सौगन्ध बोलकर कहा कि वह पूर्वतः वफादार है और एक बूंद भी दूध बिना दिये नहीं पीता। इसके साथ ही वह दूसरे दिन उस कपिला गाय पर नजर रखने लगा। सवेरे 10 बजते-बजते वह गाय झुण्ड में से निकली और घाटी के घने जंगल में पहुंच कर एक स्थान पर खड़ी हो गई और उसके थनों से दूध निकल कर जमीन को तर करने लगा। बप्पा किंकर्तव्यविमूढ़ देखता रहा। तभी उसकी नजर बांस के उस झुरमुट के पास ध्यान मग्न बैठे एक सन्यासी पर पड़ी। उसे देखकर बप्पा को बहुत क्रोध आया वह उस पर चोरी का आरोप लगाता कि तभी उसने आंखें खोली और बोला आओ काल भोज मेरे को तेरा ही इंतजार था और फिर उसने सारी बात उसे समझाकर कहा कि जिस स्थान पर कपिला गाय का दूध गिरता है वहां पर जमीन में भगवान शिव का लिंग रूप प्रतिष्ठित है तू उसे निकलवा कर यहां एक मंदिर बनवा दे। और आगे जाकर उन्होंने (724–753 ई०) के बीच में कभी इस मंदिर का निर्माण करवाया था। सही तिथि की जानकारी उपलब्ध नहीं है। अनुमान इस आधार पर कि 734 ई० को उन्होंने चितौड़ के राजा मानमोरी को हराया था और 753 ई० में एकलिंग जी के मंदिर में सन्यास की शपथ ली थी।

जिस सन्यासी ने कालभोज यानि बप्पा रावल को अकस्मात दर्शन देकर ये सारी बातें कहीं उसका नाम हारित था और उसका उल्लेख मेवाड़ इतिहास के ग्रन्थ "वीर विनोद" तथा देवनाथ पुरोहित की पुस्तक हिस्ट्री आफ मेवाड़ में भी मिलता है और यह किंवदंति भी प्रचलित है कि इसी सन्यासी आशीर्वाद से कालभोज कालजयी राजा बन सके।

एकलिंगनाथ का वर्तमान मंदिर चारों ओर से ऊंचे परकोटे द्वारा घिरा है। प्रवेश करते ही पर्यटक जब अपने

जूते मौजे उतारता है तो उसकी नजर सामने की दीवार में दिखाई दे रही, बुर्जी के कलात्मक सौन्दर्य पर ठहर जाती है। वस्तुतः संगतराशी का बेहतरीन नमूना यह बुर्जी भीतरी मंदिरों के सौन्दर्य की झलक (ट्रेलर) मात्र दिखाता है। इसके दायीं तरफ कुछ सीढ़ियां चढ़कर एक मार्ग है जो महाराणाओं के लिये बने महल को जाता है जबकि बुर्जी के बाईं तरफ से फूलों के टोकरे लिये मालनों के बीच से आगे बढ़ते हैं तो परकोटे और महलों की दीवार के बीच से एक चौड़ा मार्ग फिर एक द्वार तक पहुंचता है। इस द्वार में प्रवेश करते ही भीतर पुष्कल मात्रा में उपस्थित प्रस्तरी सौन्दर्य की उपस्थिति से दृष्टि इतनी चंचल हो उठती है कि किसे पहले देखा जाए। यह एक प्रश्न बन जाता है लेकिन पर्यटक हो चाहे भक्त पहले मुख्य मंदिर को ही देखना चाहता है।

एकलिंगजी का वर्तमान मुख्य मंदिर काफी बड़ा है और इस तरह बना है कि एक द्वार से ही पूरा बंद किया जा सकता है। मंदिर में प्रवेश करते ही शुद्ध चांदी से मढ़ी आकृतियों और उन्नत प्रस्तर कला के संगम को देखकर एक बारगी दर्शक भगवान शिव के चतुमुर्खी लिंग को देखना भी भूल जाता है जो अपने आकार-प्रकार और शृंगार के कारण किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता है। मुख्य मंदिर त्रीमंडपी है लेकिन तीसरा और बाहर वाला अर्धमण्डप इतना आकर्षक नहीं है जितना सभा मण्डप। चतुद्वारी गर्भगृह का सारा सौन्दर्य श्री विग्रह में केन्द्रित रह जाता है। सभा मण्डप भीतर से देखने पर दुमंजिला दिखाई देता है लेकिन दूसरी मंजिल पर जाना मना है इस भाग के सौन्दर्य का वर्णन करना कठिन है क्योंकि यह भेद कर पाना मुश्किल है कि अर्वाचीन काल की बनी रजतमढ़ी कलात्मक आकृतियाँ अधिक सुन्दर हैं अथवा प्राचीन काल की प्रस्तर आकृतियां अलावा इस दो वाले सौन्दर्य के दर्शक या भक्त को सर्वाधिक लाभ यह होता है कि भगवान शिव के जिन अष्ठताण्डव नृत्यों का वर्णन हिन्दु धर्म ग्रन्थों में मिलता है उनका सचित्र सश्लोक वर्णन सभा मण्डप के आठ स्तिम्भों पर उपस्थित है। गर्भ गृह में प्रवेश वर्जित है। कालान्तर में फिरंगियों का प्रवेश मंदिर में प्रवेश नहीं होता था और उन्हें दर्शनों के लिए मंदिर की पूर्व दिशा में बने द्वार से बाहर खड़े होकर ही सन्तोष करना पड़ता था। निज मंदिर में आजकल जो शिवलिंग है वह वस्तुतः बप्पा रावल द्वारा पूर्व प्रतिष्ठित वास्तविक शिवलिंग की प्रतिलिपि है। मंदिर के इतिहास के अनुसार बप्पा रावल ने सबसे पहले इस मंदिर की स्थापना की और महाराणा हमीर सिंह ने 14वीं सदी में इसका निर्माण करवाया परन्तु लगातार युद्धों के बाद इसकी हालत जर्जर हो गई तो महाराणा मोकल (1421–33) ने इस का पुनरुद्धार करके चारों ओर एक मजबूत दीवार बनवाई। फिर महाराणा कुम्भा ने भी इस मंदिर का विस्तार करवा कर अपनी पुत्र वधू की



भीतरी सौंदर्य की झलक दखाती, प्रवेश द्वार की बुर्जी

स्मृति में "मीरा का मंदिर" बनवाया। महाराणा उदयकरण के समय में आततायियों से लगातार युद्ध के कारण मंदिर को फिर से अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करना पड़ा। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों मूर्ती भंजक आततायियों से मूल शिवलिंग की रक्षा करने के लिये उसे उठाकर मंदिर की पूर्व दिशा में बप्पा रावल द्वारा निर्मित भोजेला तालाब जो आजकल इन्द्र सरोवर के नाम से जाना जाता है, में छुपाने की दृष्टि से डाल दी लेकिन बाद में जब युद्ध का वातावरण शान्त हुआ तो आश्चर्यजनक घटना घटी। मूल शिवलिंग पूरी कोशिश के बावजूद फिर नहीं मिल सका। तब महाराणा रायमल (1413–1508) ने नये सिरे से वर्तमान मंदिर का निर्माण करवा कर वौद्धिक रीति से वर्तमान शिवलिंग की स्थापना की। भोजेला तालाब को देखने के लिये मुख्य सड़क पर मंदिर के साथ-साथ आगे बढ़ते हैं तो जहां मंदिर का परकोटा समाप्त होता है उसी स्थान पर एक छोटा मार्ग दायीं तरफ से पिछली दिवार के सहारे सहारे तालाब के बांध पर पहुंचता है। बांध दो भागों में बंटा है। संगमरमर का आकर्षक हिस्सा जिस पर क्रमशः इन्द्रेश्वर महादेव गोविन्द देवजी और सोटा नरेश मंदिर एवं राणाओं के महल बने हैं। अत्यन्त मनोरम और दर्शनीय है परन्तु आमतौर पर बन्द रहता है लेकिन मंदिर के पुजारियों से आग्रह करने पर यह भाग कभी भी देखा जा सकता है। मुख्य सड़क पर जहां से भोजेला तालाब को मार्ग जाता है उसी के ठीक बाईं तरफ एक ऊंचे चबूतरे पर महाराणाओं



सन्यासी हारित—जिनके आशीर्वाद से बप्पा रावल ने मंदिर का निर्माण किया

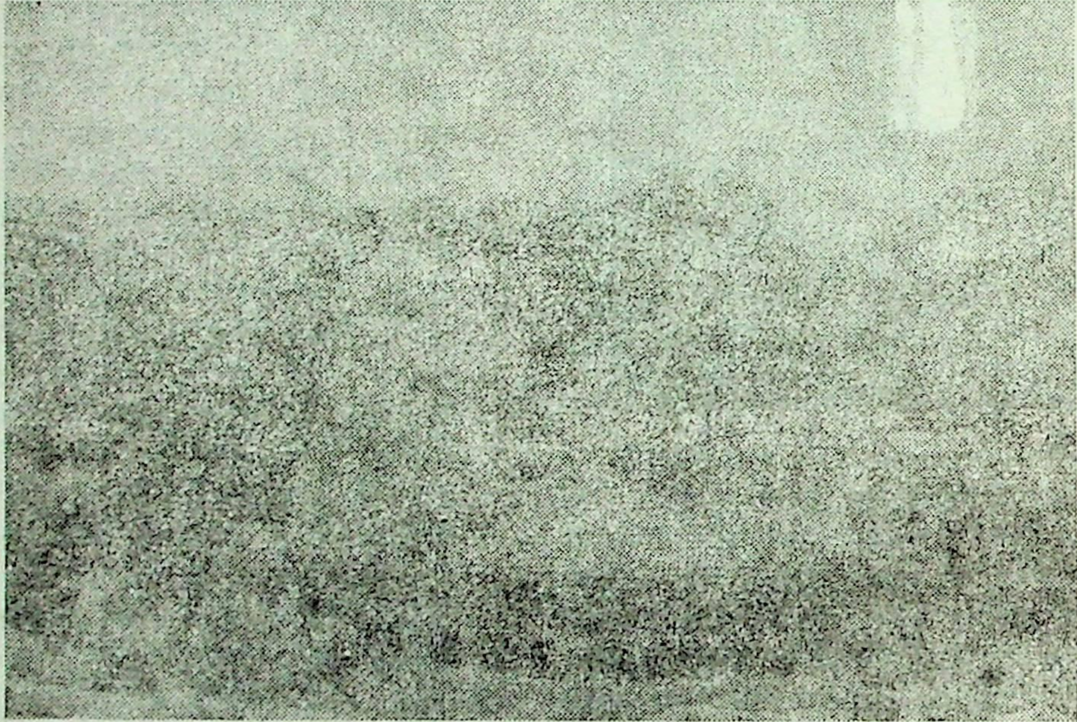
की कुलदेवी विंध्यवासिनी का भव्य मंदिर और सामने ही बाबा गोरखनाथ की अति प्राचीन गुफा है जिसके प्रवेश द्वार पर सन्यासी हारित की मूर्ति लगी है इस मंदिर के चबूतरे पर से पूर्व दिशा में काफी दूरी पर पहाड़ की चोटी पर पूरे राजस्थान में अकेला "राजस्थानी माता" का मंदिर है लेकिन वहां तक जाने के लिये समय और साहस दोनों की ही आवश्यकता होती है।

मुख्य मंदिर से बाहर निकलते ही पूरे मेवाड़ क्षेत्र के लिये अत्यन्त दुर्लभ काले संगमरमर की नादिये की मूर्ति और उसको तराश कर पहनाए गये पत्थर के आभूषणों के सौंदर्य को सदा अपने साथ रखने के लिये मन मचल उठता है परन्तु निराशा ही हाथ लगती है क्योंकि मंदिर में फोटोग्राफी पूर्णतः निषिद्ध है। दर्शक को यह मानसिक पीड़ा कई बार झेलनी पड़ती है। नंदी की मूर्ति के पीछे ही एक सुन्दर छतरी में आकाश की ओर एकटक देखते बप्पा रावल की आदमकद मूर्ति है जिसकी दृष्टि सीमा में आ रहे मुख्य मंदिर के अगले अर्ध-मण्डप के प्रवेश द्वार पर सन्यासी हारित को पुष्पक विमान में बैठे अभय का आशीर्वाद देते दिखाया गया है इसका सब को देखने के बाद भी परकोटे में बीस से कहीं ज्यादा छोटे बड़े अन्य मंदिरों का सौन्दर्य घंटों देखने पर भी पूरा नहीं होता लेकिन इनमें से मुख्यतः तीन स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मुख्य मंदिर के दायीं ओर महाराणा कुम्भा द्वारा निर्मित "मीरा का मंदिर" नाम से भगवान विष्णु का त्रिखण्डी मंदिर और सामने गरूड़ के मंदिर की संगतराशी निष्ठुर से निष्ठुर कला प्रेमी के मुंह से वाह कहलवा देने की सामर्थ्य रखती हैं। कोई पत्थर, कोई स्तम्भ, कोई कोना ऐसा नहीं जो तराश कर सुन्दर ना बनाया गया हो। इस मंदिर के पहले अर्ध-मण्डप की छत पर एक ऐसी दुर्लभ मूर्ति है जिसका सिर एक है लेकिन शरीर आठ। यहां पर फोटोग्राफी का निषेध मन को आहत करता है। मीरा के मंदिर के सौंदर्य से तृप्त दृष्टि के सामने अन्य मंदिरों का सौंदर्य फीका लगने लगता है। इसके बाद मुख्य मंदिर के पीछे उत्तर दिशा में लकड़ी के जंगलों की सहायता से मंदिर का एक भाग सुरक्षित कर दिया गया है। जहां सामान्य आदमी का प्रवेश वर्जित है। इस भाग में जंगलों के ठीक सामने से सीढ़ियों से उतर कर एक स्वच्छ जल का कुण्ड है जो खरज कुण्ड के नाम से जाना जाता है। इसके लिये एक अतिश्योक्ति पूर्ण किंवदती प्रचलित है कि यह भगवान शिव की पत्नी पार्वती द्वारा नाखूनों से जमीन को खरोंच कर बनाया गया है। इस कुण्ड के बाई ओर अनेक शिव मंदिर हैं जिनमें एक "अमरनाथ" के नाम से जाना जाता है। इसी भाग में एक स्थान बांसों का वह झुरमुट है जो सैंकड़ों वर्ष पूर्व तब से यहीं है जब यहां पर बप्पा रावल की सन्यासी हारित से भेंट हुई थी और उन्होंने कपिला गाय के रहस्य को उद्घाटित करके शिव मंदिर स्थापना का सुझाव दिया था। बांस के झुरमुट के नीचे ही उस स्थान पर छोटा सा मंदिर बना है जहां से शिवलिंग प्राप्त हुआ था। खरज कुण्ड के पास ही जंगल के बाहर क्रमशः महाकाली, दुर्गा और गणपति के तीन मंदिर हैं। मुख्य मंदिर की पूर्व दिशा में कुछ सीढ़ियां चढ़कर एक काफी बड़े चबूतरे पर पहुंचते हैं जिसकी दक्षिण दिशा में महल से जुड़े संगमरमर के बने तीन तोरण द्वार हैं जो राणाओं से स्वर्णतुलादान की याद दिलाते हैं जबकि उत्तर की दिशा में सादगी का प्रमाण एक विशाल मंदिर है जिसमें भगवान शिव की विशाल काले पत्थर की ध्यान मग्न मुद्रा में मूर्ति है। किसी भी शिव मंदिर में शिवलिंग की ही पूजा होती ह लेकिन यह मंदिर इस बात का अपवाद है कि यहां शिव की एक अप्रत्याशित मूर्ति की पूजा होती ह। अप्रत्याशित इसलिये कि यह मूर्ति अपनी आकार में अद्वितीय है ही साथ ही इस मूर्ति की अन्य विशेषताएं हैं मूर्ति के सभी आभूषणों और कपड़े सांपों से बने हुए हैं। यहां तक कि कोपीन या लंगोट के स्थान पर भी एक सांप का ही प्रयोग किया गया है। इस मंदिर के बाहर चबूतरे पर खड़े होकर मुख्य मंदिर के छत का सौन्दर्य भी देखा जा सकता है जिस पर शेरों और हाथी की मूर्तियों की कतारें विशेष आकर्षक लगती हैं।

एकलिंगनाथ का मंदिर सामान्यजन के लिये तो एक आस्था अथवा कौतूहल का ही विषय हो सकता है लेकिन वास्तविकताएं हैं कि मेवाड़ संस्कृति के सारे इतिहास में सभी राणा लोग मात्र दीवान की हैसियत से कार्य करते थे।

राज्य में जो भी आदेश अथवा पत्र प्रसारित किये जाते थे उन पर एकलिंगनाथ की मुद्रा (मोहर) शासक रूप में अंकित रहती थी और नीचे महाराणा दीवान के रूप में अपने हस्ताक्षर करते थे। इसी कारण मेवाड़ के महाराणा "दीवानजी" के नाम से भी चर्चित रहे हैं। सभी महाराणा हर हालत में सावन, कार्तिक और फाल्गुन में यहां पूजा अर्चना करने पहुंचते थे तब अपने कंधे पर सोने की छड़ी रखकर दीवान के रूप में मंदिर में प्रवेश करते थे। मंदिर की पूजा अर्चना का अधिकार बहुत दिनों तक भतृहरि की गद्दी के उत्तराधिकारी गोस्वामी वंशज रहे लेकिन महाराणा जगत सिंह के समय योगेश्वरनाथ (देवनाथ पुरोहित की पुस्तक "मेवाड़ हिस्ट्री" पृष्ठ 44) का झुकाव वाम मार्ग की ओर होने से उन्होंने उसे हटाकर 1628 में काशी के सन्यासी रामनाथ को नियुक्त कर दिया। यह मंदिर भारत के उन गिने चुने शिव मंदिरों में से है जिनमें आज भी वैदिक रीति से पूजा अर्चना होती है। मेवाड़ के चार धामों क्रमशः एकलिंगजी, नाथद्वारा, कांकरोली और चारभुजा में से इस स्थान का बड़ा महत्व है। ना केवल नैसर्गिक सौंदर्य बल्कि ऐतिहासिक और स्थापत्य कला का भी यह स्थान उत्तम प्रमाण है।



मंदिर का विहंगम दृश्य

राम चरित मानस में दर्शन

—डा० जनार्दन दत्त शुक्ल

मानस में दर्शन समझने की कुंजी यह याद रखना है कि संत तुलसीदास समन्वयवादी हैं। उन्होंने सम्प्रदायों का समन्वय किया है, मान्यताओं का समन्वय किया, यहां तक कि भाषा का समन्वय किया है। वे खन्डनवादी नहीं समन्वयवादी हैं गोकि उन्होंने अनीश्वरवादियों का खण्डन अवश्य किया है। जितना भारतीय दर्शन है, सब मानस में मिलेगा, लेकिन समन्वय के रूप में, पृथकता के रूप में नहीं। ये सब मिलकर तुलसी दर्शन बन जाते हैं।

तुलसी का युग वेदान्त के दार्शनिकों के विवादों का युग था वैष्णव आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद और मायावाद के विरोधी थे, दूसरी तरफ अद्वैत्वादी मध्वाचार्य के दवैत्याद का खण्डन करते थे केवलाद्वैत्वादी ब्रह्म को निर्गुण मानते थे, माया को अविज्ञा मानते थे। जीव और जगत को मिथ्या मानते थे। ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या। ज्ञान ही से मुक्ति मानते थे। वैष्णव आचार्य ब्रह्म को सगुण मानते थे, अवतार वादी थे। तुलसी ने मानस में शंकराचार्य के ब्रह्मवाद और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत्वाद का समन्वय कर बीच का रास्ता लिया है और इस प्रकार एक ऐसा संतुलित दर्शन प्रस्तुत किया है जो मंगलकारी है, लोकजीवन को वैध बनाता है। बौद्धों ने जगत को दुःखमय कहा और दुःखों से छुटकारा मिलना ही निर्वाण बताया। निर्वाण का रास्ता सन्यास है। दूसरी ओर शंकराचार्य ने जगत को मिथ्या कहा इस भवकूप से छुटकारे के लिये मुक्ति प्राप्त करने के लिए इसका त्याग आवश्यक है। तुलसी सगुण और निर्गुण दोनों स्वरूपों को सत्य मानते हैं। निर्गुणवाद उनको शंकर के करीब ले जाता है और सगुणवाद रामानुज तथा बल्लभ के निकट। उन्होंने दोनों का राम से समन्वय कर दिया है; क्योंकि उनका मत है कि निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं।

"सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा, गावहि मुनि पुरान बुध बेदा
अगुन सगुन दुई ब्रह्मस्वरूपा, अकध अगाध अनादि अनपा।
एक दारुगत देखिय एकू, पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू।
जो गुन रहित सगुन सोई कैसे, जलहिम अपल बिलग नहि जैसे।

तुलसी के राम निर्गुण ब्रह्म हैं जो भक्तों पर कृपा करके सगुण रूप में अवतार लेते हैं।

अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई
अगुन अलेष समान एकरत, राम सगुण भए भगत प्रेम बस।

एक अनीहि अरूप अनामा, अज सच्चिदानन्द पर धामा।
व्यापक विश्वरूप भगवाना, तेहि धर देखा चरित कृत नाना।।

ग्यानगिरा मोतीत अज,
माया मन मुन पार।
सोई सच्चिदानन्द धन,
कर नर चरित उदार"।

जो लोग निर्गुण सगुण में भेद रखते हैं तुलसीदास उनको अज्ञानी कहते हैं:—

निज भ्रम नहि समझहिं अज्ञानी, प्रभु पर मोह धरहि जड़ प्राणी
जथा गगन घटपटल निहारी, झपेऊ भानु कहहि कुविचारी।

तुलसी दास लिखते हः—

"मन कर्म बचन अगोचर जोई, दशरथ अजिर बिचर प्रभु सोई।

तुलसीदास इसी बिन्दु को लेकर उसका समर्थन करते हुए राम के विराट रूप का वर्णन मानस में करते हैं। कौशल्या और काक भुशुंडि और सती ने राम का विराट और व्यापक रूप देखा।

मानस की रामकथा में सगुण साकार राम ही प्रधान हैं किन्तु तुलसी ने उनके निर्गुण स्वरूप की कभी उपेक्षा नहीं की, समय समय पर उधर संकेत ही नहीं किया वरन् व्याख्या भी की है। जब राम के सगुण और निर्गुण भावों में कुछ विरोधाभास सा होने लगता है तो वे सजग हो जाते हैं और टिप्पणी देते हैं:—

"गुरु गृह गये पदन रघुराई, अल्पकाल विद्या सब आई।
जिहकी स्वासू सहज श्रुतिचारी, सौहरिपद यह अचरज भारी।

जब रामगंगा पार करने के लिये नाव मांगते हैं और कैवट की शर्त मान लेते हैं और कहते हैं कि:—

"बेगि आनु जल पाँव परवारू होत विलम्ब उतारहु पारू"।

तो तुलसीदास शीघ्र ही राम के निर्गुण स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं :—

"जातु राम सुमरति एक बारा, उतरहि नर भव सिन्धु अपारा।

सोई कृपाल केवटहि निहोरा, जेहि जव कियतिहु पग से थोरा"। इसी प्रकार :—

"राम रेखावहि अनुजहि रचना, कहि मृदु मधुर मनोहर वचना।
तब निमेष महु भुवन निकाया, रचइ जातु अनुशासन माया।

भगतहे सोई दीन दयाला, चितवत चकित धनुष मखताला"। और जब,

"प्रभुहि विलोक चला मृग भाजी, धाये राम सरासन साजी।"

तो तुलसीदास याद दिलाते हैं:—

"निगम नैति शिव ध्यान न पावा, माया मृग पाछे सोधावा"। इस प्रकार साकार रामजी सगुण ब्रह्म हैं वे निर्गुण ब्रह्म ही की धरातल पर हैं, एक ही हैं। जहां जहां तुलसी ने राम के सगुण रूप का वर्णन किया है वहां उनके निर्गुण रूप का भी वर्णन है। नाम और रूप की उपाधि से निराकार निर्गुण ब्रह्म सगुण साकार हो जाता है।

"नाम रूप दोउ इस उपाधि"।

इस प्रकार ब्रह्म निरूपण में तुलसी शंकराचार्य के भी पास हैं और रामानुजाचार्य के भी, और वल्लभाचार्य के भी। किसी एक अकेले के दर्शन दायरे में नहीं हैं। वेदान्त ने ब्रह्म के जितने स्वरूपों का निरूपण किया है उन सभी को तुलसी ने राम में समन्वित कर दिया है, यही तुलसी दर्शन है।

"अगुन अलेप अमान एक रस, राम सगुण भए भगत प्रेम बस
राम ब्रह्म परमारथ रूपा, अविगत अलख अनादि अनूपा"।

सकल विकार रहित गत भेदा, कहि नित नैति निरूपहि वैदा"।

जैहि सृष्टि उपाई विविध बनाई, संग सहाय न दूजा"। ऐसे हैं राम।

ईश्वर और जीव के सम्बन्ध का विषय मानस में आया है। तुलसी का मत रामानुजाचार्य से मिलता है।

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखराशि।
सो माया बस भयऊ गुसाई, बन्ध्यो कीर मरकट की नाई।

जड़ चेतनहि ग्रन्थ परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनाई।
तब से जीव भयेउ संसारी, छूट न ग्रन्थ न होई सुखारी।।"

आकर चरि लच्छ चौरासी, जोनि भ्रमत यह जिव अविनाशी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा, काल कर्म सुभाव गुन घेरा।।"

और यह जीव तब तक मुक्ति नहीं पा सकता जब तक देवी अहेतु की कृपा न हो और मनुष्य की देही न मिले।

"कबहु करि करूना नर देवी, देत इंस बिनु हेतु सनेही।"

तुलसी दास ने ईश्वर और जीव की यों व्याख्या की है :—

"गयान अखंड एक सीतावर, माया दस्य जीव सचाराचर
जो सबके रह ज्ञान एकरस, ईश्वर जीवहिं भेद कहह कस।

माया वस्य जीव अभिमानी, ईस वस्य माया गुण खानी
परबस जीव स्वबस भगवता, जीव अनेक एक श्रीकन्ता।"

इस प्रकार जीव ईश्वर का अंश है, माया बस होकर संसार भवकूप में पड़ता है, ईश्वर की कृपा से मुक्ति पाता है, अपने असली स्वरूप को पहचानता है। यहां रामानुजाचार्य के मत की स्पष्ट छाप है। पर यहां भी समन्वय है। रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य जीव को ईश्वर का अंश, ईश्वराधीन, नित्य ज्ञाता कर्ता और भोक्ता मानते हैं। शंकराचार्य के अनुसार जीव ब्रह्म ही हैं। भ्रम के कारण जीव की अनेकता प्रतिभासित होती है। अविदया के दूर होने पर जीव और ब्रह्म का सादात्म्य हो जाता है। वल्लाभाचार्य के अनुसार जीव अनेक हैं। तुलसीदास ने यह मत साफ व्यक्त कर दिया है कि जीव शरीर नहीं है। राम तारा से कहते हैं :—

"क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित यह अधम शरीरा
सो तुनु तव आगे यह सोवा, जीव नित्य केहि कारण रोवा।"

शंकर के अनुसार मोक्ष ज्ञान द्वारा है, वल्लभाचार्य के अनुसार भक्ति है और इस सम्प्रदाय में प्रपत्ति तथा शरणगति का विशेष महत्व है।

शंकर और वैष्णव दर्शनों में मोक्ष में भी अन्तर है। शंकराचार्य के मत के अनुसार मायाजनित अज्ञान या अविद्या के आवरण के हटने की अवस्था ही मोक्ष है, ऐसी दशा में जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। इस प्रकार मोक्ष state of knowledge है न कि change in state of existence जीव तो सदैव ब्रह्म ही था। इस बात का ज्ञान हो जाना मोक्ष है। वैष्णव आचार्य मोक्ष को जीव की वह अवस्था कहते हैं जहां ब्रह्म और जीव में तारतम्य सम्बन्ध हो जाता है। जीव को ब्रह्म का सामीप्य प्राप्त होता है यह दिव्य गुणों से मुक्त हो आनन्द का अनुभव करता है। इसी मोक्ष की अभिलाषा तुलसी दास करते हैं। हर भक्त करता है। तुलसी दास कहते हैं :—

"अरथ न धरम न काम रुचि, मति न चहों निर्वान,
जनम जनम रति रामपद, यह वरदान न आन।"

मैं सदैव राम की भक्ति में लीन रहना चाहता हूं और इसी में उन्हें "परम विश्राम" मिला। और विश्राम भक्ति द्वारा मिलता है।

"अस विचार हरि भगत सयाने, मुक्ति निरादर भगति सुभाने।
वैसे वे ज्ञान की महिमा मानते हैं और ज्ञान का भक्ति से सम्बन्ध भी।

"विमल ग्यान जल तब सोनहाई, तब रह राम भगति उरछाई।
ग्यान की महिमा कहते हैं।

"जानत तुम्हहि तुम्हहि हुई जाई।"

लेकिन इस सन्दर्भ में अनुग्रह की महिमा है :

"सोई जानद जेहि देहु बनाई। "मानस का अन्तिम दोहा है:—

"कामिहि नारि पिपारि जिमि, लोभहि प्रिय जिम दाम,
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।"

तुलसीदास ने सभी अध्यात्म साधनों का प्रतिपादन किया है किन्तु अन्त में भक्ति मार्ग को ही प्रधानता दी है जैसे कि श्री कृष्ण ने अन्त में अर्जुन से कहा:—

सर्वधर्मान परित्यज्य माम एकम शरणं वृज।

इस विषय पर अपना मत स्पष्ट करते हुए तुलसीदास लिखते हैं :—

"मोहि न नारि नारि के रूपा, पान्नगारि यह रीति अनूपा।
माया भगति सुनहु तुम दोऊ, नारि बर्ब जानई सब कोऊ।"

मुनि रघुबीर भगति अति प्यारी, माया खलु नर्तकी विचारी।
भगतिहि सानुकूल रघुराया, ताते तेहि डरपहि अति माया।
रामभगति निरूपम निरूपाधी, सवइ जातुं उर सदा अवाधी।
तेहि विलोक माया सकुचाई, करि न सकई कछु निज प्रभुताई।
अस विचारि जे मुनि विग्यानी, जार्वाहि भगति सकल सुधनखानी।

माया विषय पर भी तुलसी का मत समन्वयवादी है। अद्वैतवादी शंकर माया को अविद्या का पर्याय मानते हैं। वैष्णववादी माया को सगुण ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। तुलसी दोनों को मानते हैं। एक को विद्या माया कहते हैं, दूसरी को अविद्या माया।

"मैं अरू गोर तोर सै माया, जेहि सब कीन्हें जीव निकाया।
मो नोचर जहँ लीग मन जाई, सो तब माया जानेउ भाई।
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ, विद्या अपर अविद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा, जा बस पराजीव श्व कूपा।
एक रचइ जग गुन बस जाके, प्रभुं प्रेरित नहिनिज बस ताके।

सांख्य में प्रकृति स्वतन्त्र है, स्थूल जगत उसी का विकार है अद्वैतवाद में मिथ्या जगत की रचना का कारण माया है, जगत माया की शक्ति का कार्य है। वैष्णव विचारक माया को पर-ब्रह्म की शक्ति मानते हैं जो कि विश्व का निर्माण करती है। तुलसीदास ने प्रकृति को राम के अधीन और माया से अभिन्न माना है। उन्होंने सृष्टि के सम्बन्ध में सांख्य की प्रकृति और वैष्णव वेदान्त की माया को एक कर दिया है।

शंकर माया को मिथ्या मानते हैं, रामानुजाचार्य सत्य मानते हैं। तुलसी दास को मायावाद तो मान्य है किन्तु उसका रूप न शंकर के मत के अनुसार ही और न रामानुजाचार्य ही के अनुसार। दोनों का समन्वय है।

माया ब्रह्म की शक्ति है। राम ब्रह्म है, मायापति है सीता उनकी शक्ति है। सीता वह आदि शक्ति है जो संसार की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करती है। मनु शत रूपा को वरदान देते समय प्रतिज्ञा की गयी थी कि:—

"आदि शक्ति जेहि जग उपजाया, लोउ अवताहि भेर यह माया।
माया के भी दो रूप हैं। अव्यक्त और व्यक्त। व्यक्त रूप में सीता है।

"वाम भाग सीमित अनुमूला, आदि शक्ति छवि निधि सुखमूला।
जातु अंग उपजहि गुन खानी, अगनित चच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि विलास जातु जग होई, राम बाग दिति सीता सोई।

इस प्रकार अविद्या को निकाल कर सीता को विद्या माया के रूप में ग्रहण किया है। इस मत पर देवी भागवत की छाप प्रतीत होती है और वह माया-सीता राम से अलग नहीं। शक्ति और शक्तिमान का सम्बन्ध है।

"गिरा अंध जल मीचिसम, कहियत भिन्न न भिन्न।
वदेउ सीता राम पढ़, जिन्हें परम प्रिय खिन्न।"

रामानन्द सम्प्रदाय में राम की प्राप्ति के लिये सीता की कृपा आवश्यक है। यही मत तुलसीदास का है। दूसरी ओर अविद्या माया जीव को ब्रह्म से दूर करती है, पतन की ओर ले जाती है। दैत्यों और राक्षसों को यही मातया प्रभावित करती है।

जो ब्रह्म

"बिन पद चले सुने बिनुकाना, बिनकर कर्म करे विधि नाना।
आननरहित सकल रस भोगी, बिन वाणी बक्ता बड़ जोगी।
नि बिनु परस नयन बिनु देखा, गहे घ्यान बिनु बांस अलेखा।
अस सब भांति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाय नहि बरनी

यही ब्रह्म राम हैं। जो सर्वत्र व्यापक हैं। वही कौशल्या की गोद में है ब्रह्म की जो माया है वही राम की आदि शक्ति सीता है।

मोक्ष ईश्वर का सामीप्य है, आनन्द और विश्राम की गति है।

सुखी मीन जह नीर अगासा, जिम हरि शरण न एको बाधा

वह भक्ति द्वारा अति सुलभ है। यही मानस के दर्शन का हृदय है और इसके केन्द्र बिन्दु हैं राम–सीता।

सियाराम मय सब जग जानी करहुं प्रणाम जोड़ि जुग पानी।

गणगौर पर विशेष

थानै सामै मिलैली गणगौर, ओ अंजा मारू

—पूरन सरमा

अनूठी लोकानुरंजक एवं आंचलिक आदि लोक परम्पराओं से सरोबार रंग-रंगीला राजस्थान तीज-त्यौहारों की मन-भावन मनोहारी प्रथाओं का कुबेर है। यहां के हर त्यौहार की अपनी मौलिक पहचान है—अर्थ है और मान्यता है। इन्हीं त्यौहारों में से गणगौर भी एक ऐसा लोकपर्व है, जिसका आयोजन ऐतिहासिक पुरातन स्वरूप के साथ तमाम अंचलों में विद्यमान है। इधर फागुन और होली के गीत की मादक गंध मिट भी नहीं पाती है कि चैत के लगते ही गणगौर के सुरीले गीत गली-मौहल्लों में गूंज उठते हैं।

मूलतः गणगौर कुंवारी कन्याओं का त्यौहार है जिसमें कन्याएं अपने लिए सुंदर वर की चाह करती हैं तथा भाई के दीर्घायु होने के साथ रूपसी भौजाई की भी कामना करती हैं। गणगौर पूजन में ईसर भगवान शिव का प्रतीक है तो गौर पार्वती का स्वरूप मानी गई हैं। कुंवारी कन्याओं के अलावा—वे शादी-शुदा महिलाएं भी गणगौर पूजती हैं—जिनकी अभी हाल ही में शादी हुई है। वे भी शादी के बाद की पहली गणगौर अपने पीहर में आकर पूजती हैं। गणगौर का पूजन होलिका दहन के दूसरे दिन चैत्र पक्ष की पहली तिथि से प्रारंभ होता है जो चैत्र के शुक्ल पक्ष की तीज तक चलता है।

चैत्र एक ऐसा महीना है—जब मौसम अपने सुहावने-पन के कारण सभी को लुभाता है तथा हल्की शीत-ग्रीष्म के बीच युवा हृदयों में नये भावों का संचार करता है। प्रातः विहान में कन्याएं इकट्ठी होकर बाग-उपवन से फूल व हरी कच्ची दूब चुनने जाती हैं तथा उसे अपने कलशों में पानी के साथ सजाकर गीत गाती हुई पूजा स्थल की तरफ लौटती हैं। राजस्थान में इस समय यह गीत आमतौर पर गाया जाता है।:—

गौरए गणगौर माता
खोल ए किंवाड़ी
बारे ऊबी थारी पूजणहाली

गणगौर पूजन में कन्याएं घास की पत्तियों से सोलह बार गणगौर पर स्वच्छ जल से छींटे मारकर स्नान कराती हैं तथा कुंकुम का टीका लगाती हैं। पूजन के समय यह गीत गाया जाता है

गौर-गौर गणपति
म्हैं पूजा ईसर पारबती
पारबती रा आला-गीला
गौररा सोना रा टीका
टीका दे-टमका दे
बाला राणी बरत करै
खैरो-खाटो लाडू आयो
लाडू ले बीरा नै दियो
बीरो म्हाने चनड़ दी
चूनड़ म्हाने गौर उढ़ाई
गौर म्हाने सुहाग दियो

इस गीत में भाई के मांगलिक भविष्य तथा उसकी प्रशंसा में बहिन ने स्तुति की है। सबसे महत्वपूर्ण बात जो गीत के बोलो में मुखर हुई है—वह यह कि भैय्या ने जो चूनर दी उसे नायिका ने गणगौर को सौंपा और गणगौर ने उसे उसका अमर सुहाग अर्थात् सुंदर वर प्रदान किया।

सुहागिन बालाएं आमतौर पर पीहर में गणगौर पूजती हैं। जब गणगौर के दिन आए तो वह पीहर जाने को मचलने लगी। एक दिन वह अपने प्रियतम से कह ही उठी—

भंवर, म्हाने पूजण दयो गणगौर
भंवर म्हाने खेवण द्यों गणगौर

जब प्रियतमा पति आज्ञा से पीहर चली गई तो पति महाशय अपनो गणगौर के पीछे ही अपनी ससुराल में आ धमके। उस समय गोरी बागों में फूल चुनने चली गई थी। जब वह लौटने लगी तो इस गीत ने प्रियतम के दिलों-दिमाग पर एक अनूठा ही जादू चला दिया—

म्हानै माथै पै—मै मंदल्यायी
अंजा मारू यहां ई रैवोगी
थानै सामै मिलैली गणगौर
औ अंजा मारू यहां ई रैवोगी

प्रियतमा ने प्रियतम को संकेत दिया कि हमारे यहां गणगौर पूजन हो रहा है—और तुम्हारी प्रियतमा रोज कलश सजाकर फूल व दूब गणगौर को पूजने के लिए अच्छे कपड़ों में सज-धज कर लाती है। इसलिए हे प्रियतम! जब तक

यहां गणगौर पूजन चल रहा है--तब तक आप यही अपनी सुसराल में रहकर इस मतवाले मौसम व त्यौहार का आनंद लें। मैं तुम्हारी हृदय से मनुहार करूंगी। नायिका का यह स्वरूप राजस्थानी लोक संस्कृति की स्नेहिल विचारधारा को साकार करके-सरस धारा को प्रवाहित करता है।

आमतौर पर कन्याएं एक जगह ही पूजा का स्थान बनाकर सोलह दिन तक पूजन करती हैं। उनके लिए यह सोलह दिनों की एक चहल-पहल है, जिसमें ईसर, गणगौर को ले जाते हैं। एक गीत में यह विचार इस रूप में आया है--

म्हारै सोला दिना हो चालो
ईसर ले चाल्यो गणगौर
मैं पूजर रोटी खाती रैयी
सहैल्यां सूं बतलाती रैयी
ईसर लै चाल्यों गणगौर

अंत में गणगौर पूजन समाप्त हो जाता है तथा उसके स्वरूप को तालाब अथवा कुएं में डाल दिया जाता है। राजस्थान का यह अनूठा लोक आयोजन जीवन के विविध रंगों में घुलमिलकर आज भी जीवंत रूप में लोक जीवन की गहरी आकांक्षा में विद्यमान हैं।



हाड़ौती लोकगाथा तेजाजी : अतुकांत छंदों का संगीतबद्ध गायन

--प्रेमजी प्रेम

छंद के बंधन से काव्य को मुक्त रखना, कभी-कभी आधुनिकता या कविता का नया आयाम समझा जाता है। सामान्य पाठक अतुकांत कविता को "नई" मानने का भ्रम पालता है और छंदवद्ध कविता के स्थान पर लाई गई किसी क्रांति सदृश समझकर भिन्न तुकांत काव्य की पृथक प्रतिष्ठा करता है।

ऐसे समय में ऐसे काव्य की चर्चा करना समीचीन हो जाता है जो भिन्न तुकांत होते हुए भी संगीतबद्ध होकर लाखों लोगों के कंठ में विद्यमान है।

दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के हाड़ौती अंचल में पुरुषों द्वारा गायी जाने वाली ऐसी कई लोकगाथायें हैं जिनमें सहस्राधिक छंद होते हुए भी तुक नहीं मिलती, विशेष बात तो यह है कि ऐसी लोकगाथाओं को तदनुरूप समय पर गाया जाता है। इस अंचल में इन लोकगाथाओं को गाने वालों की संख्या यदि कोई पूछे, तो उसका उत्तर होगा, राजस्थान के दक्षिण-पूर्वी चल के आबालवृद्ध किसानों की संख्या। भिन्न तुकांत लोकगाथाओं का अनपढ़ किसानों द्वारा गाया जाना इन काव्यकृतियों का एक पृथक आश्चर्यजनक पहलू है। दशहरा के अवसर पर माहपर्यंत गाये जाने वाले "परथीराज के कड़े" दीपावली पर गायी जाने वाली "हीड" और वर्षा ऋतु में भाद्रपद माह में पूरे महीने तक गायी जाने वाली "तेजाजी" लोकगाथाएं अपने सहस्रों छंदों के साथ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं।

ये तीनों लोकगाथाएं भारतीय जनमानस में अवस्थित वीर-पूजा भाव को भी प्रतिबिंबित करती हैं और काव्य की भिन्न विधा को भी लोक काव्य में प्रतिपादित करती हैं। इन सभी लोकगाथाओं में "कथा" दो दो पंक्तियों के "डूहों" (दोहों) में बंधकर आगे बढ़ती है जिनकी न तो आपस में ही तुक मिलती है और न गाथा के किसी अन्य अंश से ही इनका वाक्यांश मिला करता है।

तेजाजी लोकगाथा, किसानों द्वारा गायी जाने वाली ऐसी ही गाथा है।

कथानक

"तेजाजी" का कथ्य धीरोदात्त तेजा जाट की इस जिद से प्रारंभ होता है वह अपने शिशुकाल की ब्याहता पत्नी को लिवाने जाने के लिये अपनी मां से आग्रह करता है। क्योंकि उसे अपनी भाभी तथा अन्य महिलाओं से ज्ञात होता है कि उसकी शादी अत्यंत बाल्यकाल में "पीले पोतड़े" ही भौडल के साथ कर दी गई है। मां इस सचाई की पुष्टि करती है और तेजा से कहती है कि अपनी पत्नी को लिवा लाने से पूर्व वह अपनी बहिन को उसके ससुराल से ले आये। तेजा पहले बहिन को लाता है और फिर अपने ससुराल जाता है। लोक भावना के अनुसार उसे अपशकुन होते हैं, जिनकी वह परवाह नहीं करता क्योंकि वह वीर है।

मार्ग में वह जंगल में लगी हुई आग में एक सर्प को जलते हुए देखता है, जिसे वह अपने भाले की नोंक से आग की लपटों से बाहर निकालता है। लेकिन सर्प क्रोधित होकर उस पर यह आरोप लगाता है कि उसने उसे पेट घसीटते हुए जीने वाले जीवन से मिल रही मुक्ति से वंचित करवाया है और पुनः पेट के बल आजीवन चलते रहने पर विवश कर दिया है। इस कृत्य के लिये सर्प तेजा को दंशित करना चाहता है। तेजा उसे वचन देता है कि वह अपनी पत्नी को लेकर लौटते समय स्वयं ही अपने आपको दंशन के लिये प्रस्तुत कर देगा।

अपने ससुराल में अपनी चहेती साली "माना गूजरी" की गायों को मीणों से छुड़वाने के लिए किये गये युद्ध में वह घायल हो जाता है और उसके सभी अंग बुरी तरह चोटग्रस्त हो जाते हैं।

वह ससुराल से लौटकर सर्प के पास जाता है और कहता है कि वह अपने वचन के निर्वाह हेतु आ गया है। सर्प के यह आपत्ति करने पर कि उसका संपूर्ण शरीर युद्ध के शस्त्रों से दंशित है अतः वह केवल अदंशित स्थान पर

दंश देकर ही अपना बचन निभा सकता है, तेजा द्वारा अपनी जिव्हा को दंशन हेतु प्रस्तुत किया जाता है।

सर्पदंश से तेजा की मृत्यु हो जाती है और उसकी पत्नी भोडल उसका सिर गोद में धरे सती हो जाती है।

छंदविधान

तेजा के जीवन की इस कथा को हाड़ौती लोकभाषा से छंदबद्ध किया गया है। ये छंद अतुकांत हैं और इनकी संख्या तीन हजार से अधिक है। हर छंद का "ड्वा" या "डुहा" अथवा "कड़ी" कहा जाता है क्योंकि वह दो पंक्तियों का होता है। लेकिन इसमें दोहे की मात्रिकता कहीं दीखने को नहीं मिलती। एक छंद दृष्टव्य है :

घणां दनां में आयो छै रै खावंद म्हारा,
थारै लेखै सूं तो भोडल मरगी फीर में।

उक्त छंद में भोडल, तेजा से कहती है कि मेरे पति, तुम बहुत दिनों में आये। आपकी ओर से तो भोडल पीहर में ही मर गई।

इन छंदों को इसी प्रकार गाया जाता है और गाते समय तुक के मिलाने का ख्याल किसी को भी नहीं आता। अन्य छदों में भी यही अतुकांत भाव देखा जा सकता है। जैसे :

एक मंजल दूजी लांघी रै घोड़ी जी हाला,
तीजी मंजला में पूग्यो दै राई आंगणै।

धीरी तो मंदरी चालै नै रै घोड़ीजी म्हारी,
डाकण तो खा जावैगी जूना शहर की।

इन सभी छंदों में एक मूल तत्व यह विद्यमान है कि हर छंद में प्रथम पंक्ति के अंत में संबोधन अवश्य आता है। जैसे "जामण म्हारी" (मेरी मां), "घोड़ी जी हाला" (घोड़ीवाले), "बासक बाबा" (नाग बाबा), देवरिया म्हारा (मेरे देवर), कोचरी राणी, गूजर की माना, जीजाजी म्हारा आदि।

सभी तीन हजार छंदों में संबोधन का यही क्रम जारी रहा है। लेकिन छंद में तुक का सर्वत्र अभाव है।

गायन परम्परा

तेजाजी लोकगाथा का अतुकांत होना इसलिये भी अध्ययन की गुंजाइश रखता है क्योंकि इसे गाया जाता है। यह पूरा लोककाव्य "देस" राग की देशी रागिनी में स्वरबद्ध है। इस रागिनी में निबद्ध काव्य को "कहरवा" ताल में गाया जाता है। इसके साथ साथ "अलगोजे" (बांसुरी द्वय) पर स्वर को एक या दो व्यक्ति बांधे रहते हैं। स्वर के इस बंधन में कभी-कभी पूरा समूह और कभी-कभी मुख्य गायक गाथा को गाते हैं और समूह उसे दोहराता है।

कहरवा में ताल "ढोलक" पर दी जाती है और यही ताल "मजीरे" पर भी चलती रहती है। प्रत्येक छंद के समापन पर ताल का "तोड" होता है और फिर नये छंद के गायन के उठान के साथ साथ ताल और स्वर का भी उठान होता है। अपनी राग के स्वर और ताल की लय से यह गायन कभी पृथक नहीं होता।

इतना विधान बनाये रखकर तेजाजी का सृजन जिस अज्ञात लोककवि ने अतुकांत छंद में किया होगा उसके बारे में कुछ भी कहा जाना पर्याप्त नहीं होगा। क्योंकि जिस प्रकार लोक कंठ में विराजित हजारों लोक गीतों के रचयिताओं के बारे में समय का अनुमान लगाया जाना कठिन है उसी प्रकार इस गाथा के सर्जक के बारे में कहा जाना भी संभव नहीं है।

लेकिन गाथा में आये पात्रों और घटनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस लोकगाथा का सृजन काल अमुक अवधि के पश्चात हुआ है। इसके अतिरिक्त इसी गाथा के अन्य छंदबद्ध काव्यरूप के काल से भी इसके काल निर्धारण में सरलता हो सकती है।

हाड़ौती भाषा और साहित्य

यह काव्य वर्तमान हाड़ौती लोकभाषा में गाया जाता है। इसकी एकमात्र पांडुलिपि हाड़ौती साहित्य और स्वरूप के अध्ययनकर्त्ता डॉ० कन्हैयालाल शर्मा ने लोकगायकों से संकलित करके बनाई। इसका प्रकाशन भी अशोक प्रकाशन के माध्यम से हुआ। लेकिन इसमें गाथाकार अथवा गाथा-काल के बारे में उल्लेख नहीं मिलता।

इन्हीं डॉ० कन्हैयालाल शर्मा ने हाड़ौती लोकभाषा और साहित्य पर लिख अपने दोनों ग्रंथों, "यथा हाड़ौती साहित्य और स्वरूप" तथा "हांड़ौती बोली और साहित्य" में तेजाजी का पृथक अध्याय बनाकर विवेचन किया है। यह विवेचन इस लोकगाथा पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त ही नहीं है बल्कि महत्वपूर्ण भी है।

डॉ० शर्मा ने हाड़ौती भाषा के विकसित रूप इस अंचल में चौहानवंशी हाड़ाओं के शासन के बाद से प्रतिपादित किया है। इस प्रकार हाड़ौती का विकास तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् माना जा सकता है। सोलहवीं शताब्दी के बाद के राज्यकालीन पट्टे परवानों और अनेकों शिलालेखों में "हाड़ौती" लोकभाषा का बहुतायत से प्रयोग मिलता है। जो बूंदी और कोटा के अधीन आने वाले संपूर्ण क्षेत्र में व्याप्त हुआ प्रतीत होता है।

तेजाजी के नायक तेजा जाट के जीवन के अध्ययन से इस बात की जानकारी मिलती है कि उनका जन्म दसवीं शताब्दी के बाद में हुआ। ठाकुर देशराज की "मारवाड़

का जाट इतिहास'' नामक पुस्तक में तेजाजी का जन्म संवत 1130 में बताया गया है। रामगोपाल शिवरामजी राव लिखित ''तेजलीला'' में उनकी जन्म तिथि संवत 1330 में बताई गई है।

इन सभी बातों से यह तथ्य निकल कर आता है कि तेजाजी लोकगाथा का सृजन काल तेरहवीं शताब्दी के पश्चात हुआ होगा। क्योंकि तेजाजी ऐतिहासिक पात्र हैं और उनके जीवन की घटनाएं ऐतिहासिक क्रम रखती हैं इसलिये ''वीर-पूजा'' भाव के कारण वे लोक के ''हीरो'' हो गये। उनके साथ कुछ अन्य कथायें जुड़ीं। कालांतर में आस्थाओं ने उन्हें लोकदेवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। वर्तमान में हाड़ौती के गांव गांव में तेजाजी के ''थानक'' (स्थानक) बने हुये हैं जहां आस्थावान लोग जाते हैं और तेजाजी के सामने मत्था टेकते हैं। वे केवल जाटों के देवता नहीं हैं, संपूर्ण कृषक वर्ग के देवता ह।

सर्पदंश

गांवों में ऐसी मान्यता है कि सर्पदंश पर तेजाजी के नाम से सूत्र बांध देने से दंशित व्यक्ति को नशा या मृत्यु नहीं आती। इस धारणा के कारण यहां के गांवों में सांप के काटते ही तेजाजी के नाम की 'डसी'' (धागा) बांध देते हैं। इस धागे (डसी) को भ्रद-पद शुक्ला दशमी के दिन, जो तेजाजी की मृत्यु का दिन होने से गांव-गांव में विशेष महत्व रखता है थानक पर लाकर डसी को तोड़ दिया जाता है। कुछ क्षणों के लिय दंशित व्यक्ति को नशा जैसा हो आता है। लेकिन बाद में वह पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाता है। यह डसी बांधने का काम वर्ष में किसी भी दिन किया जा सकता है जबकि उसके तोड़ने का दिन तेजाजी की पुण्य तिथि पर निर्धारित है।

इस ग्रामीण धारणा में कितनी सच्चाई है, यह तो कहा जाना सरल नहीं है, लेकिन यह कहना अवश्य ही आवश्यक है कि इस एक ही कारण ने तेजाजी को अद्भुत लोकदेवता बना दिया है। वे सांपों के बारे में इस धारणा के प्रतीक हैं कि उनको दंश देने के बाद अब कोई भी सर्प उनके नाम को ले लेने वाले व्यक्ति की जान नहीं लेता।

लेकिन यहां यह बात भी सोचने योग्य है कि ''दी स्नेक्स ऑफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान'' में के०जी० बारपुरे ने विश्व के 1700 प्रकार के सांपों में से केवल 300 प्रकार के सांपों को ही विषैला और घातक बताया है। ऐसी स्थिति में यह भी हो सकता है कि सर्पदंश के भय से ही अधिकांश किसानों की मृत्यु हुआ करती हो, जिस भय का निवारण ''डसी'' से हो जाने पर अधिकांश लोगों के प्राण बच जाते हों।

डॉ० कन्हैयालाल शर्मा ने एक तथ्य की ओर ध्यान दलवाकर भी सर्प से जुड़ी हुई मान्यता का खंडन करने का प्रयास किया है। उन्होंने जाट जाति की वंशावली और उपजातियों के आधार पर ''नाग'' तथा ''काला'' गोत्रों के बारे में लिखा है। ''मारवाड़ जाट इतिहास'' में भी देशराज ने इसी गोत्र के बालू नामक व्यक्ति से तेजाजी का झगड़ा होने और प्राण त्यागने की बात कही है।

ऐसी स्थिति में डॉ० शर्मा का यह मत काफी हद तक सही प्रतीत होता है कि ''काला'' और ''नाग'' शब्द का अर्थ कालान्तर में सर्प से लिया जाने लगा है, जबकि सर्प से वचन बद्ध होकर नहीं बल्कि काला नाग गोत्र के अपने शत्रु से वचनबद्ध होकर ही किसी युद्ध में तेजाजी की वीर-गति हुई।

जो भी हो तेजाजी लोकगाथा का लाखों कंठों में विद्यमान होना और समय आते ही ऊंचे स्वर में समूहबद्ध ढंग से हर गांव में उसे गाना, यह प्रमाणित करता है कि सदियों पूर्व यह अतुकांत लोक रचना लिखी गई और छंद की मूल आवश्यकताओं के विरोध में जन-काव्य-क्रांति का सूत्रपात हुआ।

तुकांत भी

यही गाथा तुकांत भी मिलती है। लेकिन वह हाड़ौती लोक भाषा में सृजित लोक काव्य की भांति न होकर मारवाड़ी ''ख्याल'' के रूप में उपलब्ध है। इस गाथा को राजस्थान में स्थान-स्थान पर बिक्री होते देखा जा सकता है। इसे मंच पर नाटक या नौटंकी की शैली में भी प्रस्तुत किया जाता है और राजस्थान के कई व्यावसायिक नाट्य दल गांवों में जाकर इस ख्याल को खेलते हैं।

ऐसी एक पुस्तक रामगोपाल शिवराम जी राव रचित तेज लीला है, जिसमें लेखक ने संवत 1734 में लिखी गई महात्मा गोपीदास श्री कृष्णदास की गद्यात्मक पोथी है। जिसे राव जी ने पद्य रूप में लिखा है। इसके छंदों के उदाहरण स्वरूप दोदेशी दोहे प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

म्हारी गत मिलती देही कै दाग लगायो।
सुण सांवत सूरा थारै हाथ कांई आयो।।

थारी बचगी प्यारी जान करै क्यूं चाला।
गुण करतां ओगुण मान्यो रे वासक काला।।

राजस्थान के सोलह ''सांवतों'' (सामंतों) में से एक सांवत तेजाजी भी माने गये हैं। ये सांवत के रूप में ही पुजते हैं और जन कल्याण करते हैं। इनकी अन्य विशेषताएं इस आलेख का अभिप्राय न होने से यहां कोई संदर्भ नहीं रखतीं।

ऐसी स्थिति में जन काव्य में हुई इस विद्या क्रांति को प्रशंसित करते हुए इस आलेख को समाप्त कर देना ही उपयुक्त होगा।

राजस्थानी प्रेमाख्यान सैणी-बीजाणांद

--सवाई सिंह धमोरा

गुर्जरधरा के प्रसिद्ध पर्वत गिरनार की तलहटी में बसे गांव गौरी बयाली में एक सम्पन्न चारणं निवास करते थे। नाम था बेदोजी। इनके घर में एकमात्र कन्या थी, जिनका नाम था सैणी। सैणी अत्यन्त रूपवती थी। एक दिन पनघट पर पानी भरते हुये सैणी को बीजाणांद ने विनय भरे शब्दों में सम्बोधित किया—"प्यासा हूं कृपया पानी पिलाइये।"

पुरुष की आवाज सुनते ही सैणी ने मुड़कर देखा कि प्यासे पथिक के कंधे पर एक वाद्य यंत्र है, जिसमें मोर-पंख भी लगे हैं। पथिक युवा है। परन्तु उसके वस्त्र अत्यन्त ही जीर्ण एवं मलीन है। शीष पर लम्बी बढ़ी हुई केशावली शुष्क है, उलझी हुई भी है। श्यामवर्ण, चेहरे पर गहरे चेचक के दाग गले के चारों ओर मैल भी जमा हुआ है। नंगे पांव और मलीन मुख युवक पानी पीने को हाथ बांधे खड़ा है।

दैदीप्यमान चेहरे वाली सुन्दरी बाला सैणी ने उस कुरूप एवं मलीन तन वाले युवक को देखकर घृणा से मुख फेर लिया। अपनी सहेली के सन्मुख दृष्टिपात करके वह मुस्कराई मानो उस युवक की मलीनता से उसे उबकाई आ गई हो। युवक ने अपने मृदु कण्ठ से पुनः आग्रह किया : पानी चाहिये प्यासा हूं। दूर से चला आ रहा हूं। यों कह कर दो कदम आगे बढ़ाता हुआ सैणी के कलश के समीप आ गया। उसे अपने समीप देख युवती की नाक घृणा से ऊपर उठ गई। उसके होठ एकाकार होकर बिगड़ गये। नाक चढ़ाकर बोली—दूर रहो--मेरे कलश से छू न जाना--

वाद्य यंत्र वाला युवक मृदु-वाणी में बोला—छू जाऊं तो क्या हो जायेगा? चारण का बेटा हूं।

सहेली ने सैणी को कहा—पानी पिलाइये न आपकी जाति का ही तो है। परन्तु वह बोली—मुझे तो इस तरह के गंदे मनुष्य से घृणा है। आप ही पिला दो? यों कहकर सैणी ने अपने दुपट्टे का पल्ला मुंह की ओर खींच लिया।

*   *   *

सैणी के शब्द युवक के कानों में पड़े और दृष्टि पड़ी उसकी कुंकुमवर्णी कलाइयों पर। उसकी लाल चूड़ियां और कलाई की ललाई एक सी प्रतीत हो रही थी। मानो स्पर्श मात्र से ही लहू टपकने लग जायेगा। नाखून ऐसे स्वच्छ कि दर्पण के समान मुख देख लो भले ही। युवक ने एक बार अपने शरीर पर दृष्टि डाली। श्याम वर्ण के इस शरीर के यह काले स्याह हाथ। भैंसों का गोबर उठाते-उठाते इतने खुरदरे हो गये हैं कि कोमलता समीप आने से भी ठिठकती है। बिवाई फटे नंगे पांव, जिन पर धूलि जमी हुई है। युवक का मन सैणी के घृणास्पद व्यवहार से क्षण भर के लिये भारी हो गया। उसे सैणी का यह रुख भला न लगा। वह बोला—रूप और कुल का दाता विधाता है। जैसा काला, गोरा, बेडोल-सुडौल घड़ दिया वापस फिरने का नहीं। मनुष्य के लिये इस संबंध में अपने वश का कुछ भी नहीं है। अपने वश में है गुणों का विकास करना और तदनुसार कार्य करना। यदि इन दोनों में से कोई कमी मुझ में नजर आती हो तो आपकी घृणा उचित है। प्रभु की इच्छा उसने आपको सौन्दर्य दिया है, मुझे नहीं, इसमें घृणा की तो कोई बात नहीं। दांतों पर जमी काई की ओर इंगित कर सैणी बोली—क्यों नहीं जैसी आपकी चमकीली बत्तीसी है वैसे ही बत्तीस लक्षण भी आपने अपने आप में विकसित किये ही हैं?

सैणी की सहेली ने उसके कलश को उठाकर पथिक को पानी पिलाना चाहा तो उसे भी उसने रोक दिया। दूसरा डोल खींच कर पिला दो—मेरा कलश अपवित्र मत करो—यह कह कर सैणी कुंए की दहलीज से नीचे उतर कर खड़ी

हो गई। इतने में एक कौआ कलश पर बैठ गया। सहेली ने आवाज दी—सैणी कौआ कलश में चौंच देगा। सैणी ने कौए को उड़ाने का उपक्रम किया परन्तु तब तक यह कलश में चौंच दे चुका था। पथिक ने उन्हें सुनाकर कहा—क्या कौए से भी मनुष्य बुरा है। काला कौआ भले ही स्वयं कलश से पानी पीले परन्तु आपको काले रंग के मनुष्य को अपने हाथ से भी पानी पिलाना रुचिकर नहीं। सैणी बोली—केवल रंग ही काला नहीं है। क्या कभी अपनी सूरत भी दर्पण में देखी है। इस प्रकार उस युवक को लज्जित करती सहेलियां आगे बढ़ गईं। मार्ग में सहेली ने सैणी से विनोद में कहा—यह चारण है समझी, भगवान करे—तुझे वरण करने यहीं आवे। सैणी बोली—मैं तो इसे अपने घर का गोबर उठाने वाली भी न रखूं। सहेली ने प्रत्युत्तर में कहा—भाग्य बड़ा प्रबल होता है, यदि भाग्य में यही लिखा है तो तुम क्या जोर करोगी।

*　　*　　*

बीजाणांद मरुधरा के ग्राम बैणय के एक निर्धन चारण का पुत्र था। रंग से काला परन्तु गान विद्या में अद्वितीय। जन्तर लोक वाद्य उसका प्रिय वाद्य और वह उसका विशिष्ट वादक। गरीब होने के कारण पड़ौसियों के पशु चराने का धंधा। जहां चरने को घास और पीने को पानी हो वहां ही पशुओं सहित पड़ाव। दिन भर संगीत की साधना।

वैदोजी चारण सम्पन्न। सैणी इकलौती सन्तान। सैणी के विवाह की पिता को चिन्ता परन्तु वह इंकार। पिता ने सोचा कि संभवतः यह भी अविवाहित रह कर ही चारण पुत्रियों के समान देवी गुणों से सम्पन्न होगी व पूजनीया बनेगी।

एक दिन सैणी को पनघट जाते बीजाणांद पुनः मार्ग में मिल गया। सैणी ने उसका पुनः तिरस्कार किया। परन्तु एक दिन ऐसा भी आया कि उसने बीजाणांद का संगीत सुना जो कि उसे बहुत पसन्द आया। वह हतप्रभ रह गई। उस काले ग्वाले चारण का संगीत सुनकर। उसे स्वयंमेव अपने पूर्व कृत्य पर घृणा हुई चाहा कि प्रायश्चित करे। साथ ही वह अपना मन भी उसे दे बैठी। बीजाणांद के संगीत स्वरों में उसे आत्मीयता और अलौकिक देवत्व का भान हुआ।

एक संयोग ऐसा भी आया कि बीजाणांद को वैदोजी चारण ने आमंत्रित किया। सारा गांव उस संगीत लहरी को सुनने उमड़ पड़ा। वैदोजी ने प्रसन्न होकर मन चाहा कुछ मांगने की बात कह दी। बीजाणांद ने मुस्करा कर कह दिया—यदि आप कुछ मांगने को कहते हैं तो मेरी एक इच्छा है कि—सैणी मेरे घर आकर घूंघट खोले। वैदोजी ने प्रारम्भ में तो इसे स्वीकार नहीं किया परन्तु समाज के दबाव में आकर इस शर्त पर बात मानली बारह महीने में सौ नवचन्दी भैंसे लाकर बीजाणांद देवे। नवचंदी भैंसों के लक्षण हैं—चारों पैर सफेद, पूंछ के बाल सफेद, मुंह सफेद, दोनों कान सफेद, ललाट पर सफेद तिलक। यह नवचांद कहलाते हैं।

बीजाणांद इस हेतु घर-घर घूमा, लेकिन शर्त को पूरा करना संभव न हो सका। उधर सैणी ने बीजाणांद के अलावा अन्य किसी से भी विवाह न करने की ठान ली। उसके अभाव में हिमालय में गलने को चल दी। बीजाणांद को सैणी ने गांव गांव ढूंढा परन्तु वह नहीं मिला। अन्त में वह बीजाणांद की आटे की प्रतिमा बनाकर हिम समाधि में बैठ गई।

बीजाणांद नवचंदी भैंसों का झुण्ड लेकर जब वैदोजी के घर पहुंचा तो वह सैणी को न पाकर उसकी खोज में निकल पड़ा। हिमालय में जाकर उसने अपना जन्तर बजाया। सैणी की उस अलौकिक स्वर को सुन कर समाधि भंग हुई। उसने उसे पुकारा। बीजाणांद ने जाकर देखा कि सैणी तो आधे से अधिक गल चुकी है। फिर भी उसने उसे इसी रूप में ले जाना चाहा परन्तु वह निश्चय से नहीं डिगी। उसने कहा—मैं आपकी सेवा करने की स्थिति में नहीं रही हूं। अब तो पुनर्जन्म में ही यह बदला चुकाऊंगी। बीजाणांद से उसने अन्तिम समय में जन्तर की ध्वनि सुनते-सुनते मरने की इच्छा व्यक्त की। वह साधक भी वहीं पालथी मार कर बैठ गया। जन्तर बजाने लगा और अन्त में उसकी वही पालथी समाधि में बदल गई। इस प्रकार एक साधक युगल का पुनः मिलने की आकांक्षा के मधुर स्वप्नों के साथ इहलौकिक अन्त हो गया। सैणी बीजाणांद संबंधी अनेक दोहे व गीत चारणों की जबान पर हैं। बहुश्रुत है कि सैणी ने मालदेव सोनगरा (जालोर का स्वामी) और बादशाह अलाऊद्दीन खिलजी को अलौकिक चमत्कार दिखाकर हतप्रभ कर दिया था। सैणी-बीजाणांद की कथा राजस्थान में बहुत लोक प्रिय एवं आदर्श कथानक के रूप में जानी मानी जाती है।

उनकी ध्येय निष्ठा एवं दृढ़ता आज भी हमारे लिये प्रेरणास्पद है। इसीलिये तो सैणी को देवी के समान वन्दनीय माना जाता है।



मानवोत्कर्ष

हैं पिता एक पर रूप भिन्न
सब धर्म मूल कहला देना

हैं मानव का उत्कर्ष यही
रे मन ! जग को बतला देना

—1—

जीवाणु मध्य गुरूत्तर मानव
जन का मस्तिष्क सदा उज्जवल

हो युवा रक्त या बाल, वृद्ध
चिंतन मस्तिष्क सदा निर्मल

हित आदि काल से प्राणिमात्र का
करने नित—जतला देना

है मानव का उत्कर्ष यही
रे मन ! जग को बतला देना

—2—

युग-युग, तिल-तिल, पग-पग बढ़कर
उत्थान नीति मानवता की

उज्जवल भविष्य, सुखमय जीवन
हो सही अर्थ सुख–समता की।

कर परिमार्जित सभ्यता, ज्ञान,
संस्कृति, भेद-सिखला देना

है मानव का उत्कर्ष यही
रे मन ! जग को बतला देना।

—3—

युग परिवर्तन के साथ सभी
सीमित इच्छायें फलीं, बढ़ी

कल का नूतन अब दीप्तिहीन
नित चिर नूतन की बात चली

पर नूतन क्या ? और क्या मुश्किल ?
यह गुप्तभेद—दिखला देना

है मानव का उत्कर्ष यही
रे मन ! जग को बतला देना

—4—

विश्वास हमें श्रम-सीकर पर
चंदा घर दीप जला सकते

हर मुश्किल काम सहज क्षण में
ध्वज मंगल पर फहरा सकते

कुछ बन्धु दुःखी हो क्यों रोयें ?
अनुकूल समय, कहला देना

है मानव का उत्कर्ष यही
रे मन ! जग को बतला देना

—5—

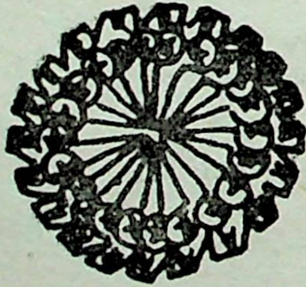
जितने गतिशील मही, मंगल,
ब्रह्मांड, चांद, सूरज, तारे

मानव मस्तिष्क, कहीं बढ़ कर
हम साभिमान कहते प्यारे

दिन दूर नहीं जब चपल चरण
ग्रह-ग्रह दमकेंगे—कह देना

है मानव का उत्कर्ष यही
रे मन ! जग को बतला देना ।

—मुरलीधर झा



परम्परा नाग पूजा की

—राज कुमार जैन "राजन"

राजस्थान में नागपूजा आदिवासियों एवं अन्य जातियों में थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ, समान रूप से प्रचलित हैं। नाग देवता से सम्बन्धित अनेक कथाएं, लोक कथाएं एवं पौराणिक कथाओं के रूप में सुनने को मिलती हैं। नागयोनी से सम्बन्धित विरोधाभास भी बड़ा दिलचस्प है जहां एक ओर नाग की पूजा की जाती है वहीं दूसरी ओर नागयोनी में जन्म लेने को बुरा समझा जाता है। दीर्घायु होने के कारण नाग की गति सहज नहीं, इसी कारण सर्पयोनी में जाने को अधोगति कहा जाता है।

दूसरी ओर दक्षिणी राजस्थान के मीणा आदिवासियों में मान्यता है कि जब मृत्यु के बाद देवयोनी प्राप्त होती है तो मनुष्य सर्प रूप धारण करता है। यदि वह मानव रूप में ही रहता है तो वह उसे प्रेतयोनी मानते हैं। मीणा एवं गरासिया आदिवासियों के पूर्वज सर्प अथवा नाग तथा मानवाकृति में पूजे जाते हैं देवयोनी में गये पूर्वज की मूर्ति नाग के रूप में ली जाती है और "खाखल देव अथवा खाखल्ल बावजी" के नाम से पुकारा जाता है। नाग रूपामूर्ति, आदिवासी देवरे में अन्य देवी देवताओं के साथ एवं एकाकी खेत में, वृक्ष के नीचे अथवा खुले आकाश के नीचे किसी भी चबूतरे पर प्रतिष्ठित कर दी जाती है। मूर्ति को कहां प्रतिष्ठित किया जायेगा यह स्वयं पूर्वज की इच्छा पर निर्भर करता है।

मीणा एवं गरासिया आदिवासी अपने पूर्वजों की तो नागरूप में पूजा करते ही हैं साथ ही अन्य जाति के उन योद्धाओं को भी नागरूप में पूजते हैं जिन्होंने शौर्यपूर्ण कार्य करते हुए अपने प्राणों की आहुति दी। ऐसे नायक देवों में दक्षिणी राजस्थान में "गातोडखी एवं कल्लाजी" तथा उत्तर पूर्वी राजस्थान में "गोगापीर" के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्हें सर्प के रूप में पूजा जाता है। इनके देवरे दक्षिणी राजस्थान में गांव-गांव में प्रत्येक स्थान पर देखने को मिल जाते हैं जहां पर प्रत्येक रविवार इनकी पूजा होती है।

इन नागरूप पूर्वजों एवं वीरगति प्राप्त योद्धाओं की पूजा के साथ-साथ आदिवासी पौराणिक नागदेवों की भी पूजा करते हैं। पौराणिक देवों के संस्कृत नामों का अपभ्रंश रूप इस प्रदेश में सुनने को मिल जाते हैं। जैसे वासुकि के लिए वासक नाग प्रयोग आदिवासी करते हैं तथा इनकी देवरूप में पूजा अर्चना करते हैं। आदिवासियों में इन पौराणिक नागदेवों का क्या मूल रूप है किस रूप में ये लोग उन्हें जानते हैं, यह गवेषणा का विषय है। इसी प्रकार ताखाजी बावजी, तक्षक नाग का ही रूप प्रतीत होता है जो तक्षक से ताखा हो गया।

मुख्यतः तीन प्रकार की नागप्रतिमाएं इस प्रदेश में देखने को मिलती है। प्रथम पत्थर की जो सोमपुरा मूर्तिकारों के द्वारा, कुछ खाती मूर्तिकारों द्वारा, त्योहारों द्वारा तथा अब स्वयं आदिवासियों द्वारा बनाई जाती हैं। इन मूर्तियों के निर्माण का प्रमुख केन्द्र केशरियाजी है, जहां से सर्वाधिक नागप्रतिमाओं की बिक्री प्रतिवर्ष होती है। दूसरी प्रतिमाएं मिट्टी की मोलेला के कुम्हारों द्वारा बनाई जाती हैं। तीसरी प्रकार की नाग कृतियों का निर्माण चांदी से किया जाता है जिन्हें गले में पहनते हैं और इन्हें "नामा" कहते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान फर्गुसन ने अपनी पुस्तक "ट्री एण्ड सरपेन्ट वरशिप" में इस बात का उल्लेख किया है कि नागपूजा राजस्थान के आदिवासियों के धर्म का एक प्रमुख अंग है। आर्य लोग जब यहां आए तो अनेक आदिवासी सांस्कृतिक तत्वों के साथ नागपूजा को भी आर्य संस्कृति में सम्मिलित कर लिया। वस्तुतः कृषि में नाग का एक अलग ही महत्व रहा, जो आदिवासियों की दृष्टि से उनके लिए लाभप्रद था।

आज भी राजस्थान में प्रायः समाज के सभी वर्गों में नागपंचमी तथा अनंत चतुर्दशी को बड़े उत्साह के साथ नाग की पूजा की जाती है। वराहपुराण के अनुसार इसी पंचमी को ब्रह्मा ने नागों को शाप और वरदान दोनों दिया था। ऐसी मान्यता है कि कार्तिक माह में अनन्तनाग सहित शंखपालादि नागों का पूजन करने से नाग दंश का भय नहीं रहता तथा विषजन्य रोग भी दूर हो जाते हैं।

उत्तर प्रदेश का शाक्तपीठ शाकम्भरी और उपेक्षित पुरातत्व

—डॉ० दिनेश चन्द्र अग्रवाल

उत्तर-प्रदेश का गंगा यमुना दो आब दोनों नदियों के उद्गम स्थल से आरम्भ होकर, इस राज्य की पश्चिमी सीमा बनाता हुआ इलाहाबाद तक चला गया है। यह दो आब का भू-भाग ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बड़े महत्व का रहा है। इसी के उत्तरी भाग में, उत्तर प्रदेश की पश्चिमी सीमा से लगा हुआ—सहारनपुर जनपद। इस जनपद की पूर्वी सीमा पर गंगा और पश्चिमी सीमा पर यमुना और इनके बीच फैले भूभाग पर दौड़ती-इठलाती बाण गंगा, सैलानी, काली, नागदेव, कृष्णा, कांठा, सैंधली, बुडढ़ी और कई छोटी-छोटी बरसाती नदियां मिलकर इस जनपद की धरती को सींचा करती हैं। इस जनपद की उत्तरी सीमा बनाती हुई शिवालिक की पहाड़ियों का सिल-सिला दूर-दूर तक चला गया है जिसकी ऊंची-नीची अनेक पहाड़ियां शाम के झुटपुटे में इसके पहरेदारों की पांत जैसी लगती हैं जो अनेक जड़ी-बूटियों, वनस्पतियों और अनेक प्रकार के भारी भरकम पेड़ों से भरे जंगलों से ढकी रहती हैं। इनके बीच-बीच में पहाड़ी, नालों, स्रोतों की कलकलाती धाराएं दौड़ती रहती हैं। वन्य जीव भी यहां बेरोक-टोक घूमते रहते हैं। मौसम बदलते ही यहां की फिजा नयी-नयी खुशबू से झूम उठती है। इन शिवालिक की पहाड़ियों के आंचल में ही स्थित है एक जागृत शाक्तपीठ शाकम्भरी। यह शाक्तपीठ न केवल इस जनपद में, अपितु प्रदेश में दूर-दूर तक हिन्दू जन जीवन में जाना पहचाना है। लगभग बारहों महीने यहां तीर्थ यात्रियों का जमघट लगा रहता है। विशेषतः प्रतिवर्ष अश्विन मास की चतुर्दशी को शाक-म्भरी देवी का विशिष्ट पूजन होता है और तभी बड़ा विशाल मेला यहां पर आयोजित होता है जिसमें लाखों व्यक्ति देवी के प्रति श्रद्धा भाव से आते हैं। जब जनसमूह देवी-दर्शन का प्रसाद पाने के लिये उमड़ पड़ता है तब यहां मंदिर के परिसर में तिल रखने की भी गुंजाइश नहीं रह पाती है क्योंकि इस शाक्तपीठ का आयाम बड़ा भारी भरकम नहीं है। मंदिर के चारों ओर घाटी में छोल-दानियों, तम्बुओं आदि का एक नगर बस जाता है। देवी मैया के जयकारे, भजन-कीर्तन और बाजे-गाजे से कई दिनों तक जंगल में मंगल बन जाता है।

वस्तुतः शक्ति के दैवी रूप की धारणा तथा उपासना का आरम्भ वैदिककाल में "देवी सूक्त" से हो चुका था। शक्ति रूपी देवी की उपासना और उसकी दिव्यता में विश्वास के आधार पर जिस भारतीय दर्शन-धारा का विकास हुआ, वह शक्तिवाद कहलाया, शक्ति में आस्था रखने वाले शाक्त कहलाये जिनके द्वारा शाक्त सम्प्रदाय का विकास हुआ। शाक्त दर्शन के अनुसार "ब्रह्म" नित्य और "मूल" शक्ति ही है जिससे सृष्टि उत्पन्न हुई है; प्रत्येक देवता के साथ यही शक्ति उसकी सहयोगिनी रूप में रहती है जिसके बिना वह अशक्त, अपूर्ण और अकर्मण्य रहता है। "कर्मपुराण" में भगवान विष्णु लक्ष्मी को परम-शक्ति कहते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि सब एक ही देवता के विविधि रूप हैं तथा लक्ष्मी, पार्वती, माया व राधा आदि सब एक शक्ति की देवी स्वरूप हैं। "वृहद्धर्म पुराण" में ब्रह्मा, विष्णु व महेश शक्ति स्वरूप देवी की स्तुति करते हैं "शिव पुराण" में ब्रह्मा जी अपनी सृष्टि की प्रगति रुक जाने पर चिन्तित हो उठते हैं तब उनके सम्मुख शिवजी अपने भीतर अवस्थित परम शक्ति रूप नारी तत्व सहित अपना "अर्द्धनारीश्वर" रूप प्रगट करते हैं, उस संयुक्त रूप में दायां अंग शिव का और बायां अंग शक्ति रूपी पार्वती का था, उस रूप-विग्रह दर्शन से ब्रह्मा जी को अपनी त्रुटि का आभास हुआ तथा प्रेरणा मिली कि सृष्टि का विकास केवल पुरुष तत्व द्वारा ही नहीं अपितु स्त्री तत्व के सहयोग से ही सम्भव है। अतएव शक्ति को सृष्टि की जननी, जगन्माता अथवा परमेश्वरी आदि की संज्ञा दी गई।

"महाभारत" तथा अन्य पौराणिक वाङ्गमयों में देवी के अनेक नाम तथा रूप प्रशस्त किये गये हैं। इन विविध रूपों में एक "शाकम्भरी देवी" भी विशिष्टता को प्राप्त है। अत्यादि काल से ही देवी की यह छवि लोक पूजित रही है। "मार्कण्डेय पुराण" के देवी "महात्म्य" खंड में देवी ने अपने विविध रूप नन्दा, रक्तचामुन्डा, शताक्षी, शाकम्भरी, दुर्गा, भीमा तथा भ्रामरी बताये हैं। "गायत्री सहस्रनाम" में देवी के एक सहस्त्र नाम गिनाये गये हैं जिनमें नौ सो तैंतीसवां नाम शाकम्भरी आता है। मार्कण्डेय

पुराण के "दुर्गा सप्तशती" में देवी स्वयं उद्घोषित करती हैं कि ववस्वत् मन्वंतर के अट्ठाइसवें युग में जब सौ वर्षों तक वर्षा नहीं होगी तथा घोर सूखा पड़ जायेगा जब मैं अपने शरीर से उत्पन्न हुए शाकों द्वारा समस्त संसार का भरण पोषण करूंगी। जब तक वर्षा नहीं होगी, तब तक वे शाक ही सबके प्राणों की रक्षा करेंगे। ऐसा करने के कारण पृथ्वी पर शाकम्भरी नाम से मेरी प्रसिद्धि होगी। अपने उसी अवतार द्वारा मैं "दुर्गम" नामक महादैत्य का वध करूंगी। "श्री देवी भागवत पुराण" तथा "शिवपुराण" में भी शाकम्भरी के इसी रूप भाव की चर्चा की गई है।

"महाभारत" में भी शाकम्भरी सम्बंधित तीर्थ स्थान की महिमा बताते हुए शाकम्भरी के महात्म्य का उल्लेख इस प्रकार है :—"ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम, शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता।" वनपर्व-84/13/1-(हे राजेन्द्र वहां से दुर्लभ देवी-स्थान की यात्रा करें), वह देवी तीनों लोकों में शाकम्भरी के नाम से विख्यात है।

"दिव्य वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता । आहारं साकृतवती मासि मासि नराधिप ।। ऋयोडम्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः । आतिथ्यं च कृंत तेषां शाकम्भरी समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।। त्रिरात्र भुषितः शाकं भक्षयित्वाः नरः शुचिः । शाकाहारस्य यत् किंचिद वर्षेर्द्वादशमिः कृतम ।। तंतफलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत।"

वनपर्व–84/14–17½/1

(उत्तम व्रत का पालन करने वाली उस देवी ने एक हजार दिव्य वर्षों तक एक एक माह पर केवल शाक का आहार किया था। देवी की भक्ति से प्रभावित होकर अनेक तपोधनी महर्षि वहां आये। हे भारत, उस देवी ने उन महर्षियों का आतिथ्य सत्कार भी शाकों द्वारा ही किया। तब से उस देवी का नाम शाकम्भरी प्रसिद्ध हो गया। शाकम्भरी तीर्थ के समीप जाकर मनुष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक एकाग्र-चित और पवित्र होकर वहां तीन रात तक केवल शाकाहार करे तो जो पुण्य लाभ शाकाहारी मनुष्य को बारह बर्षों में प्राप्त होता है, वही पुण्य उसे देवी की अनुकम्पा से तीन दिनों में ही प्राप्त हो जाता है।)

"दुर्गा सप्तशती" में शाकम्भरी देवी का प्रतिमा लक्षण का भी उल्लेख है जिसमें उनको चार भुजाओं में क्रमशः बाण, कमल, फूल, पत्ते जड़ व फल वाले शाकों का गुच्छा तथा प्रकाशमान धनुष धारण किये हुए बताया गया है। वे शोक रहित हैं, दुष्टों का दमन करने वाली तथा पाप व विपत्ति को शान्त करने वाली हैं। उमा, गौरी, सती, चण्डी, कालिका और पार्वती भी वह ही हैं। जो मनुष्य शाकम्भरी देवी की स्तुति, ध्यान, तप, पूजा और वन्दना करता है, वह शीघ्र ही अन्न, पान एवं अमृत रूपी अक्षय फल का भागी होता है।

सुकर्कशसमोतुङ्. . गवृत पीनवन स्तनी। . . . . . .फलम्।

जिस स्थान पर शक्ति ने शाकम्भरी के रूप में अवतार लिया वह स्थल यही शाक्तपीठ शाकम्भरी ही है। स्मरणीय है कि सहानरपूर जनपद प्राचीन कालील कुरू जनपद का विशिष्ट अंग रहा है। कुरू प्रदेश का यह क्षेत्र आर्य संस्कृति का प्राचीनतम केन्द्र रहा है, वेदों के रचयिता व अन्य महर्षि यहां निवास करते थे, इसके अतिरिक्त ब्रह्मा की पांच यज्ञ वेदियों में से एक "उत्तर वेदी" भी इसी क्षेत्र में होने के कारण भी यह क्षेत्र अत्यंत सिद्ध व पवित्र माना गया है। इस शाक्तपीठ का प्रामाणिक इतिहास अभी तक दुर्लभ ही रहा है। इस जनपद में 1834 ई० में कैप्टेन कौटले ने उक्त पीठ के निकट ही (15 कि०मी० दक्षिण की ओर) बेहट नामक कस्बे के क्षेत्र में यमुना नहर के लिये खुदाई कराते समय सम्राट अशोक कालीन महत्वपूर्ण पुरातात्विक कला सामग्री तथा सिक्के प्राप्त किये थे (संदर्भ—जॉरनल ऑफ ऐसियाटिक सोसायटी, बंगाल, वाल्यूम-3, पृ० 42 तथा अनुअल रिपोर्ट-आर्कोयॉलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया-1862, 1863 व 1864) उक्त पीठ के भवन का मरम्मत कार्य कराते समय भी कुछ वर्ष पहले मौर्य कालीन दो सिक्के प्राप्त हुए थे जो बाद में किसी प्रकार इधर उधर हो गये। उक्त बेहट कस्बा मौर्य काल में "बृहद हट्ट" के नाम से प्रसिद्ध था। प्रसिद्ध विद्वान डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा लिखित "आचार्य चाणक्य" में दिये गये विवरण के अनुसार "बृहद हट्ट" से लगभग एक योजन दूर उत्तर की ओर शिवालिक की उपत्यका में शाकम्भरी देवी का मंदिर स्थित था। आचार्य चाणक्य ने उक्त मंदिर को अपने कार्य क्षेत्र का केन्द्र बनाकर उसमें अपना आसन जमाया था। शाकम्भरी के यात्री बृहद हट्ट नामक नगरी में ठहर कर दिन के समय टोलियां बनाकर देवी के दर्शन के लिये जाया करते थे। यह नगरी उस राजमार्ग पर स्थित थी जो कुरू प्रदेश से उत्तर की ओर जाता था। स्मरणीय है कि बृहद हट्ट का परिवर्तित रूप ही आधुनिक बेहट है जहां से गुजरने वाला सदियों पुराना उक्त राजमार्ग उत्तर की ओर आगे चलकर कालसी घाटी से गुजरता है जहां सम्राट अशोक का एक शिलालेख आज भी स्थित है। इस प्रकार यह शाक्तपीठ मौर्य काल से भी पहले लगभग 500 वर्ष ई०पू० से भी प्राचीन होना चाहिए। "कल्याण" के तीर्थ अंक के अनुसार शाकम्भरी पीठ का प्रथम जीर्णोद्धार आदि शंकराचार्य द्वारा कराया गया था।

समीप के क्षेत्र में एक किंवदंती के अनुसार कई वर्ष पहले कोई भजन गूजर नाम का चरवाहा अपने ढोर चराते-चराते एक दिन अन्धा होकर शाकम्भरी के जंगल में भटकता ठोकरें खाता फिर रहा था। उसे एक स्त्री मिली जिसने उस पर

दया करके उसकी लाठी पकड़ कर उसे गांव तक पहुंचा दिया किन्तु जाते समय वह कह गई कि उसी जंगल में जहां तू भटक रहा था, देवी का एक मंदिर धरती में दबा पड़ा है जिसका उद्धार अगर तू करवा देगा तो तुझे आंखे मिल जायेंगी। बेचारे निर्धन गूजर के पास इस कार्य के लिये धन ही कहां था, सो उसने योजना बनाई और स्थानीय रियासत जसमौर के राणा जी के उदार सहयोग से उक्त दबे हुए मंदिर का उद्धार कराया जिसके फलस्वरूप उसकी दृष्टि लौट आई। तब से मंदिर में आने वाले कुल चढ़ावे में से कुछ निश्चित भाग भजन के नाम का बांटा जाता है जो उसके परिवार को पहुंच जाता है। इसी प्रकार की अन्य चमत्कारी किंवदंतियां आस-पास के क्षेत्र में सुनी जाती हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम पुनरुद्धार के बाद उक्त मंदिर प्राकृतिक प्रकोप से दब गया होगा और बाद में पुनः निर्मित किया गया। इस प्रकार बार-बार पुनर्निर्माण होते रहने से मंदिर का प्राचीन स्थापत्य शिल्प विलुप्त हो गया। यही कारण है कि पुरातत्ववेता भी ऐसे स्थानों की प्राचीनता के विषय में किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते।

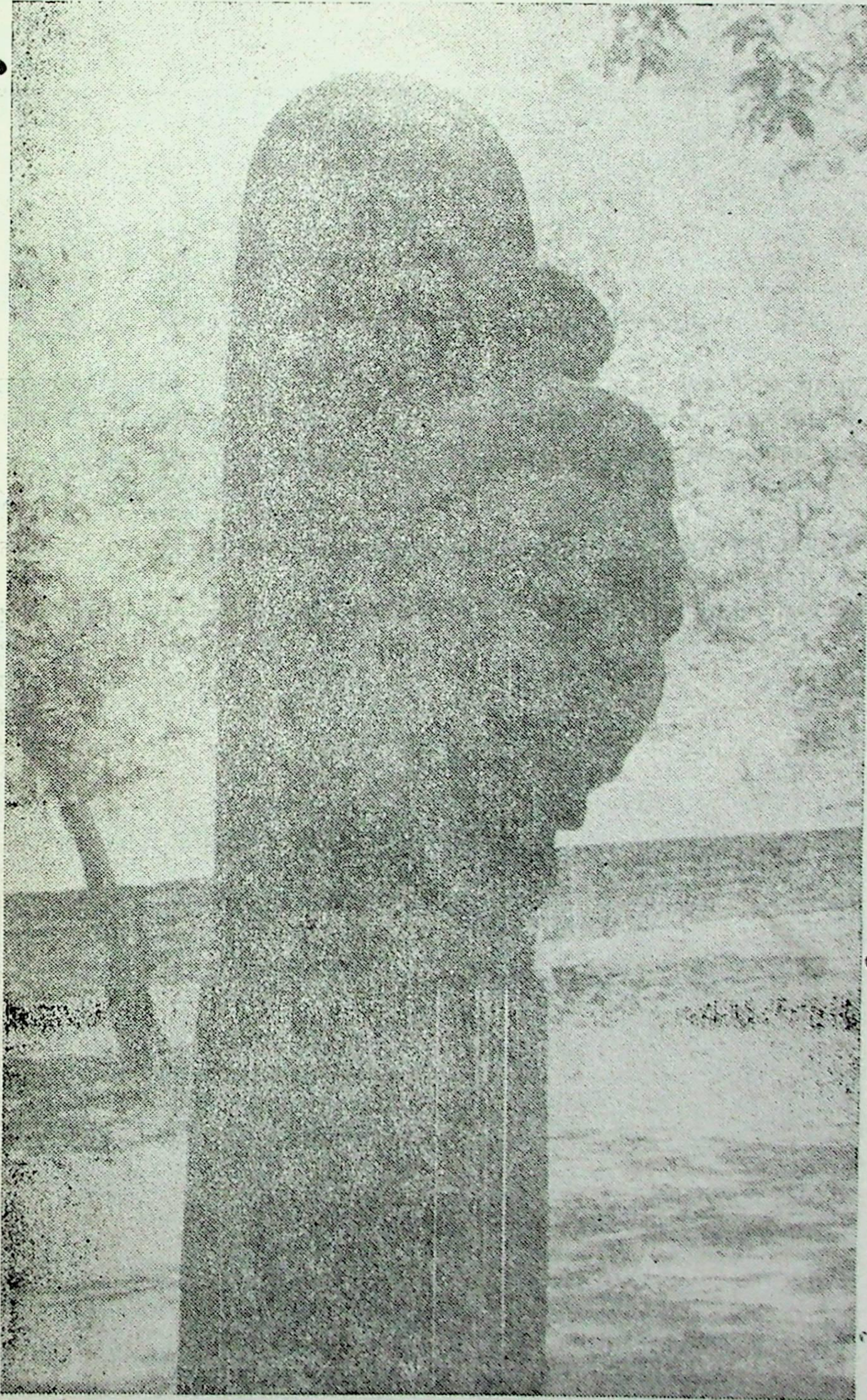
शाकम्भरी क्षेत्र धार्मिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही किंतु पुरातात्विक दृष्टि से भी विशिष्टता रखता है। कई पुरावशेष तो प्राकृतिक प्रकोप से विलुप्त हो चुके हैं अथवा वन्य पशुओं और अन्य कठिनाइयों के कारण अनजाने हो गये हैं। इस क्षेत्र की पहाड़ियां कच्चे रेतीले पत्थरों की चट्टानों से बनी होने के कारण समय-समय पर वर्षा अथवा आंतरिक विघटन व अन्य भू-गर्भीय कारणों से टूटती रहती हैं जिसके फलस्वरूप पहाड़ियों पर बने कई वास्तु तथा अन्य महत्वपूर्ण सामग्री नष्ट होकर दब चुकी हैं। शाकम्भरी पीठ से लगभग आठ कि०मी० उत्तर की ओर कई पहाड़ियाँ पार करने के बाद एक अन्य स्थान है सहसठाकुर जहां पुरातात्विक सामग्री अभी तक अवशिष्ट है किंतु उपेक्षित एक पहाड़ी पर निर्जन स्थान पर यह मंदिर बना हुआ है जिसके समीप ही बाण गंगा नामक जलस्रोत झरता रहता है। लेखक ने इसका निर्माण काल लगभग छठी शती ई० में होना अनुमानित किया है। मंदिर का मूल गर्भ-गृह मात्र अवशिष्ट है तथा पत्थरों की आयातकार शिलाओं से बना हुआ है। इसके अतिरिक्त शेष वास्तु भाग नष्ट होकर इधर-उधर बिखर कर विलुप्त हो गया है तथा अधिकांश नीचे ढलान पर गिर कर सदा के लिये दब चुका है। यह मंदिर भगवान विष्णु को समर्पित था तथा लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व इसका पुनर्निर्माण किसी स्थानीय जमींदार राणा सहस ठाकुर द्वारा कराये जाने से यह मंदिर सहसठाकुर के नाम से लोक विख्यात हो गया। जीर्णोद्धार के अन्तर्गत गर्भ-गृह की बाहरी सतह पर चूने का पलस्तर कराया गया, शिखर पर भी परिवर्तन कराये गये तथा द्वार मंडप (पोर्च) बनाया गया। पलस्तर पर लिखित भित्तिचित्र कहीं-कहीं पर स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं भग्नवास्तु सामग्री द्वारा समीप ही एक आवासीय भवन भी बनाया गया है। जिसकी दीवारों में कहीं-कहीं पर असली उकेरे हुए फलक जड़ दिये गये हैं, इनमें कुबेर यक्ष, बराह, मानव देहधारी गरूड़ पर आरूढ़ भगवान विष्णु, अपसरा तथा शिव पार्वती की आकृतियां उभारी गई हैं। दीवार में बने एक आले (रथिका) में एक सुन्दर चैत्य गवाक्ष के फलक को ज्यों का त्यों जड़ दिया गया है।

भग्न मंदिर के मलबे के ढेर में स्तम्भ शीर्ष, प्रवेश द्वार की चौखटों पर उकेरे हुए फलकों के टुकड़े, चत्य गवाक्ष, पूर्णकलश तथा कई अन्य भग्न प्रतिमाओं के अंश पड़े हुए हैं। मंदिर के पीछे खुले आंगन में एक एकमुखी शिवलिंग प्रकृति के प्रकोप को सह रहा है। गर्भ-गृह में विष्णु की तीन भव्य प्रतिमाएं हैं जिनकी ऊंचाई लगभग 3.5" से 4.5" तक है, तीनों प्रतिमाएं शैली की दृष्टि से निश्चित रूप से गुप्ता मूर्तिकला शैली में बनी है। एक मूर्ति स्लेटी तथा शेष दो गुलाबी पत्थर में से तराशी गई हैं, विष्णु की चार भुजाओं में शंख, चक्र, पद्म तथा गदा सुशोभित हैं, छोटी प्रतिमा के सिर किरीट मुकुट हैं और शेष दो के मुख टूट चुके हैं उनपर बाद में भौंडे से चेहरे लगवाये गये हैं। प्रतिमाओं की पार्श्व भूमि में बने छोटे आकार के देव युग्म, सेविकाएं तथा अन्य आलंकारिक आकृतियों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि निपुण कलाकारों ने इनको गढ़ा है। प्रतिमाओं के केश प्रसाधन, आभूषण तथा वस्त्रों की रचना में सूक्ष्मता, स्पष्टता व अनुकूलता, सुकोमल हस्तमुद्राएं, भावपूर्ण भंगिमा, चेहरों पर दिव्य अभिव्यक्ति, आकृति संयोजन में चातुर्य तथा अंतराल व आकृति के उचित समन्वय पर गुप्त शैली की छाप है। तीनों प्रतिमाओं के वर्तमान स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त मूर्तियां मूलरूप से किसी अन्य स्थान पर रही होंगी तथा बाद में गर्भ-गृह में स्थापित कर दिया होगा। भारत सरकार के पुरातत्व विभाग की दृष्टि से ओझल यह स्थान अभी तक आरक्षित पड़ा हुआ है।

शाकम्भरी मंदिर के सामने वीर खेत नामक स्थल पर एक अत्यंत महत्वपूर्ण एक मुखी शिवलिंग दर्शनीय है। स्मरणीय है कि इस प्रकार के शिवलिंग गुप्तकालीन शिल्पियों की देन रहे हैं। इस शिवलिंग की कला शैली तथा प्रतिमा लक्षण मालवा प्रदेश की उदयगिरि गुफाओं में अवशिष्ट गुप्तयुगीन शिवलिंग से साम्य रखते हैं (दृष्टव्य—जे०सी० हरले द्वारा लिखित—"गुप्ता स्कल्पचर" के चित्र सं० 9) इस शिवलिंग की अन्य विशेषता यह है कि इसके मूल स्तम्भ का आधार वर्गाकार तथा मध्य भाग अष्ट फलकीय है। अधोस्तम्भ की यह विशेषता अब तक प्राप्त गुप्तयुगीन लिंग प्रतिमाओं में नहीं मिली है। इस लिंग प्रतिमा की ऊंचाई 6 फिट 5 इंच है। चेहरे पर तीन नेत्र हैं, केश पर अर्द्ध चन्द्र तथा गले में कण्ठहार पड़ा हुआ है। केश उष्णीष

के रूप में उकेरे हुए हैं। यह लिंग विग्रह उस लिंग प्रतिमा से भी बहुत निकट साम्य रखता है जो सम्प्रति राजकीय संग्रहालय, भरतपुर (राज०) में सुरक्षित है तथा जिसे पुराविदों ने प्राक गुप्तयुगीन निर्धारित किया है।

यदि शकम्भरी क्षेत्र का विस्तृत रुप से पुरातात्विक सर्वेक्षण, उत्खनन तथा संरक्षण किया जाये इस लोक प्रसिद्ध शाक्तपीठ तथा सम्बन्धित अन्य प्राचीन स्थलों की प्राचीनता तथा ऐतिहासिकता का उद्‌घाटन सम्भव होगा।



एक मुखी शिवलिंग

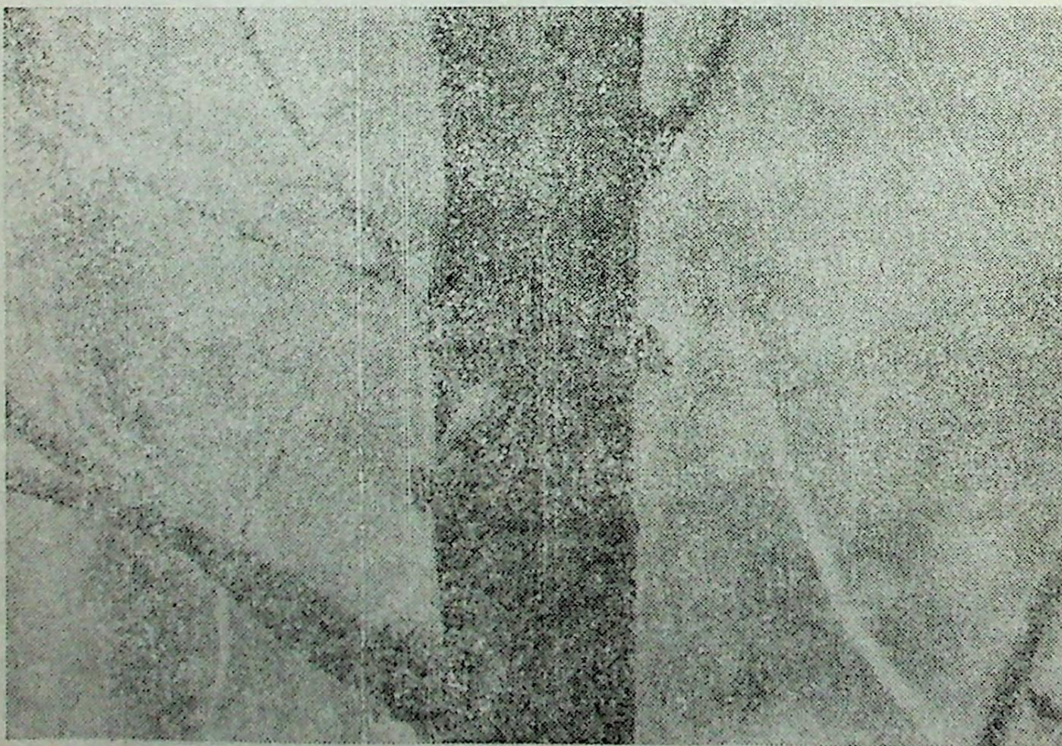
पर्यावरण के घटक एवं पर्यावरणीय संतुलन

--अंकुश्री

जल, स्थल, वायु, आकाश आदि पृथ्वी के मुख्य पर्यावरणीय घटक हैं। इन सभी घटकों का पारस्परिक संबंध है। पर्यावरण को संतुलित बनाये रखने में प्रत्येक घटक का महत्वपूर्ण योगदान है।

पृथ्वी पर स्थल की अपेक्षा जल क्षेत्र अधिक है। इन स्थलीय एवं जलीय भागों में विभिन्न तरह के सूक्ष्म एवं विशाल जीव पाये जाते हैं पृथ्वी के ऊपर वायुमंडल है, जो ट्रोपोस्फीयर, स्ट्रेटोस्फीयर और आयनोस्फीयर रूपी रक्षा-परतों में बंटा हुआ है। वायुमंडल के ऊपर आकाश है, जो आज के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में अंतरिक्ष यानों के कारण हमारे पर्यावरण को और अधिक प्रभावित करने लगा है। अंतरिक्ष यानों का वायु में घर्षण होता है तथा इनसे विभिन्न प्रकार की गैसें भी निकलती हैं, जिनका पर्यावरण पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

वायु, जल एवं जीव का प्रकृति में एक निश्चित अनुपात है। ये सभी परस्पर जुटे हुए हैं। एक तरफ वायुमंडल का दबाव जल और जीव को प्रभावित करता है तो दूसरी ओर जल और जीव वायुमंडल को। जीव को हम प्राणी और वनस्पति के रूप में विभाजित कर इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं। वनस्पतियों से शुद्ध आक्सीजन मिलता है, जो प्राणियों के काम आता है और प्राणियों द्वारा छोड़ा गया कार्बनडाइआक्साइड वनस्पतियों द्वारा अवशोषित कर



लिया जाता है। इस तरह वनस्पतियों एवं प्राणियों के दूसरे अनेक मामलों में भी पारस्परिक संबंध है। वनस्पतियों एवं प्राणियों का अनुपात बिगड़ने से वायुमंडल में गैसों का संतुलन बिगड़ जाता है।

कार्बनडाइआक्साइड की अधिकता से वायुमंडल का तापमान बढ़ जाता है, जिससे समुद्री जल की सतह फैलती ही है, ध्रुव प्रदेश की बर्फ भी पिघल कर पृथ्वी को जलाच्छादित कर सकती है।

जल की मात्रा, उसके प्रकार, उसकी खनिजों, उसके प्रदूषण, उसके आगमन तथा निकास, उसमें रहने वाले जीवों, उसमें चलने वाले यानों उस पर आधारित उद्योगों आदि का पर्यावरण पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है।

वायु प्रदूषण के कारण ताजमहल जैसी ऐतिहासिक इमारत पर खतरा पैदा ले लिया है। संभावित खतरे से बचने के लिये उस क्षेत्र के प्रदूषक कारणों को खोज कर उन्हें नियंत्रण में लाया जा रहा है। प्रदूषक तत्वों द्वारा पर्यावरण बहुत अधिक प्रभावित होता है।

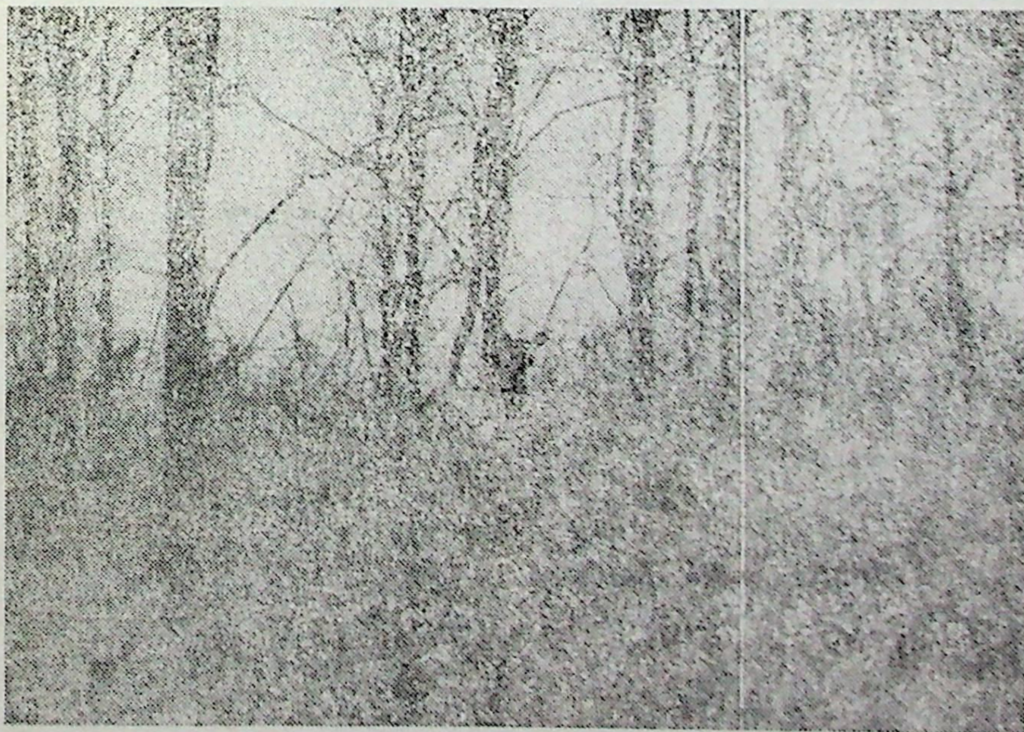
पृथ्वी का करीब एक-तिहाई भाग स्थलीय है। इस स्थलीय भू-भाग पर प्रकृति विभिन्न रूपों में छायी हुई है। कहीं घने वनों की हरियाली है तो कहीं रेगिस्तान का उजार। कहीं उपजाऊ जमीन है तो कहीं बंजर भूमि। कहीं खानें हैं तो कहीं नदियां। कहीं गगनचुंबी पर्वत हैं तो कहीं समुद्री खाई। कहीं समतल जमीन है तो कहीं ऊबड़-खाबड़ हिस्सा। कहीं भरी हुई आबादी है तो कहीं फैली हुई विरानी। पर्यावरण पर इन सबों का प्रभाव पड़ता है।

पर्यावरण के कुछ घटक सूक्ष्म हैं तो कुछ विशाल। मगर सूक्ष्म या विशाल सभी घटकों का पर्यावरण को बनाने में महत्वपूर्ण योगदान है।

पृथ्वी के गर्भ में छिपे खनिजों के विदोहन या समुद्र में किये गये आणविक विस्फोटों का असर पृथ्वी के चुंबकत्व पर पड़ता है जिसका कुप्रभाव पर्यावरण पर भी पड़ता है।

वन एवं वन्यप्राणी पृथ्वी के विशाल अंग हैं। इसलिये इनका पर्यावरणीय प्रभाव विशालतम रूप में दिखाई देता है। वनों की कमी से वर्षा कम होती है, भू-रक्षण बढ़ जाता है, पृथ्वी की उर्वरता में कमी आ जाती है। वनों की कमी से वन संपोषित वनस्पतियों का अभाव एवं परस्पर-जीवियों का विनाश हो जाता है।

वन्यप्राणी वनों के परस्परजीवी होते हैं। वनों की कमी से वन्यप्राणियों को छिपने-छिपाने की जगह नहीं मिल पाती है। ऐसी परिस्थिति में वन्यप्राणियों का अंत हो जाता है या वे अपनी पैतृक भूमि छोड़कर दूर भाग जाते हैं। वन्य-प्राणियों द्वारा अपनी पैतृक भूमि को छोड़कर दूसरी जगह जाना भौगोलिक विलोपन कहलाता है। भौगोलिक विलोपन का तात्पर्य स्थान परिवर्तन मात्र नहीं है। इसमें काफी वन्यप्राणियों का विनाश हो जाता है।



पर्यावरण के रक्षक : वन और अन्य प्राणी

ऐसी बहुत सारी वनस्पतियां हैं, जो वनों में पायी जाती हैं और जिनकी वन्यप्राणियों के अभाव में तेजी से वृद्धि हो जाती है। ऐसी वनस्पतियां दूसरी अन्य वनस्पतियों को दबा कर उनके अस्तित्व पर खतरा पैदा कर देती हैं। जीवन-संघर्ष में दब गयी वनस्पतियां धीरे-धीरे विलुप्त हो जाती हैं।

विभिन्न तरह के कृत्रिम निर्माणों का भी पर्यावरण पर असर पड़ता है। लालपुर (गुजरात), लेहरी (उत्तर प्रदेश), इदुक्की (केरल) आदि बांध परियोजनाओं के निर्माण के पर्यावरणीय पक्ष का पर्यावरण विभाग द्वारा अध्ययन किया जा रहा है। ऐसे अनेक निर्माणों एवं प्राकृतिक हस्तक्षेपों के पर्यावरणीय पक्ष का पर्यावरण विभाग द्वारा अध्ययन किया जा रहा है। यह बहुत जरूरी है कि भविष्य के सारे निर्माण पर्यावरणीय पक्ष को देखते हुए किये जायें।

पर्यावरण को संतुलित बनाये रखने के लिए पर्यावरण का हर छोटा-बड़ा घटक जिम्मेदार है।



प्राकृतिक वन : पर्यावरण के नियंता

संपादकीय

भारतीय संस्कृति के विशाल सागर में गहरे पैठ कर कुछ मोती सीपियां बटोर कर पाठकों के समक्ष रखने के अपने प्रयास में "संस्कृति" पत्रिका कहां तक सफल हो पाई है इसका फैसला तो हमारे सुविज्ञ पाठक ही कर सकते हैं। बहरहाल हम अपने इस प्रयास को जारी रखने के लिए कटिबद्ध हैं जिसमें आपका सहयोग अति आवश्यक है।

पिछले अंक में हमने रंग-रंगीले राजस्थान की सांस्कृतिक झलक पेश की थी जिसके रंगों ने पाठकों को अवश्य रंगा होगा। प्रस्तुत अंक अक्तूबर-दिसम्बर से सम्बन्धित है। यूं तो हम अपनी प्रियदर्शिनी स्व० प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को कभी भूल नहीं सकते जिनके नेतृत्व में भारत को विश्व में अपना नाम पुनः प्रस्शत करने का गौरव हासिल हुआ था, परन्तु इस अवधि (यानी अक्तूबर-दिसम्बर) में उनका स्मरण हो आना उतना ही स्वभाविक है जितना रोज सूर्य का चमकना। उन्हीं की याद में हम अपना यह अंक "प्रियदर्शिनी को समर्पित" श्रद्धा सुमनों से शुरू करते हैं, जिसे उन्हीं की एक भक्त प्रशंसिका "आशु' ने भेंट किया है। भारत की शस्यश्यामला धरती को विदेशी ताकत से मुक्त कराने वाले राष्ट्रपिता गांधी के आदर्शों को आज फिर उसी जोश और ईमानदारी से अपनाने की आवश्यकता सभी महसूस कर रहे हैं। स्वतंत्रता के उपरान्त गांधी के सपनों के भारत को मूर्तरूप देने के सतत् प्रयास जारी हैं। डा० कमलेश शर्मा ने अपनी कविता "लेनिन और गांधी" में उनकी तुलना सोवियत रूस के भाग्य विधाता लेनिन से की है।

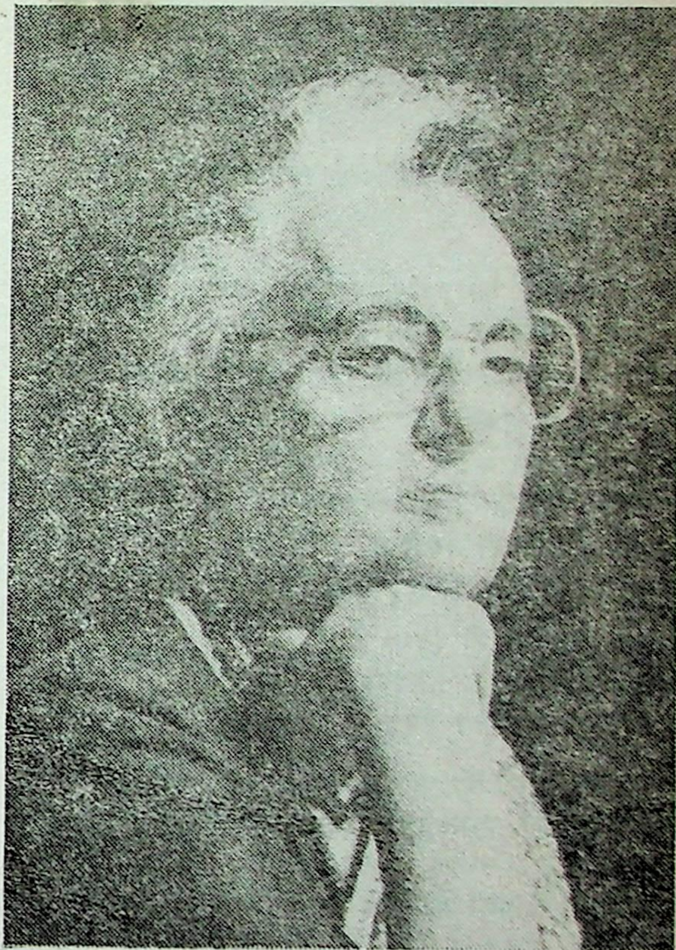
भारतीय चिन्तन; मनीषा और आध्यात्मिक जीवन पर गौतम बुद्ध को छोड़कर किसी भी आध्यात्मिक मनुष्य ने उतनी गहरी छाप नहीं छोड़ी जितनी कि शंकराचार्य ने। इस सजग मनीषी के सिद्धांतों और आध्यात्मिक ज्ञान ने 32 वर्षों की अल्पावधि में ही भारतीय दर्शन; कविता; विज्ञान, नैतिकता; मानवतावाद तथा आध्यात्मिकता पर ऐसी गहरी छाप छोड़ दी जो आज भी सुस्पष्ट है। इनके समान राष्ट्रीय एकता की दिशा में कार्य करने वाला अन्य कोई व्यक्तित्व नहीं है। इन्होंने अपने लघु जीवन काल में ही अनेक लम्बे जीवनों के जितना काम कर दिया। इसी सम्बन्ध में प्रस्तुत है सीती वीरेन्द्र चन्द्र कृत लेख "आदि शंकराचार्य" जिसमें उनको भारतीय संस्कृति की एकता का आदि स्त्रोत माना गया है। इस तथ्य को सभी ने स्वीकारा भी है।

हमारी भारतीय संस्कृति वैदिक काल से आज तक सभी युगों में हमारे जीवन को गतिशील बनाती आ रही है इसीलिए यह भौगोलिक सीमाएं पार कर जापान, इण्डोनेशिया, नेपाल, मारिशस, फिजी तक जा पहुंची इसी तथ्य को डा० कामता कमलेश ने अपने लेख "फिजी में रामलीला" में बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

रंग-बिरंगे फूलों को सुन्दर माला में पिरोकर अनेकता में एकता की भावना जागृत करने में अपना जीवन होम कर देने वाले महात्माओं के देश में आज राष्ट्रीय एकता की अत्यधिक आवश्यकता है। इसी की चर्चा मालती प्रकाश ने अपने लेख "राष्ट्रीय एकता" में की है। राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ "बहुजन हिताए, बहुजन सुखाय" के मंत्र का अनुसरण करने की भी जरूरत होती है। सच्चे प्रजातंत्र में ही यह मंत्र सहज मूर्त हो सकता है। भारत में प्रजातंत्र आज नहीं बल्कि प्राचीन वैदिक काल से चला आ रहा है। उसी के प्रमाण स्वरूप पढ़िए डा० जबरसिंह सेंगर कृत "वैदिक युग में प्रजातंत्र"। भारतीय संस्कृति वैदिक काल से आज तक सभी युगों में हमारे जीवन को स्पन्दन और स्फूर्ति प्रदान करती आ रही है। संस्कृति जीवन से ओत-प्रोत एक जीवन्त विरासत है। संस्कृति सर्व-व्यापक मानव धर्म है। हमारे सांस्कृतिक अनुष्ठान जहां मंगलों का विधान करते हैं वहीं जीवन को कर्ममय और आनन्दमय भी बनाते हैं। अपने लेख "भारतीय संस्कृति-एक सिहांवलोकन" में डा० मुरारी लाल गोयल "शापित" ने जहां एक ओर भारतीय संस्कृति की विशेषताओं के सागर को गागर में भरने का सुन्दर प्रयास किया है तो दूसरी ओर "भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान" खोजने का मोना बक्शी ने प्रयास किया है। नारी की कोमलता की तुलना कमल से प्रायः की जाती है और हमारी संस्कृति में कमल को बहुत पवित्र, सुन्दर और लक्ष्मी तथा सरस्वती दोनों देवियों का प्रिय पुष्प माना है, उमाशंकर चतुर्वेदी के शब्दों में प्रस्तुत है लेख "पवित्रता और सौंदर्य का प्रतीक कमल"। इसके अलावा इस अंक में आपको अनूठे चित्रकार जामिनी राय और कविकुल शिरोमणि भक्त सूरदास की कविता की विवेचना, धर्म का वास्तविक अर्थ तथा इसके साथ ही वैदिक वाङमय में दुर्गों की संरचना के बारे में भी बताया गया है।

आशा है पिछले अकों की भांति हमारे सुधि पाठकों को यह अंक भी रुचिकर लगेगा। आपके विचार हमारे लिए अनमोल हैं।

प्रियदर्शिनी को समर्पित



झूम रही थी धरती उस दिन
डोल रहा नीला अंबर ।
मुझे याद है वर्षा का सुन्दर सा
दिन वह उन्नीस नवंबर ।
उस दिन भारत भाल की
बदली थी भाग्य रेखाएं ।
जमीं उस दिन "इंदिरा गांधी"
भारत माता ने ली बलाएं ।
नन्ही-नन्ही मुट्ठी में था
भविष्य सुन्दर भारत का ।
"गांधी" से "हरिजन" तक सबका,
जन-जन के सुन्दर भारत का ।
प्रियदर्शिनी मात-पिता की
"गांधी" की आंखों का तारा ।
नत मस्तक है बच्चा-बच्चा
सगर्व खड़ा भारत प्यारा ।
तुमने बढ़कर जन-जन में
आशा के दीप जलाए ।
लाचारी के आंसू पोंछे
सपने नए सजाए
क्या देश और क्या विदेशमें
तेरा नहीं जवाब था ।
सबके दिल की मलिका थीं
सबकी थीं सरताज तुम ।
जब तक तेरा हाथ था सर पे
भारत रहा सनाथ था ।
तू क्या गई हुआ लावारिस
बच्चा-बच्चा हुआ अनाथ ।
तु तो थीं देवी अहिंसा की
पुजारिन अखंड भारत की ।
साहस की थी जीवंत प्रतिमा
सच्ची सपूत इस भारत की ।
क्या मालूम था होगा
साथ हमारा चार दिनों का ।
"इंदिरा" याद करेगी तुझको
दुनियां युगों-युगों तक
तू तारा बन चमकेगी
भावी दुनियां के इतिहास में ।

अमर रहेगा नाम तुम्हारा
क्या धरती क्या अंबर पे ।
रक्षक ही भक्षक होंगे
इसका था आभास नहीं ।
ऐसे कलंक से कलुषित कभी
था भारत का इतिहास नहीं ।
आंखों से न हट पाएगा
गरिमा मंडित व्यक्तित्व तेरा ।
"जय-हिन्द" के नारों से गुंजित
होगा बुलंद वो स्वर तेरा।
बुद्धि है पड़ी हुई भ्रम में
अर्पित हों कैसे श्रद्धा सुमन ।
ले आए फिर से चैन "औ" अमन
उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिम ।

आशु

लेनिन और गांधी

सच ही, गांधी का पर्याय, भारत में क्या,
वैसे ही, लेनिन का पर्याय रूस में क्या,
विश्व में होना असंभव है ।

इसलिए, एक विचार
कुरेदता है मन को,
"गांधी शताब्दी, लेनिन शताब्दी
इतनी जुड़वां क्यों लगती हैं ?

गांधी और लेनिन से अब तक,
विश्व ने लिया ही लिया है,
क्या इन महान शताब्दियों से
हमने एक छोटा सा सबक भी लिया है ?

इन दिव्यात्माओं की पुकार,
अब भूखे, नंगे, भूमिहीन, किसान
नौकर, चाकर, मजदूर, जवान
सब के, टूटे दिलों की आह बनकर,

पूछ रही है एक प्रश्न,
महापुरुषों के नाम की बांग दे देकर
अपने क्षुद्र-स्वार्थ की रोटी सेकने वाले
थैलीशाह, भूमिशाह, कुर्सीशाह

तरह तरह के रंग-बिरंगे मौसमी बहुरूपियों से
"पूंजी का बटवारा तो दूर रहा,
क्या उनके ब्याज में से शतांश
स्वप्न में भी, उन गरीबों को दिया है ?

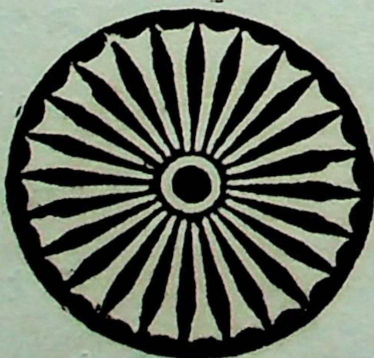
जिन्हें गांधी, 'दरिद्र नारायण" कहते थे ??
जिन्हें लेनिन असीम प्यार करते थे ???

जिनके लिए गांधी ने वस्त्र त्याग किया था ??
जिनके लिए लेनिन ने दूध त्याग दिया था ???

जिनके लिए लेनिन और गांधी ने
रक्त क्रान्ति और अहिंसा की आंधी ने
साम्राज्यशाही की जेल यातनाएं
सहर्ष सहीं थीं .... ????

जिनके लिए रूस और भारत में
अनगिनत शहीदों के खून की
नदियां बहीं थीं ; .... ????

डा० कमलेश शर्मा



आद्या शक्ति दुर्गा

डॉ० शशि तिवारी

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ।।' दुर्गासप्तशती 5/34 जो देवी सभी प्राणियों में शक्तिरूप में स्थित है। उसको नमस्कार है, उसको नमस्कार है और बारम्बार नमस्कार है। "शक्ति" ही देवी है, महादेवी है। शक्ति अनन्तरूपा है, सनातनी है, आद्या है। वह सभी प्राणियों द्वारा परम वन्दनीया है। शक्ति ही वेदों में 'अदिति' है, रामायण में 'सीता' है, पुराणों में 'राधा' है, लक्ष्मी है, महामाया है, दुर्गा है, सरस्वती है। यह पार्वती रूप में शिव की सहचरी और अर्धांगिनी है। परमा देवी के रूप में शक्ति की उपासना भारत वर्ष में स्वतन्त्र रूप से भी होती है। यह 'शक्ति' है क्या? शक्ति को विशेष एवं दार्शनिक अर्थ में जानना जितना कठिन है, सामान्य रूप से उसे समझना उतना ही सरल है। वस्तुत: हम सभी किसी न किसी रूप में शक्ति के उपासक हैं। संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं, जो किसी तरह की शक्ति की अभिलाषा न करता हो। सामान्यतः शक्ति के तीन रूप माने जाते हैं--प्रभाव, उत्साह और यन्त्र, अर्थात् धन-सम्पत्ति, बल-सामर्थ्य और विद्या-बुद्धि। ये किसी न किसी प्रकार सभी जनों के काम्य हैं। विज्ञान की दृष्टि से जगत् नित्य क्रियाशील है। यह प्राकृतिक क्रियाशीलता शक्ति का ही रूप है।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार परब्रह्म की शक्ति 'पराशक्ति' है। यहां शक्ति का आशय उस सत्ता से है, जो सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और लय का मूल है। परमात्मा शक्ति के द्वारा ही जगत की उत्पति करता है, शक्ति के द्वारा उसका संरक्षण--स्थित करता है और फिर शक्ति द्वारा ही उसका लयसंहार करता है। यह शक्ति जगत की उत्पति का आदि कारण होने से 'आद्या' है। सर्वश्रेष्ठ होने से यह 'परा' है। सत्ता का मूल होने से 'मूलप्रकृति' है और सबको उत्पन्न करने वाली होने से 'माता' या 'जगजननी' है। यथार्थतः तो यह नित्य परब्रह्मस्वरूप होने से निर्गुण और निराकार है, परन्तु क्योंकि निर्गुण और निराकार की पूजा नहीं की जा सकती है, इसलिए उपासकों द्वारा उसके सगुण एवं साकार रूप की कल्पना की गई है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के प्रकृति खण्ड (2/66/79) में ब्रह्मस्वरूपा शक्ति का वर्णन इसी प्रकार किया गया है—

'त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रि गुणात्मिका ।।

कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं, सत्या नित्या सनातनी ।।

चूंकि परब्रह्म की शक्ति द्वारा ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार कार्य होते हैं, अतः उनको आधार बनाकर तीन शक्तियों की कल्पना की गई और उनको क्रमशः नाम दिए गए--सरस्वती, लक्ष्मी और काली। जैसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश अलग-अलग देव होकर भी परब्रह्म के ही तीन रूप हैं, उसी प्रकार ये तीनों देवियां पृथक होने पर भी पराशक्ति के ही तीन स्वरूप हैं। नवरात्रि के अवसर पर दुर्गापूजा के अन्तर्गत जगत की इन तीन शक्तियों—महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती की विधिवत पूजा की जाती है। दुर्गासप्तशती और देवी भागवतपुराण में इन देवियों के चरित का महिमामय मान किया गया है। नवरात्रों में इन दोनों ग्रन्थों के नौ दिनों तक पाठ का बड़ा महामात्म्य है।

महाकाली का अर्थ है—ऐसी शक्ति जो अनेक को एक में लय करती है। भगवती महाकाली के ध्यान श्लोक हैं—

'महाकालीं त्रिनयनां नानाभूषणभूषिताम्।
नीलाञ्जनसमप्रभां दशपादाननां भजे ।।

मधुकैटभनाशार्थं यां तुष्टा वाम्बुजासनः।
एवं ध्यायेन्महाकालीं कामबीज स्वरूपिणीम् ।।

देवीभागवत० 2/45/13-14

अर्थात् 'महाकाली त्रिनेत्रा, विविध आभूषणों से विभूषित, नील अञ्जन जैसी प्रभावाली, दस मुख और दस भुजाओं से अत्यन्त सुशोभित है। ब्रह्माजी ने इस भगवती से मधु-कैटभ को मारने की प्रार्थना की थी। इस प्रकार उन काम बीजरूपिणी महाकाली का ध्यान करें।'

'लक्ष्मी' का आशय धन-धान्य के साथ ही सब तरह की उन्नति, सम्मान और आनन्द से हैं। महालक्ष्मी पूजा का अर्थ है—जगत् की स्थिति की केन्द्र रूपिणी दैवी शक्ति की पूजा। महालक्ष्मी के स्वरूप का चित्र खींचते हुए देवी भागवत में प्राप्त ध्यान श्लोक हैं—

'अक्षमालाञ्च परशुं गदेषु कुलिशनि च।
पद्मं धनुष्कुण्डिकाञ्च दण्डं शक्तिमसिं तथा ।।

चर्माम्बुजं तथा घण्टां सुरापात्रञ्चशूलकम् ।
पाशं सुदर्शनञ्चैव दधतीमरुण प्रभाम् ।।
स्काम्बुजासनगतां मायाबीजस्वरूपिणीम् ।।

देवीभागवत० 2/45/15-17

अर्थात् 'जिनके हाथों में अक्षयमाला, परशु, गदा, बाण, वज्र, कमल-धनुष, कुण्डिका, दण्ड, शक्ति, तलवार, ढाल, घण्टा, सुरापात्र, त्रिशूल, पाश और सुदर्शन सुशोभित हैं, ऐसी उन लाल कमल पर विराजमान महिषासुरमर्दिनी श्रीमहालक्ष्मी का ध्यान करें।

'सरस्वती का आशय बुद्धि और ज्ञान से है। सरस्वती की अर्चना विचारशक्ति, विवेक और ज्ञान के उदय के लिए की जाती है। महासरस्वती का स्वरूप-वर्णन करते हुए देवीभागवत में ध्यान-श्लोक हैं--

'घण्टांशूले हलं शखं मूसलञ्च सुदर्शनम् ।
धनुर्वाणान्हास्तपद्मैर्दधानं । कुन्दसन्निभाम् ।।
शुम्भादिदैत्यसंहर्त्री वाणीवीज स्वरूपिणीम् ।
महासरस्वतीं ध्यायेन्सच्चिदानन्दविग्रहाम् ।।'

देवीभागवत० 2/45/18-19

अर्थात् 'घण्टा, शूल, हल, शंख, मूसल, सुदर्शन, धनुषबाण हाथों में धारण किए हुए, कुन्द जैसी उज्जवल कांति वाली, शुम्भ आदि दैत्यों का वध करने वाली वाणी बीजरूपा, सच्चिदानन्दस्वरूपा महासरस्वती का ध्यान करें।'

जैसे परा शक्ति के तीन रूप हुए--काली, लक्ष्मी और सरस्वती, वैसे ही शक्ति के अनेक रूप होने से देवी के कई दूसरे रूप भी हैं, फिर देवशक्तियां भी देवियों के नामों से जानी जाती हैं, जैसे ब्रह्मा की शक्ति ब्राह्मी, इन्द्र की शक्ति ऐन्द्री, महेश्वर की शक्ति माहेश्वरी, विष्णु की शक्ति वैष्णवी इत्यादि। शक्ति का कोई पार नहीं पा सकता है। उसके बिना तो देवों के कार्य भी रुक जाते हैं। शक्ति के बिना तो 'शिव' भी 'शव' हो जाते हैं।

'शक्ति' अनन्त या अनेकरूप होकर भी वास्तव में एक है। उसी एक पुंजीभूत महाशक्ति का नाम 'दुर्गा' है। 'दुर्गा' की कल्पना सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न देवी के रूप में की गई है। जिस काम को कोई न कर सके उसे वे कर सकती हैं। वे सब देवी-देवताओं में श्रेष्ठ हैं। उनकी संरचना सभी देवताओं की जमा की गई शक्ति से हुई है। जिस प्रकार बहुत सी नदियों का पानी मिलकर समुद्र को महान् बनाता है। वैसे ही भगवती श्री दुर्गा महान हैं। वे अपने भक्तों को समस्त पदार्थ देने में समर्थ हैं, जिन्हें अलग-अलग देवता दे पाते हैं।

पुराणों की कथा के अनुसार दुर्गा देवी की उत्पत्ति का मुख्य उद्देश्य दैत्यों का विनाश करना है। इन दानवों में सबसे बड़ा महिषासुर था। इसके वध की कथा मार्कण्डेय, देवीभागवत, ब्रह्म आदि कई पुराणों में प्राप्त है। उपाख्यान है कि घोर तप करके महिषासुर ने ब्रह्माजी से अमरता का वरदान मांगा--'स्त्री से मुझे किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती है, अतः आप सभी पुरुषों से मुझे अवध्य बना दीजिए'। ब्रह्माजी ने तथास्तु कह दिया। वर पाकर महिषासुर मदोन्मत्त हो गया। उसने सभी देवताओं को हराकर स्वर्ग पर कब्जा कर लिया। पराजित देवताओं ने क्रन्दन किया। ब्रह्मा और शिव के साथ वे विष्णु के पास पहुंचे। वे सभी खिन्न होकर विचारमग्न बैठे थे कि तभी विष्णु ने कहा--'हम देवताओं के तेज से कोई सुन्दर वीर नारी उत्पन्न हो, तो वही अपनी शक्ति से उस दैत्य का संहार कर सकती है। भगवती पराशक्ति से हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि वह सबके तेजांश से एक तेजपुंजस्वरूपिणी नारी के रूप में प्रकट हो। उस नारी को हम विविध शस्त्र देंगे। वह सब आयुधों से सुसज्जित होकर दुरात्मा महिषासुर का वध करेंगी।' फिर शिव, विष्णु और ब्रह्मा के मुख से ज्योतिमान तेजपुंज निकले। इन्द्र की देह से अद्भुत तेज निकला, कुबेर, यम, वरुण अग्नि के शरीरों से महान तेज प्रकट हुआ। सभी देवों से निकला तेज मिलकर एक हो गया और उसने एक दिव्यरूप धारण किया--अष्टभुजधारिणी, सुरूपा, सुवसना, सुभूषिता, सुहासिनी दिव्यास्त्रधारिणी देवी रूप। दुर्गासप्तशती के अनुसार शिवजी के तेज से उसका मुख प्रकट हुआ। यमराज के तेज से उसके सिर में बाल आए। श्री विष्णु के तेज से उसकी भुजाएं उत्पन्न हुईं। चन्द्रमा के तेज से दोनों स्तनों का और इन्द्र के तेज से मध्यभाग का प्रादुर्भाव हुआ। वरुण के तेज से जन्घा और पिंडली, पृथिवी के तेज से नितम्बभाग प्रकट हुआ। ब्रह्मा के तेज से दोनों चरण और सूर्य के तेज से अंगुलियां हुईं, वसुओं के तेज से हाथों की अंगुलियां और कुबेर के तेज से नाक प्रकट हुई। उस देवी के दांत प्रजापति के तेज से और नेत्र अग्नि के तेज से प्रकट हुए थ। उसकी भौंहें संध्या के और कान वायु के तेज से उत्पन्न हुए थे--इसी प्रकार अन्यान्यदेवगणों के तेज से ही उस कल्याणमयी देवी की उत्पत्ति हुई। तदुपरान्त प्रत्येक देव ने अपने शस्त्रों में से वैसा ही शस्त्र निकाल कर उस देवी को दिया। शिव ने शूल, विष्णु ने चक्र, वरुण ने शंख, अग्नि ने शक्ति, वायु ने धनुष और बाण, इन्द्र ने वज्र, यमराज ने इन्द्र आदि श्रेष्ठ शस्त्र देकर उसे अजय बनाया। सभी देवताओं ने उपहारस्वरूप उसे हार, चूड़ामणि, कुण्डल, कगंन, नूपुर, कण्ठहार आदि अनेकानेक आभूषण दिए। हिमालय ने विविध रत्नों के साथ वाहन के लिए सिंह दिया। इस प्रकार सभी दिव्य शक्तियों के समीकरण से महाशक्ति भगवती की उत्पत्ति हुई। उस मंगलमयी महाशक्ति ने महिषासुर का वध किया। जगजननी का परिचय देते हुए व्यास मुनि का कथन है--'भगवती नित्या है, देवकार्यों की सिद्धि के लिए वह एक होकर भी अनेक रूप धारण कर लेती है।'

सभी शक्तियों के एकीकरण से उत्पन्न देवी का नाम 'दुर्गा' है। 'दुर्गा' नाम का अर्थ है—जो कठिनता से प्राप्त होती है (दुर्दःखेन मम्यते प्राप्यते—हलायुधकोश।) देवी-भागवत के अनुसार 'दुर्ग' यानी कठिन संकटों से तारने वाली होने से उसकी 'दुर्गा' नाम से प्रसिद्धि है (दुर्गसंकट हंत्री इति दुर्गेति प्रथिता भुवि। देवीभागवत, 8/50)। स्कन्द-पुराण के अनुसार महादैत्य दुर्ग को मारने के कारण यह देवी 'दुर्गा' कहलाती है (स्कन्दपुराण काशीखण्ड 7/72)।

दुर्गासप्तशती में महिषासुरमर्दिनी देवी भगवती को ही चण्डी, चण्डिका और अम्बिका कहा गया है। आगे के विवरण के अनुसार शुम्भ और निशुम्भ नामक दैत्यों का वध करने के लिए देवी का पुनः प्रादुर्भाव हुआ। इन दैत्यों से पीड़ित होकर देवगण हिमालय पर गए और भगवती की स्तुति करने लगे—

'दुर्गायै दुर्गपारायै सारायै सर्वकारिण्यै।
ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः॥
अतिसौम्यातिरौद्रायै नतास्तस्यै नमो नमः।
नमो जगत्प्रतिष्ठायै देव्यै कृत्यै नमो नमः॥'

'शरणागतरक्षिणी मां हम पर कृपा करो, हमारा कल्याण करो। तुम्हारे लिए हमारा बारम्बार प्रणाम है।' भगवती पार्वती ने उन्हें रक्षा का आश्वासन दिया। उन्होंने अपने शरीर के कोश से "अम्बिका" का सृजन किया। इसलिए वह "कौशिकी" कहलाई। कौशिकी के सृजन के बाद पार्वती का सारा शरीर श्यामवर्ण हो गया, इसलिए उनका नाम 'कालिका' पड़ा। युद्ध के अवसर पर जब शुम्भ और निशुम्भ ने उन पर आक्रमण किया, तब उनका मुख क्रोध से कृष्णवर्ण हो गया और उससे विकरालमुखी 'काली' प्रकट हुई, जिसने नरमुण्डों की माला पहनी हुई थी। उन्होंने चण्ड और मुण्ड का वध किया। चण्ड और मुण्ड का वध करने के कारण अम्बिका ने उनका नाम 'चामुण्डा' रखा। दुर्गासप्तशती के अन्त में देवी ने दानवी बाधा दूर करने के लिए समय-समय पर प्रकट होने वाले अपने दूसरे रूपों का उल्लेख किया है, जैसे—नन्दसुता, विन्ध्यवासिनी, रक्त-दन्तिका, शताक्षी, शाकम्भरी, भीमा, भ्रामरी इत्यादि।

दुर्गादेवी के अनेक स्रोत हैं, जिनमें उनके नाम, गुण और कर्मों का संकीर्तन है। वे अपने 108 नामों अर्थात् 'अष्टोत्तरशतनामस्तोत्र' को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होती हैं। पुराणों में नवदुर्गा का उल्लेख अलग-अलग तरह से हुआ है। वराहपुराण के अनुसार देवी की नौ मूर्तियां ह, जिन्हें नवदुर्गा' कहते हैं— शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धि-दात्री—

'प्रथमं शैलपुत्री च द्वितीयं ब्रह्मचारिणीम्।
तृतीयं चन्द्रघण्टेति कूष्माण्डेति चतुर्थकम्॥
पञ्चमं स्कन्दमातेति षष्ठं कात्यायनीति च।
सप्तमं कालरात्रीति महागौरीति चाष्टमम्॥
नवमं सिद्धिदात्री च नवदुर्गाः प्रकीर्तिताः।'

श्रीमद्देवीभागवत पुराण में जिन नौ नामों द्वारा नवरात्रों में नौ कन्याओं के पूजन का विधान है, वे हैं—कुमारिका, त्रिमूर्ति, कल्याणी, रोहिणी, कालिका, चण्डिका, शाम्भवी, दुर्गा और सुभद्रा। माकण्डेय पुराण में दुर्गा के नौ रूप दूसरी तरह से गिनाए गए हैं—शान्तिदुर्गा, अग्निदुर्गा, वनदुर्गा, गिरिदुर्गा, अम्बिकादुर्गा, चण्डिकादुर्गा, महिषमर्दिनी दुर्गा, जयदुर्गा और नवाक्षरी दुर्गा। विद्यापतिकृत 'दुर्गाभक्तितर-ङ्गिणी' नामक ग्रन्थ में ब्रह्माणी, रक्तदन्तिका, लक्ष्मी, दुर्गा, चामुण्डा, कालिका, शिवा शोकरहिता, कार्तिकी—इन नौ नामों का उल्लेख नवदुर्गास्वरूप वर्णन में किया गया है। इस प्रकार नवदुर्गा का स्वरूप विविध रूपों में वर्णित है। वस्तुतः नौ सबसे बड़ी संख्या है, इसलिए यह नौ नाम ही कभी शत और कभी सहस्त्र हो जाते हैं।

देवी के सभी रूप आद्या शक्ति 'दुर्गा' के ही रूप हैं। भगवती दुर्गा ने देवी भागवत में स्वयं कहा है—"संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जिसमें मेरी सत्ता न हो। जो दिखाई देते हैं, वे मेरे ही रूप हैं। मैं ही सब देवताओं के रूप में विभिन्न नामों में स्थित हूं। उनका शक्तिरूप से पराक्रम करती रहती हूँ। मैं ही गौरी, ब्राह्मी, रौद्री, वाराही, वैष्ण-वी, शिवा, वारुणी, कौबेरी, नारसिंही, वासवी नाम की शक्ति हूँ। जल में जो शीतलता है, अग्नि में जो उष्णता है, सूर्य में जो ज्योति है, चन्द्रमा में जो शीतलता है, वह मैं ही हूँ। संसार में सभी जीवों की स्पन्दनक्रिया मेरी ही शक्ति से होती है।" इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सब देवी-देवता एक ही आदि शक्ति के पृथक-पृथक रूप हैं। संसार में दिखाई पड़ने वाली अनेकता वास्तविक नहीं है। एकता ही सत्य है, जो आद्यशक्ति की एकता के रूप में ग्राह्य है। दुर्गा देवी का वृतान्त, एक और तथ्य स्पष्ट करता है कि समस्त बिखरी हुई शक्तियों का समीकरण बड़े से बड़े संकट का भी मुकाबला कर सकता है। दुष्टता और पाप कितने ही शक्तिशाली और कुशल क्यों न दिखाई पड़ते हों, पर संगठित शक्ति और एकत्व के आगे ठहर नहीं पाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे सर्वशक्तिरूपिणी चण्डिका के समक्ष महिषासुर, धूम्रलोचन, चण्ड, मुण्ड, रक्तबीज, शुम्भ, निशुम्भ जैसे महाबली दैत्य भी धराशायी हो गये थे। दुर्गापूजा का निहितार्थ है कि हम अपनी सभी श्रेष्ठ वृत्तियों को एकत्र करके अपने भीतर एक शक्तिरूप देवी का आविर्भाव करें, जो अपने मन और समाज में विद्यमान स्वार्थपरता जैसी दुष्ट वृत्तियों के महिषासुर का संहार कर डालें। सर्वशक्ति-स्वरूपा देवी को कोटि-कोटि प्रणाम!

'सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बिके गौरि नारायणि नमोऽस्तुते।
सृष्टि स्थिति विनाशानां शक्तिभूते सनातनि॥
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तुते॥'

आदि शंकराचार्य — भारतीय संस्कृति के राष्ट्रीय एकीकरण के आदि स्रोत

—सोती वीरेन्द्र चन्द्र

भारत में जिस दैदीप्यमान विलक्षण विभूति को राष्ट्रीय एकीकरण का आदिस्रोत होने का श्रेय है वह हैं प्रगल्भ प्रतिभावान आदिशंकराचार्य ।

भारतीय दार्शनिकों के इन शिरोमणि का जन्म स्थान होने का गौरव केरल प्रदेश में आलवाई नदी के तटवर्ती ग्राम कालटी को है । यह कोचीन-शोरानूर रेलवे लाइन पर आलवाई रेलवे स्टेशन से छः मील की दूरी पर अवस्थित है । मालाबार की नबूदरी ब्राह्मण जाति के, जो कि पहले पन्नियूर अथवा शशल ग्राम के मूल रूप से निवासी थे, शिव गुरू पिता एवं विशिष्टा माता के एक सामान्य परिवार में यह पुत्र रत्न ईसा-पूर्व पांचवीं शताब्दी में बैसाख मास की शुक्ल पक्ष की पंचमी के दिवस भारत भूमि में अवतरित हुए । यद्यपि उनकी जन्म तिथि का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है एवं अनेक विद्वानों के अनुसार उनका जन्म 788 ई० से 820 ई० के मध्य आंका गया है ।

उनका शंकर नाम रखने का रहस्य यह था कि शिव गुरू के जब कोई संतान नहीं हुई तब उन्हें पुत्र का अभाव बहुत खटकता था । इसके लिए उन्होंने शंकर जी की उपासना की । अपनी मनोकामना पूर्ण होने पर उन्होंने पुत्रोत्पत्ति को भगवान शंकर के ही असीम अनुग्रह का फल समझा । अतएव भावावेश में नवजात शिशु का नामकरण शंकर जी के नाम पर कर दिया गया ।

शिव गुरू वेदों के प्रकांड पंडित एवं सदाचार-सम्पन्न व्यक्ति थे । वे ही संस्कार बालक शंकर में दैविक रूप से आए । वह अपने शैशव काल से ही स्वप्नदर्शी थे । उन्होंने अपनी जीवंत जिज्ञासा, अद्वितीय स्मरण शक्ति, कुशाग्रबुद्धि एवं सतत साधन द्वारा आठ वर्ष की अल्पायु में ही वेदों का अध्ययन कर उनमें प्रवीणता प्राप्त कर पारंगत हो अपने गुरू को आश्चर्य चकित कर दिया था । उनके हृदय में परमार्थ हेतु वैदिक धर्म का प्रचार करने की उत्कट उत्कंठा हुई । इसके लिए तत्कालीन प्रथा के अनुसार सन्यास लेना आवश्यक था । वह जब अबोध थे तब लगभग 4 वर्ष की आयु में असमय में ही पितृहीन हो पितृ प्रेम से वंचित हो गए थे । अतएव ब्रह्मचारी शंकर ने अपनी विधवा माता से सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा मांगी । उनके इस निश्चय का मां ने घोर विरोध किया । इससे एक रोमांचक घटना जुड़ी है कि मां-पुत्र एक दिन जब नदी में स्नान करने गए तब एक घड़ियाल ने बालक शंकर को पकड़ लिया और उन्हें निगले जा रहा था । यह देखकर मां की विवशता एवं विह्लता कल्पनीय हो गई । उसी समय शंकर ने मां से विनती की कि यदि वह घड़ियाल से बच जाएं तब वह उन्हें सन्यास लेने की सहमति दे दें । मां धर्म संकट में पड़ गई परन्तु मां ने तुरन्त निर्णय लिया ।

उन्होंने अपने व्यक्तिगत हित का ध्यान न कर मानव मात्र के वृहत हित को दृष्टिकोण में रख उदार हृदय से कार्य किया । इस निस्पृह देवी ने अपनी एक मात्र संतान, जिस पर उनका समस्त स्नेह एवं आकाक्षाएं निर्भर थीं, को संयास लेने की अनुमति प्रदान कर दी । संयोग से घड़ियाल ने बालक शंकर को छोड़ दिया ।

संयास लेने के लिए घर से जाते समय शंकर ने मां की इच्छानुसार प्रतिज्ञा की कि वह उनके अन्तकाल के अवसर पर अवश्य उपस्थित रहेंगे तथा स्वयं उनका दाह संस्कार करेंगे । इस प्रकार केवल आठ वर्ष की अवस्था में किशोर शंकर ने गोविन्द भगवत्पाद से नर्मदा के पावन तट पर दीक्षा ले सन्यास आश्रम में पदार्पण कर अपना जीवन तपश्चर्या एवं योग साधन में समर्पित कर दिया। तब वह आचार्य की उपाधि से विभूषित कर दिए गए एवं शंकाराचार्य कहलाए जाने लगे ।

योग सिद्धी प्राप्त करने के उपरान्त उन्होंने काशी के लिए प्रस्थान किया एवं वहां ब्रह्मसूत्र पर विद्वतापूर्ण भाष्य रच उद्भट ब्रह्म ज्ञानी की संज्ञा से अलंकृत हो गए।

इसी प्रकार वह अपनी सोलह वर्ष की अवस्था होने पर अध्यात्म के अंतरिक्ष पर पहुंच गए थे । अपनी धर्म निष्ठा को चिरस्थाई करने के लिए उन्होंने अपने सोलह भाष्य रचने का कार्य पूर्ण कर अपने लिए शीर्षस्थ सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्यकार होने की उपाधि अर्जित कर ली थी । शंकाराचार्य के भाष्य ग्रथों का विवरण निम्नवत है :--

(i) प्रस्थानत्रयी भाष्य जिसके अन्तर्गत भगवद्गीता, बारह उपनिषदों, एवं ब्रह्म सूत्र पर भाष्य सम्मिलित हैं जिन पर उन्होंने विशद व्याख्या अभिव्यक्त कर गूढ़ अर्थों को स्पष्ट किया ।

(ii) स्तोत्र ग्रंथ में अद्वैतानुभूति आध्यात्मिक जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है । इसके सम्बन्ध में उपासना एवं भक्ति अपरिहार्य हैं । अतः उन्होंने गणेशजी, शिवजी एवं विष्णुजी आदि से सम्बन्धित सात स्त्रोत ग्रंथ रचे ।

(iii) प्रकरण ग्रंथ मैं वेदान्त सम्बन्धी विषयों, वैराग्य एवं त्यागादि पर रचना की ।

(iv) तंत्रग्रंथ के अन्तर्गत सौंदर्य लहरी की, जिसका संस्कृत के स्त्रोत साहित्य में सर्वोपरि स्थान है एवं प्रपंचसार की रचना की ।

शंकराचार्य जी के पूर्व भी भाष्य लिखे गए थे परन्तु शंकराचार्य के भाष्य इन सबकी तुलना में अधिक विशद, सारगर्भित एवं सुबोध व्याख्यायुक्त हैं । इन भाष्यों में उपनिषद आदि के सूक्ष्म ज्ञान की विद्वतापूर्ण की गई व्याख्या सर्वथा स्तुत्य एवं मान्य है जिसके कारण शंकाराचार्य जी को जटिल विषयों की संशलिष्ट अंतर्वस्तु के सरल व्याख्याकार के रूप में मान्यता दी जाती है । उनकी विशेषता यह थी कि वह गुह्य से गुह्यतर विषय-वस्तु के महत्व को सुस्पष्ट करके भावों को अधिक प्रेषणीय बना देते थे ।

शकराचार्य वेदांत के अनुयायी थे । वेदान्त से तात्पर्य वेदों का अंत से है । यहां अन्त से अभिप्राय रहस्य या सिद्धांत से है । अतएव वेदान्त का अर्थ हुआ--बेदों के रहस्य या सिद्धांतों का उद्घाटन । वेदान्त का मूल मंत्र अद्वैत है । अद्वैतवाद वैदिक धर्म की आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वाधिक देन है । शंकराचार्य अद्वैत के प्रतिपादक एवं प्रवलपोषक थे । यह उल्लेखनीय है कि अद्वैतवाद शंकराचार्य से प्रारभ नहीं होता । आचार्य शंकर से पूर्व भी अद्वैतवाद था । वैष्णव, शैव एवं शक्ति अद्वैतवाद में आस्था रखते थे । यहां तक की बौद्धों में भी माध्यामिक एवं योगाचार अद्वैतवादी थे । इसी से बुद्ध को अद्वयवादी कहते हैं । अद्वैत का मूल आशय इस श्लोक पर आधारित है :

ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः

--ब्रह्म ही सत्य है जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है एवं जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है

उस समय भारत में वैदिक धर्म नितान्त निस्तेज दशा में था । उसने अपनी लोकप्रियता एवं व्यापकता खो दी थी तथा वह पृष्ठभूमि में चला गया था । बौद्ध धर्म का बोल-बाला था । उसे राजाश्रय भी प्राप्त था । वैदिक धर्म एवं बौद्ध धर्म के पारस्परिक द्वेश ने देश में वैर भाव को व्याप्त कर रक्खा था । अन्य सम्प्रदाय वाले भी भेद-विभेद के भ्रम जाल में भ्रमित होते रहते थे । इन विषय विसंगित के परिप्रेक्ष्य में शंकराचार्य ने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने एवं भेद-भाव मिटाने की आवश्यकता को समझा, यह उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था ।

अतएव वह दिग्विजय पर निकले तथा आजीवन-अविराम तपोपद यात्रा कर वेदान्त पर प्रवचन दे वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में अदम्य उत्साह से प्रयत्नशील रहे । इस अभियान की अवधि में उन्हें अपने समकालीन वेदरहस्य-मर्मज्ञ मूर्धन्य विद्वान एवं महान मीमांसक कुमारिल भट्ट की भांति बौद्धों, अवैदिकों तथा अन्य प्रतिपक्षियों से अनेक शास्त्रार्थ करने पड़े । इनमें आचार्य शंकर का अलौकिक विद्वान मंडन मिश्र, जिनका वास्तविक नाम विश्वरूप था, के साथ हुआ शास्त्रार्थ इतिहास प्रसिद्ध है । मंडन मिश्र के पराजित होने के पश्चात् उनकी अप्रतिम प्रतिभावान विदुषी पत्नी भारती ने शंकराचार्य को चुनौती दी थी कि अभी तो उन्होंने आधे अंग से शास्त्रार्थ किया है । मैं उनकी अर्धांगिनी हूँ, अतएव वह मुझसे भी शास्त्रार्थ करें । परन्तु अपनी असाधारण विद्वता, अकाट्य तर्क-पद्धति एवं निरूत्तर युक्तियों के बल पर अपने सब विरोधियों के संशय दूर कर उन्हें वाक्युद्ध में परास्त कर तर्क-निष्णात आचार्य शंकर अजेय एवं अपराजेय की भांति ऊपर उभरे । उनके शब्द अपनी ओर आकर्षित करने एवं नवजागरण से उद्वेलित करने की क्षमता रखते थे ।

इसका एक खास प्रभाव यह हुआ कि आचार्य शंकर ने अपने विचारों से मानव विचार-धारा ही पलट ली । उन्होंने संपूर्ण देश में बौद्ध धर्म का एक प्रकार से उच्छेदन सा कर दिया एवं उनके स्थान पर वैदिक धर्म के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर उसकी पताका पुनः फहरा दी । उसके बाद ब्राह्मणवाद अथवा वैदिक धर्म का नए ओज एवं तेज के साथ अभ्युत्थान एवं अभ्युदय हुआ । जब तक उनकी अभीष्ट आकांक्षा पूरी न हो गई उन्होंने दम नहीं लिया ।

आचार्य शंकर में मानवीय गुण पराकाष्ठा पर पहुंचे थे । अतः उन्होंने अपनी सौम्य प्रकृति द्वारा प्रतिरोध करने वाले विरोधियों एवं सम्मोहित श्रोतागण दोनों का ही दिल जीत अपनी ओर मिला लिया । इससे उनके महान व्यक्तित्व का पता चलता है ।

शंकाराचार्य को वेद महारथी एवं मेधावी कुमारिल भट्ट द्वारा झूसी में, अपने आप को भूसी में आत्मदाह कर देने पर असीम व्यथा हुई । इन दोनों मनीषियों में से कुमारिल

भट्ट ने बौद्ध दार्शनिकों द्वारा वैदिक धम कांड के सम्बन्ध में किए गए आक्षेपों एवं शंकाओं का समाधान कर तथा आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म के ज्ञान कांड के ऊपर बौद्धों एवं जैनियों द्वारा किए गए संशय एवं खंडन का उत्तर देकर वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करने का श्रेय प्राप्त कर वैदिक धर्म के उद्धारक होने के रूप में यश पाया ।

शंकराचार्य युगदृष्टा थे । वह भारतीय संस्कृति की एकता के हिमायती थे । उनके हृदय में यह बात रही होगी कि राष्ट्र एक इकाई है । अतएव उन्होंने कन्याकुमारी से काश्मीर तक एकता के सूत्र में बंधे भारत की कल्पना की । अपने स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने जो सर्वोत्तम सराहनीय एवं दूरदर्शिता का कार्य किया वह यह था कि उन्होंने भव्य भारत भूमि की धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता की व्यवस्था को अक्षुण बनाए रखने के लिए तथा समाज के समस्त व्यक्तियों को एक भावात्मक सूत्र में जोड़ने के उद्देश्य से देश की चार दिशाओं में चार धर्म मठों की स्थापना की तथा चार उपास्य देव-देवियों और वेदों को उन मठों में निम्नांकित रूप से विभक्त कर दिया क्योंकि वैदिक विधान में वेदों का संबंध भिन्न दिशाओं के साथ माना जाता है :—

क्र०सं० मठ का नाम	स्थान	प्रदेश	देवता	देवी	वेद
1. पूर्व में गोवर्धन मठ	जगन्नाथ पुरी	उड़ीसा	जगन्नाथ	विमला	ऋग्वेद
2. पश्चिम में शारदा मठ	द्वारिका पुरी	गुजरात	सिद्धेश्वर	भद्रकाली	सामवेद
3. उत्तर में ज्योति मठ	बदरिकाश्रम	उत्तर प्रदेश	नारायण	पूर्णागिरी	अथर्ववेद
4. दक्षिण में श्रंगेरी मठ (यह श्रंग-गिरी का अपभ्रंश है)	कांची	कर्नाटक	आदिवाराह	कामाक्षीय	यजुर्वेद

देश की चार सीमाओं में धार्मिक संगठन के ये चार भगवद्धाम कुछ काल के अंतराल में तीर्थ तुल्य मान हो गए हैं । धर्मस्थलों की एक गरिमा होती है । इनके दर्शनमात्र से अभ्यागतों के मन में एक अजीब भक्ति भाव तथा आध्यमिक आभास का अनुभव होने लगा । इन मठों में शंकराचार्य जी ने विधिवत वैदिक उपासना एवं उसके साथ ही पूजा-अर्चना का व्यवधान आरंभ किया जो आज भी अविरल रूप से प्रचलित है ।

ये देव स्थल राष्ट्रीय पर्व संबंधी मेले की भांति समग्र देश के विभिन्न भागों से सामान्यजन को मिलने का सुयोग प्रदान कर भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता अनेकता में एकता का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

अतः दक्षिण से उत्तर में एवं उत्तर से पूर्व में तथा पश्चिम से दक्षिण में जब इन मठों में विभिन्न प्रदेशों, विभिन्न भाषाओं, विभिन्न रीति-रिवाजों एवं विभिन्न सम्प्रदायों वाले भक्त नर-नारी एकत्रित होते हैं तब राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर में आए हुए इन भारतवासियों में भावनात्मक मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित होते हैं और वे धर्म के मर्म को समझते हैं । उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान होता है जिससे उनको राष्ट्र की भौगालिक एकता एवं भौगोलिक संबंधों का ज्ञान होता है । फलतः इन असंख्य व्यक्तियों के मन में एक ही भावना उजागर होने लगती है और इनको भान होता है कि भारत एक इकाई है । वे पूर्ण मैत्री भाव और विशुद्ध धर्मनिष्ठा से सब आपसी भेद-भाव भूल कर अपने में परंपरा से आई हुई भारतीय संस्कृति की एकता का अहसास करते हैं । यह भारतीय संस्कृति एकात्मकता का पुष्ट प्रमाण है । इससे समष्टि को महत्ता को मान्यता मिलती है ।

इस प्रकार राष्ट्र की भावात्मक एकता के लिए ये पीठ सशक्त साधन बन गए हैं जिसके परिणामस्वरूप जन-जन के बीच भावनात्मक एकता के अंकुर हृदय में उगते हैं जो राष्ट्रीय एकीकरण का मार्ग प्रशस्त करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं । इससे शंकराचार्य जी द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को संस्थापित करने का अपूर्व परिचय प्राप्त होता है । उनकी यह योजना इस दृष्टिकोण से देखी जाए तो अत्यन्त सफल रही है और निश्चय ही ये पीठ सामाजिक एकता की कसौटी पर खरे उतरते हैं ।

यह चार पीठ स्थापित करना एक युगान्तरकारी सांस्कृतिक क्रांति थी । वेदान्त का संचार करना तो इसका ध्येय था ही इसके अतिरिक्त शंकराचाय जी ने इस तथ्य पर बल दिया कि जिन विविध धर्मों की हिन्दू जाती अनुयायी है वे वैदिक धर्म से उदभूत हुए हैं और वैदिक धर्म से उपजे होने के कारण एक ही रूप में अनेक स्वरूप हैं । अतएव उन्होंने इन धर्मों की विविध विधाओं से समन्वय स्थापित कर इसके आधार भूत ऐक्य की भावना उत्पन्न कर राष्ट्रीय एकीकरण की नींव डाली । अतः इन चार पीठों को स्थापित करने का उद्देश्य अत्यन्त महान एवं उच्च था ।

शंकराचार्य का उपदेश साम्प्रदायिक संकीर्णता के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाने का था। इसके फलस्वरूप उनके इस अथक प्रयास ने शैव, शक्ति एवं वैष्णव धर्मों के मानने वालों के बीच धार्मिक संकीर्णता से ऊपर उठकर अपने मत-भेदों को दूर करके उनमें सहिष्णुता की भावना उजागर की और एक दूसरे को पास लाने की चेष्टा की। उनका आशय था कि आध्यात्मिक अनुभूति में इन धर्मों के अनुयायियों में कोई आपसी टकराव न हों। इन विविध संप्रदायों की विश्रंखलित कड़ियों को एक सूत्र में पिरोकर इन मठों द्वारा उन्होंने देश में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता की प्रथा को एक नया मार्ग प्रदर्शित किया। इस प्रकार उन्होंने वैदिक धर्म को विघटित होने से बचा लिया। इससे देश में एकता की भावना का संचार हुआ तथा समस्त मत मतांतर विभिन्न होते हुए भी एक भावात्मक सूत्र में आवद्ध हो गए।

शंकाराचार्य अपने देशवासियों को इस बात को हृदयंगम कराना चाहते थे कि भारतीय संस्कृति की यह मूलभूत एकता ही है जो बाह्य विभिन्नताओं के होते हुए भी उन्हें एकता के सूत्र में बांधे हुए हैं।

अतः कहा जा सकता है कि शंकराचार्य जी ने एक दूरदृष्टा की भांति इन चार पीठों को भारत की मौलिक सामाजिक एकता का प्रतीक बनाया तथा इसके प्रतिफल राष्ट्रीय एकीकरण की भावना का शुभारंभ करने में ये पीठ उपादेय सिद्ध हुए। इन पीठों में राष्ट्रीय एकता अन्य सम्प्रदायों के प्रति सद्भावना रखने की प्रवृत्ति निहित है। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकीकरण की अवधारणा सबसे पहले शंकराचार्य जी ने की। अतएव राष्ट्रीय एकीकरण के कार्य में इन पीठों की महत्ता स्वीकारनी होगी। इस प्रकार देखा जाए तो विदित होगा कि समन्वय, सहिष्णुता एवं अन्य सम्प्रदायों के प्रति सद्भावना रखना जो राष्ट्रीय एकीकरण के आधार स्तम्भों के अन्तर्गत आते हैं उनका प्रतिपादन आचार्य शंकर ने चार पीठों की स्थापना करके किया।

यह विचारणीय है कि राष्ट्रीय एकीकरण में कौन से तत्व बाधक होते हैं? इस संबंध में कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय एकीकरण को सबसे बड़ा खतरा पृथकतावाद से है।

इस दिशा में शंकराचार्य जी की दिव्य-दृष्टि ने सुदूर केरल प्रदेश के निवासी होते हुए भी संकुचित प्रदेश क्षेत्रीयता में न जकड़कर एक विशाल संदर्भ में स्वयं तो सोचने की चेष्टा की ही साथ ही अपने देशवासियों को एक समूचे देश के रूप में निहारने की अन्तर्दृष्टि दी। इस संबंध में यह कहना अत्युक्ति न होगा कि शंकराचार्य द्वारा सृजित भावानात्मक एकता ने देश को खंडित होने नहीं दिया तथा इस आध्यात्मिक अखण्डता को, एक के बाद एक जो अनेक विदेशी आक्रमण हुए, वे भी खंडित न कर पाए। इन मठों के अध्यक्ष आदि शंकराचार्य के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। अतएव इन्हें भी शंकराचार्य के नाम से विभूषित करने की प्रथा है। आदि शंकराचार्य ने मठाधीशों के लिए यह एक कठोर नियम निर्धारित किया था कि वे राष्ट्र की प्रतिष्ठा एवं धर्म के प्रचार के हेतु अपने निर्दिष्ट प्रदेशों में निरंतर भ्रमण किया करें।

भारत के प्रदेशों की जातिगत, भाषाई, वेशभूषा, रहन-सहन, खान-पान एवं रीति रिवाजों की जग जाहिर विभिन्नता के होते हुए भी देश के जन-जन में भावानात्मक एकता की अनुभूति से अविभूति कराने के पुनीत उद्देश्य से इन चार पीठों का श्लाघनीय कार्य रहा है। अतः राष्ट्रीय एकीकरण के ये प्रेरणास्पद स्रोत हैं।

शंकराचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि भगवान के द्वार सभी प्रदेश वालों, जातियों और सम्प्रदायों के लिए खुले हैं। इस प्रकार देश को भक्ति की शक्ति के आधार पर आधुनिक युग में एक भावात्मक सूत्र में बांधने में उनकी यह योजना अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है। इसने साम्प्रदायिक सद्भाव को बढ़ावा दिया है।

इसी कारण बद्रीनाथ के मंदिर से 20 मील दूर उत्तुंग पर्वत शिखर पर स्थित ज्योतिमठ में जो एक मन सात सेर चावलों का प्रतिदिन भोग लगता है उस समय सब वर्गों के मनुष्य स्वेच्छा से एक साथ पंक्ति में बैठकर भात के प्रसाद को ग्रहण करते हैं। यह स्वस्थ परंपरा आज भी बनी है। यह इस बात की स्पष्ट द्योतक है कि शंकराचार्य जी ने अपने इस अभिमत के अनुसार कि सब मानव एक ही परमात्मा की सृष्टि हैं। भगवान की दृष्टि में कोई ऊंच-नीच नहीं है। उन्होंने बड़े छोटे की भावना एवं खान-पान में पृथकता के विचार के विरोध में यह परंपरा प्रचलित की। इस संबंध में यह कहना असंगत न होगा कि आचार्य शंकर के समय से ही बद्रीनाथ मंदिर में पूजन अर्चन के लिए प्रधान पुजारी केरल प्रदेश के नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते हैं जो रावल जी के नाम से जाने जाते हैं। रावल जी प्रत्येक वर्ष ग्रीष्म काल में सुदूर दक्षिण के केरल प्रदेश से उत्तर में बद्रीनाथ आते हैं। यह भारत की सांस्कृतिक एकता का उल्लेखनीय उदाहरण है।

निःसंदेह शंकराचार्य का यह उद्देश्य आज की विघटनोन्मुख प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में और भी प्रासंगिक है। वर्तमान समय में व्याप्त संकीर्ण प्रवृत्तियों के निराकरण करने तथा राष्ट्री एकीकरण की भावनात्मक एकता एवं देश को अखंडता संबंधी प्रवृत्ति को अग्रसर करने में ये पीठ अपना अनुकरणीय अनुदान अदा कर रहे हैं। इस प्रकार आज के परिवर्तित परिवेश में भी राष्ट्रीय एकीकरण की भावना को सुदृढ़ बनाने के लिए शंकराचार्य द्वारा स्थापित ये चार पीठ अपनी भूमिका निभाने में पीछे नहीं हैं। राष्ट्र से इनका

तादात्मय संबंध होने के कारण राष्ट्रीय एकीकरण में इन पीठों के लाभ् का औचित्य समाया हुआ है ।

शंकराचार्य की अपनी माता के प्रति प्रगाढ़ ममता एवं श्रद्धा थी । जब उन्हें अपनी वृद्धा माता की रुग्णावस्था का समाचार मिला, तब गृह त्याग कर सन्यास लेने के पश्चात् फिर घर न आने की परिपाटी की ओर ध्यान न दे वह अपनी माता के अंतिम दर्शनार्थ घर गए । संयासी के लिए दाह संस्कार करना वर्जित है परन्तु माता का देहावसान होने पर उन्होंने इसके विकट विरोध की अवहेलना कर बिना उसकी चिंता किए, माता की चिता में अग्नि स्वयं प्रज्वलित कर उनका अंत्येष्टि संस्कार सम्पन्न किया तथा इसके वचनबद्ध होने के कारण उन्होंने अपनी प्रतिबद्धता को निभाया और उससे परागमुख नहीं हुए ।

इस अलौकिक तेजस्वितायुक्त महान यशस्वी आत्मा ने केवल बत्तीस वर्ष की आयु में अतुलनीय कार्य कर कैलाश धाम के समीप महाप्रयाण किया ।



फिजी में रामलीला

डा० कामता कमलेश

जब मैं अपनी विश्व यात्रा के अंतिम चरण में फिजी पहुंचा तो यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि भारत से हजारों मील दूर प्रशान्त महासागर के इस स्वर्णिम द्वीप में भारतीय संस्कृति अपनी गौरवमयी अस्मिता के साथ जीवंत है। सर्वप्रथम 15 मई, 1879 में लियोनीदास जहाज से 463 भारतीय वीर-पुंगव श्रमिक यहां पहुंचे थे। यह क्रम 11 नवम्बर, 1916 तक चला और इन वर्षों में भारत से कुल 87 जहाज आए जिनमें लगभग 60 जहाज श्रमिक आए। इनमें स्त्री-पुरुष तथा बच्चे सभी शामिल थे। यद्यपि इनमें से अनेक मार्ग में ही लम्बी समुद्र यात्रा सहन न कर पाने से मर भी गए थे तथा एक सीरिया नामक जहाज फिजी के समीप ही दुर्घटनाग्रस्त हो गया जिसमें सवार कुछ ही श्रमिक अपनी प्राण रक्षा कर पाए थे। इन श्रमिकों में भारत के सभी वर्गों के लोग थे जैसे, हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख आदि। मुझे फिजी में यह देखकर प्रसन्नता हुई कि ये सभी लोग अपने धर्मानुसार रहते हुए रामायण, गीता, कुरान और गुरू ग्रन्थ साहिब का पाठ बड़े ही प्रेम और श्रद्धा से करते हैं। यहां उनके मंदिर, मस्जिद और गुरूद्वारे पर्याप्त संख्या में बने हैं।

भारतीय श्रमिक दिन भर के कठिन श्रम और यातना के बाद रात्रि में श्रम परिहार हेतु अपनी-अपनी कुली लेनों में भजन, कीर्तन, आल्हा, शबद तथा कुरान की आयत पढ़ा करते थे। साथ ही कभी-कभी मनोरंजन हेतु ढोलक, मंजीरा, झांझ, ढपली तथा सारंगी की धुनों पर नौटंकी, स्वांग, रसिया और रामलीला भी करते थे जिसमें भारतीय समुदाय के अतिरिक्त काई बीती एवं अंग्रेजी शासक भी आनन्द लेते थे।

फिजी में रामलीला सर्वप्रथम सन् 1902 में पं० तोताराम सनाढ्य के निर्देशन में नाबुआ शहर में आयोजित की गई। यह खुले मैदान में सम्पन्न हुई थी। उस समय भगवान राम के उपदेश और भक्ति का ही प्राधान्य रहा। कालान्तर में इसमें परिवर्तन होते गए। इसी नाबुआ शहर में नाबुआ नदी के किनारे राम भक्त हनुमान जी का मंदिर भी बना जो कि फिजी का सर्वप्रथम मंदिर माना जाता है। पं० उमादत्त महाराज इसके प्रधान पुजारी थे जिन्होंने लगातार कई वर्षों तक पूजा करवाई। उनकी भक्ति को देखकर लोगों ने उन्हें बैरागी बाबा के नाम से प्रचारित कर दिया था। वे कभी-कभी पीड़ित जनता को कुछ मंत्रों से पूजित औषधियां और तावीजें भी दे दिया करते थे। इसके बाद सन् 1904 में वूलीलेका, रानबाग और लम्बासा में पं० गुरू सहाय महाराज और पं० बैजनाथ महाराज के निर्देशन में रामलीला का आयोजन किया गया। यह रामलीला फिजी द्वीप के दूसरे बड़े द्वीप वनुआलेव के उपनगर में हुई थी। यहां पर सर्वाधिक भारतीय श्रमिक निवास करते हैं जो कि मुख्यतया धान की खेती करते हैं। इसके बाद सन् 1939 में फिजी के दूसरे बड़े शहर बा के पास मतनीगारा में गुमानी महाराज, साधूराम प्रसाद, साधू भगवान दास, पं० शिव शंकर तथा गोबर्धन महाराज के सामूहिक प्रयास से रामलीला का प्रारंभ हुआ। श्री महाजन ने यहीं वाई लाई लाई परिक्षेत्र में तीन बीघा जमीन दान देकर एक कुटी का निर्माण कराया। लेखक स्वयं इस कुटी में अपने फिजी प्रवास के समय कई बार वहां के हिन्दी लेखक श्री जे० एस० कंवल और भाई श्री एस०डी० नारायण के साथ गया और दो बार रामायण पर अपना व्याख्यान भी दिया जिसमें बा शहर के मेयर श्री पटेल जी यजमान के रूप में उपस्थित थे। इस कुटी के वर्तमान साधू श्री गोसाइ जी महाराज अपने कृशकाय शरीर के होते हुए भी अदम्य साहस और उत्साह से अपनी संस्कृति और धर्म की रक्षा में लगे रहते हैं। वे अपने परिवार सहित इस कुटी में रहते हैं। यह कुटी आज संपूर्ण फिजी में हिन्दू तीर्थ स्थल एवं प्रेरणा केन्द्र के रूप में सम्मानित है। कुटी में एक शिवालय भी है जो कि दूसरे विश्व युद्ध के समय सन् 1939-40 में बनाया गया था। यहां प्रतिवर्ष शिव रात्रि पर विशाल जनसमूह एकत्रित होकर पूजा-अर्चना करता है।

शनैः शनैः फिजी में रामलीला का प्रचार-प्रसार बढ़ता ही गया और उसमें समयानुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होता गया। सिगाटोका नगर के लवाई क्षेत्र में सन् 1915 में रामलीला प्रारंभ हुई जिसमें मानस की चौपाइयों का विधिवत पाठ भी हुआ फिर 1917 में कफता साहू की कोठी पर रामलीला का आयोजन किया गया। यह अपने ढंग की अनोखी रामलीला थी। इसमें सभी वर्गों के लोग आए थे। इसी प्रकार वुनी बलेरा गांव में भी रामलीला

का आयोजन हुआ। रामलीला की लोकप्रियता नगरों से गावों तक फैल गई। स्थान-स्थान पर छोटी-छोटी मंडलियां रामलीला करने लगीं। राकी-राकी के वाहरूक, लौटोका के साऊ गांव, वनुआलेवू के नांदी आदि स्थानों पर रामलीला बड़े उत्साह के साथ सम्पन्न होने लगी। अब तो रामलीला के भव्य आयोजन के लिए प्रतिद्वन्दता सी होने लगी। नान्दी में रामलीला की लोकप्रियता को देखते ही ग्रामीण क्षेत्रों में इसके आयोजन और मंचन की इच्छा हुई। नान्दी में ही फिजी का अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा है। सन् 1939 में स्व० गोपाल गोसाईं की भूमि पर साधू गणेश नाऊ की देख रेख में वतुआलेव में रामलीला खेली गई जिसमें गांव की समस्त जनता ने धर्म-लाभ प्राप्त किया।

फिजी में राम के प्रति अपार श्रद्धा और विश्वास है। गिरमिट काल में कुली लाइनों में आयोध्यापुरी और लंकापुरी आदि स्थान बने थे जहां राम भक्त जनता रामलीला के कतिपय प्रसंगों का मंचन और गायन करती थी। लेखक ने स्वयं इन स्थानों को देखकर उस भूमि के कणों को मस्तक पर लगाया है। इन स्थानों को देखकर स्वतः ही वाराणसी के रामनगर की रामलीला और लंका उप-नगर की याद आ गई और साथ ही अपनी श्रीलंका यात्रा के दृश्य भी अचेतन मन में झूलने लगे। फिजी में प्रवासी भारतीय 100 वर्षों के बाद भी अपनी संस्कृति और आराध्य देव से जुड़े हैं, यह एक गौरव की बात है। आश्चर्य तो यह है कि इनमें से अधिकांश लोग अभी तक भारत भूमि के दर्शन भी नहीं कर सके हैं। केवल कहानियां ही बाप दादों से सुनी हैं या पुस्तकें पढ़कर कुछ ज्ञान प्राप्त किया है। कभी-कभी रामलीला के आयोजन से जो दान-दक्षिणा और आरती से धन इकट्ठा हो जाता है वह धर्म-शिक्षा और उपदेशकों पर व्यय किया जाता है। आरती के समय मैंने देखा कि भक्तगण आरती में कुछ सिक्के डालकर पुण्य कमाते हैं और उस समय जिसके पास पैसे नहीं हैं तो वह खाली हाथ से आरती न लेकर थाल में पुष्प डालकर क्षमा याचना के साथ यह कर्म करता है। आश्चर्य है कि अपने देश में कभी-कभी लोग खाली हाथ से आरती ले लेते हैं। पत्रम्, पुष्पम्, फलम, तोयम की भावना को भी भूल जाते हैं।

फिजी में रामायण के प्रत्येक प्रसंग नैतिक, धार्मिक बल प्रदान करते हैं इसीलिए वहां इसे श्रीरामायण महारानी कहा जाता है। फिजी में रामायण को हाथ पर रखकर कोर्ट क्लर्क न्यायालय में शपथ दिलाता है। जब फिजी 10 अक्तूबर, 1970 को स्वतंत्र हुआ तो उस समय रामलीला का अवसर था, लोगों ने इस शुभ अवसर पर वतुआलेवू में राम की शोभा यात्रा के साथ अनेक मनोरम झांकियां भी निकालकर अपने आह्लाद का सफल प्रदर्शन प्रवासी भारतीयों ने किया था। इन झांकियों में राम-भरत मिलाप, वालि-सुग्रीव युद्ध, राम-शबरी-मिलन और हनुमान की प्रमुखता थी। इसकी शोभा को द्विगणित करने के लिए भारतीय वेश-भूषा में अनेक घुड़सवारों ने नयानभिराम योगदान दिया था। अब यह झांकी की परंपरा फिजी में प्रतिवर्ष रामलीला के समय निभायी जाती है। अब तो फिजी में रामलीला सर्वत्र गांव-गांव में उसी प्रकार आयोजित की जाती है जैसी कि उत्तर भारत के गांवों में की जाती है। फिजी रामलीला विजय दशमी के अवसर पर ही खेली जाती है जबकि मैंने सूरीनाम (दक्षिण अमेरिका) में देखा है कि वहां रामलीला नाटक-मण्डलियों की सुविधानुसार वर्ष में कभी भी खेली जाती है। फिजी में इस समय सरकारी नियमों के अनुसार रामलीला केवल नदी तट, स्कूल या मंदिर में ही हो सकती है। साथ ही यदि कभी सनातन धर्मावलम्बियों के अतिरिक्त कोई अन्य रामलीला करना चाहे तो उसे श्री सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा फिजी से अनुमति प्राप्त करनी होती है। इस देश में रामलीला पूर्ण धार्मिक रीति रिवाजों एवं पवित्रता से मनाई जाती है। रामलीला में अभिनय करने वाले पात्र, रामायण गायक तथा अन्य कार्यकर्ता जब तक रामलीला होगी तब तक मांस, मदिरा और धूम्रपान नहीं करेंगे और पूर्ण आचार-विचार से सात्विक जीवन व्यतीत करेंगे। कुछ प्रमुख पात्र और लोग कभी-कभी भूमि शयन भी करते हैं। आस्था और विश्वास का ऐसा रूप अन्य देशों में बहुत कम देखने को मिलता है। फिजी की धर्म-परायण जनता इसे बहुत ही शुद्ध मन से स्वीकार करती है।

समय के साथ-साथ और वैज्ञानिक उन्नति के प्रकोप से वहां भी अब आधुनिकता का प्रवेश हो गया है जैसे मंच पर नयनाभिराम पर्दे, रंग-बिरंगी रोशनी, लाउडस्पीकर, चमचमाती वेश भूषा और साज-सज्जा आदि। जबकि पहले मात्र खुले मैदान में स्वाभाविक रुप से वेश-भूषा और धनुष बाण ही प्रमुख थे : वहां अभी भी रावण मेघनाथ आदि के पुतले जलाने की प्रथा लोकप्रिय नहीं हुई है।

रामलीला और रामायण के प्रति फिजी के मूल निवासी काईबीती सम्प्रदाय के लोग भी इसमें पर्याप्त रुचि लेते हैं। इसी अगाध प्रेम को देखते हुए वहां के राम कृष्ण मिशन के सहयोग एवं प्रेरणा से श्री सैमुवल एस० वरविक महोदय ने रामायण की कुछ कथाओं का अनुवाद फीजियन भाषा काईबीती में किया है। इससे वहां की आदिम जाति भी भारतीय संस्कृति के इन पावन प्रसंगों को अपनी भाषा के माध्यम से समझ सकी। श्री वरविक महोदय की पुस्तक एक ऐसे सांस्कृतिक सेतु का कार्य कर रही है जिस पर दोनों जातियां एक दूसरे को निकट से जानने का प्रयास करती हैं। यद्यपि वर्तमान समय में वहां कुछ राजनैतिक कारणों से प्रवासी भारतीयों के भविष्य पर अनिश्चय का कुहासा छा गया है फिर भी मुझे पूर्ण विश्वास है कि "श्री रामायण महारानी" की कृपा से वह कुहासा शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा और नए प्रभात में सभी वसुधैव कुटुम्बकम की भावना से राम राज्य सा सुख भोगते हुए मर्यादित जीवन व्यतीत करेंगे।

———o———

प्राचीन संस्कृति का जीवन्त स्थल— तीर्थराज पुष्कर

चन्द्रकान्ता शर्मा

पुष्कर देश का सर्वाधिक चर्चित, लोकप्रिय तथा धार्मिक आध्यात्मिक तीर्थस्थल है। सारे तीर्थों की यात्रा करने के बाद पुष्कर जाकर नहीं नहाए तो यात्रा का पुण्य फल प्राप्त नहीं होता। यही वजह है कि प्रति वर्ष लाखों श्रद्धालु तीर्थ यात्री पुष्कर पहुंचकर अपने पापों के शमन के लिए सरोवर में स्नान करके जीवन सफल करते हैं। पुष्कर राजस्थान के अजमेर शहर से 11 किलोमीटर अरावली की सुरम्य पर्वत शृंखलाओं से घिरा सांस्कृतिक स्थल है।

पुष्कर के बारे में मान्यता है कि भगवान ब्रह्मा को जब यज्ञ करना था तो वे अपने हाथ में कमल का फूल लेकर ब्रह्माण्ड का चक्कर लगाने निकले। इस यात्रा में उनके हाथों से कमल का फूल इसी स्थान पर गिरा और यह स्थान स्वच्छ पानी के सरोवर के रूप में बदल गया। ब्रह्माजी का मन बस यहीं रम गया और उन्होंने यज्ञ की तैयारियां प्रारंभ कर दीं। जिस दिन नियत समय पर यज्ञ प्रारंभ होने वाला था ब्रह्मा जी की पत्नी सावित्री यथासमय यज्ञ स्थल पर नहीं पहुँच पाई तथा वे विष्णु और महादेव जी की धर्म पत्नियों के साथ साज-शृंगार में लगी रहीं। इधर यज्ञ का महूत टलता जा रहा था। ब्रह्मा जी घबराए और इन्द्र से परेशानी बताई तो इन्द्र महाराज एक रूपवान गुजर कन्या को ब्रह्माजी की पत्नी के रूप में ले आए। यज्ञ प्रारंभ हो गया। सावित्री जब अन्य लोगों के साथ वहां पहुंची तो ब्रह्मा जी के साथ अन्य स्त्री को देखकर अत्यन्त क्रोधित हुई। ब्रह्मा ने उन्हें स्थिति की विवशता तथा अन्य तौर-तरीके से लाख समझाया पर सावित्री जी नहीं मानी तथा वे कुपित होकर पास की पहाड़ी पर चली गई। जाते समय वह ब्रह्मा जी को यह शाप भी देती गई कि देश में अन्यत्र कहीं भी ब्रह्मा जी की पूजा नहीं होगी तथा उनका केवल मात्र मंदिर पुष्कर में ही होगा। यह सही भी है कि पुष्कर के सिवाय ब्रह्माजी का मंदिर विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है—जबकि विष्णु जी तथा महादेव जी के मंदिरों की अत्यन्त बहुलता है। पुष्कर यहां थोड़ी-थोड़ी दूरी पर तीन हैं जो ज्येष्ठ, कनिष्ठ तथा मध्य पुष्कर के नाम से जाने जाते हैं। इनमें ज्येष्ठ पुष्कर की ही मान्यता पूरे माहात्म्य के साथ है।

वैसे तो पुष्कर में आए दिन ही तीर्थ यात्रियों का तांता लगा रहता है परन्तु कार्तिक मास की पूर्णिमा को देश के कोने-कोने से लाखों श्रद्धालु यहां पहुंचते हैं। पुष्कर में पांव रखने को जगह नहीं मिलती। मेले के समय यहां 2–3 बजे रात से ही घाटों पर स्नान प्रारंभ हो जाता है। पुष्कर में स्नान-तर्पणादि करना चारों धाम की यात्रा के समान है। यह मान्यता यहां देश भर से श्रद्धालुओं को बटोर लाती है। कार्तिक मास में जबकि सर्दी अपना रंग दिखाना प्रारंभ कर देती है, तीर्थयात्रियों का गमनागमन बना रहता है। स्नान के बाद तर्पणादि में नारियल-फूल तथा चन्दनादि से पूजा क्रिया संपन्न होती है तथा दीपक पत्तों पर रखकर पानी में छोड़े जाते हैं। पुष्करराज में दीपदान की यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से माहात्म्य के साथ की जाती रही है। ब्रह्माजी के एकमात्र मंदिर में जाना पुण्य का पहला फल है तथा लोग वहां की वास्तु-शिल्प कला पर विमुग्ध हुए बिना नहीं रहते। मुगलकाल में औरंगजेब ने इस मंदिर को भी तोड़ा था परन्तु कालान्तर में इसकी मरम्मत आदि कर दी गई तथा आज यह मंदिर अत्यन्त भव्य एवं दर्शनीय है। हालांकि पुष्कर में औरंगजेब ने तोड़-फोड़ की परन्तु जहांगीर ने अजमेर में रहे तीन वर्षों में 15 बार जाकर स्नान किया, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं तुजके जहांगीरी में किया है, इस दृष्टि से पुष्कर सर्वधर्म समन्वय का आध्यात्मिक स्थल है जहां साम्प्रदायिक सद्भाव अपने आप मुखर होकर मानव-समाज को एक नई चेतना एवं राह बताते हैं।

पुष्कर नगर 10–12 हजार की आबादी वाला एक शहरनुमा गांव है, जहां आधुनिक सुख-सुविधाएं तथा गमनागमन के साधन प्रचुरता से सुलभ हैं। पुष्कर अण्डाकार झील के चारों ओर बसा हुआ है। यहां करीब 50–60 घाट हैं। जिनमें गऊ-घाट तथा ब्रह्माघाट, बराहघाट अधिक प्रसिद्ध हैं। देश के अधिकांश राजघरानों के निजी आवासगृह भी यहां बने हुए हैं। पुष्कर में करीब चार सौ मंदिर हैं—जिसमें रंगजी तथा ब्रह्माजी का मंदिर सबसे ज्यादा भव्य, लोकप्रिय और दर्शनीय है। रंगजी के मंदिर में विष्णु, नरसिंह तथा लक्ष्मी की प्रतिमाएं स्थापित हैं।

कार्तिक मास में पुष्कर में 15 दिन का मेला लगता है है तथा इसमें ग्रामीण वस्तुओं की खरीद-फरोख्त के अलावा पशुओं की भी विशाल मण्डी लगती है । पशुओं की खरीददारी का यह प्रसिद्ध तथा बड़ा मेला है । इतना बड़ा मेला राजस्थान में अन्यत्र नहीं आयोजित हो पाता । लगभग एक मास पहले ही दुकान लगाने वाले दूर-दूर से आकर दुकान लगाना प्रारंभ कर देते हैं तथा कृषि बुआई और तिराई से निबट कर खेतों का काम-धाम खत्म करके किसान लाखों की संख्या में सिमटा चला जाता है मेले में गोरबन्द, मालाएं, घन्टियां, हाथीदांत का सामान, पीतल का सामान, छपे हुए राजस्थानी वस्त्र, झूले, रकाब, कंठिया, मनिहारी तथा अन्य सौंदर्य प्रसाधन भी बहुतायत से बिकते हैं । ग्रामीण वर्ग में काम आने वाली चीजें भी बिक्री का मूलाधार हैं ।

मेले में स्वदेशी तीर्थयात्रियों के अलावा हजारों विदेशी र्यटक भी भारतीय आंचलिक जीवन की जीवन्त झांकी देखने पहुंचते हैं । भारतीय संस्कृति और ग्रामीण जीवन के दिग्दर्शन के लिए राजस्थान पर्यटन निगम मेला स्थल के समीप पर्यटन ग्राम की स्थापना करता है । लाल, हरे, सफेद, एवं रंगीन तंबुओं के नाम राजस्थान की प्रसिद्ध सांस्कृतिक धरोहरों पर रखे जाते हैं मसलन नृत्यों में घूमर, चिरमा-बिवाई भोजनकक्षों में मारवाड़ी तथा ढूंढोरी--इनकी साज सज्जा तथा व्यवस्था भी उनके नामों के अनुकूल ही की जाती है । तम्बुओं में डीलक्स एवं सामान्य श्रेणियां निर्धारित हैं । इस ग्राम में बैंक में विदेशी मुद्रा विनिमय तथा लाकर्स की सुविधा सुलभ है । टेलीफोन तथा शापिंग सेंटर भी बनाए जाते हैं । पर्यटन विभाग द्वारा मनोरंजन के लिए राजस्थानी आमोद-प्रमोद के लिए पारंपरिक साधनों से सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं ।

पुष्कर का प्राकृतिक सौंदर्य भी कम दर्शनीय नहीं है । स्वच्छ पानी की झील के चारों ओर बने ऊंचे-ऊंचे कलात्मक घाट, विविध लोकांचलों के तीर्थयात्री, भाषा-बोली, पहन पहनावा तथा खान-पान, घाटों पर नहाते तर्पणादि करते स्त्री-पुरुष एवं बच्चे ब्राह्मणों का मंत्रोच्चारण पूजा-पाठ, बन्दर-लंगूरों के हुजूम पानी में तैरते बालक एवं पुरुष इस दृष्टि से पुष्कर तीर्थस्थल के अलावा पर्यटन के लिए भी आकर्षक स्थल हैं । हां, पिछले एक दशक से यहां विदेशी हिप्पियों के कारण यहां का सांस्कृतिक वातावरण अवश्य प्रदूषित हो रहा है ।



गुरू ऋषि परम्परा

--डा० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

गुरू को जितना पूज्य पद वैदिक और संस्कृत साहित्य में प्रदान किया गया है उतना कदाचित विश्व के किसी साहित्य में नहीं । तैत्तरीयोपनिषद् में कहा है--"आचार्य-देवो भव" । "अर्थात" आचार्य में देवबुद्धि रखना ।" यूं तो वहीं "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव ।" कहकर माता-पिता में भी देवबुद्धि रखने का आदेश है । परन्तु इन तीनों में गुरू को ही महत्तम पद प्राप्त है । महाभारत के शान्ति पर्व में पितामह भीष्म युधिष्ठर को कहते हैं--गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृष्वेति मे मति : ।" (108.17) अर्थात मेरे विचार से गुरू माता और पिता से भी श्रेष्ठ है।" रघुवंशम् में महाकवि कालीदास कहते हैं --"आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया" अर्थात "गुरू की आज्ञा के समक्ष औचित्य-अनौचित्य पर विचार नहीं करना चाहिये ।" ग्रीक सम्राट सिकन्दर ने अपने गुरू अरस्तु के विषय में कहा था--"यद्यपि मुझे मेरे पिता ने जन्म दिया है परन्तु जीने की कला गुरू ने ही सिखाई है ।" इसलिए गुरू की अजस्र कृपा प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहने में ही हित है।

गुरू शब्द और पद का जितना सुन्दर विवेचन और माहात्म्य 'गुरू-गीता' में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं वहां गुरू की शाब्दिक व्याख्या करते हुए कहा है--

गु शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति रु शब्दस्तन्निरोधक :।
अन्धकारनिरोधत्वाद गुरुरित्यभिधीयते ॥
(गुरू गीता श्लो० 12)

अर्थात "गु शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रू' का अर्थ है उस (अन्धकार) का निरोधक । चूंकि वह अज्ञानान्धकार का निरोधकर्ता है इसलिए उसे गुरू कहा गया है ।" इतना ही नहीं, गुरू में ब्रह्मा, विष्णु और महेश के त्रिक का समाहार किया गया है --

"गुरुब्रह्मा, गुरुविष्णु: गुरुर्देवो महेश्वर:" तथा "गुरू: साक्षात परब्रह्मा:" कहकर उसे उक्त त्रिक से भी बढ़-कर परब्रह्मा का साक्षात् शरीरधारी रूप तक बताया गया है।

वाणी की अधिष्ठातृदेवी भगवती सरस्वती के अद्वितीय वरदपुत्र गोस्वामी तुलसीदास ने अपने अमर ग्रन्थ राम-चरितमानस में तो गुरू को ज्ञान का साक्षात् अवतार ही मानकर वन्दना की है --

"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररुपिणम् ।"
(मानस 1 श्लो०-3)

उनके लिए गुरू के वचन बुद्धि की जड़ता और महामोह रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य की किरणों के समान हैं ।--

"महामोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर ।"

गुरुपद की प्राप्ति:--जिस पद का इतना गुणगान किया गया है वह कैसे प्राप्त होगा ? यह न तो कोई उपाधि है जो किसी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की जाती है और न ही यह कोई राजसम्मान है । इसकी प्राप्ति स्वयं अभ्यर्थी के वश में है जो निरन्तर निरालस्य भाव से सावधान और प्रयत्नशील रहने पर क्रमश: प्राप्त होती रहती है । इस अवधान और प्रयत्न का रूप क्या है ? उपनिषद् कहता हैं ---

"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।"
(तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/1)

अर्थात् "पढ़ने और पढ़ाने की कभी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए ।" उपनिषद् के इस वाक्य में गुरुपद प्राप्ति के दो मूल कारण बताए गए हैं--स्वाध्याय और प्रवचन । स्वाध्याय ज्ञान का अन्तर्मुखी रूप है तथा प्रवचन बहिर्मुखी । पहला अर्जनात्मक है, दूसरा सृजनात्मक । अध्ययन मनन, चिन्तन स्वाध्याय के ही क्रमिक सोपान हैं । अध्यापन, लेखन, विमर्शन आदि प्रवचन अर्थात अभिव्यक्ति के साधन हैं । इन दोनों में आधार--आधेय सम्बन्ध है । स्वाध्याय आधार है, प्रवचन आधेय । आधार के बिना आधेय की अवस्थिति कहां, कैसे और कब तक होगी ? ज्ञानार्जन आजीवन सतत् चलती रहने वाली एक प्रक्रिया है । यह शिक्षक रूपी वृक्ष का का मूल है, जो जितना गहना और जलसिंचित होगा वह उतनी ही घनी और शीतल छाया प्रदान कर सकेगा । इस लिए स्वाध्याय और निरन्तर ज्ञानार्जन की इस प्रक्रिया में में कभी पूर्णता अनुभव नहीं करनी चाहिए । एक मूलमंत्र सदैव स्मरण रखना है कि मैं चाहे कितना भी सीखता जाऊं, परन्तु ज्ञान के उस अनन्त और असीम आकाश की तुलना में मेरा अर्जित ज्ञान बहुत ही तुच्छ और अल्प है । अतः मुझे उस अनन्त का निरन्तर राही बने रहना है । इस मार्ग में पूर्णता का विचार मात्र आत्मसंकोचन है । यूनानी महान तत्ववेत्ता सुकरात का यह विश्वास था कि "मैं केवल एक ही बात जानता हूं कि मैं कुछ नहीं जानता" । सुकरात की इस मान्यता में आत्मविश्वास का अभाव नहीं, अपितु ज्ञान

के क्षत्र में भारतीय मान्यता के अनुसार "चरैवित–चरवति" का भाव निहित है।

सारस्वत उपासना आनन्द दायिनी तथा श्रेयस्कारिणी

भारतीय मनीषा ने एन्द्रिय सुखानुभूति को विषयभोग माना है, जबकि इन्द्रियातीत मधुर भावानुभूति को अक्षय सुख, अत्याधिक सुख अथवा आनन्द कहा है––

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुदथिग्रा यमतीन्द्रियम्"

(गीता–6/2)

अध्ययन के क्षणों में हमें अपने पूर्वज ऋषियों, मुनियों, अमर कवियों, साहित्यकारों और तत्ववेत्ताओं का मानसिक संग और उनके साथ वार्तालाप की सुखात्मक अनुभूति होती है।

उपनिषदों में श्रेय और प्रेय दो भिन्न भागों का उल्लेख है। एक हमारे मन और चित्त का परिपकार करके उसे सद्दिशा की ओर अभिप्रेरित करता है तो दूसरा उसे अधोमुखी, संसारलिप्सु और घातक बनाता है। इसलिए हम क्यों न स्वयं को श्रेयमार्ग द्वारा आनन्द की उपलब्धि करायें। भगवद्-गीता कहती है––

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत ।
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

(6/5)

अर्थात "अपने द्वारा अपना उद्धार करें और अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुंचाएं क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।" बाहर कोई दूसरा हमारा शत्रु या मित्र नहीं है।

अविद्या से विद्या की प्राप्तिः––यह ठीक है कि किसी भी साध्य के लिए साधन की आवश्यकता है। जब तक हम जीवित हैं और सामाजिक प्राणी हैं तब तक शरीर के पोषण, रक्षण, गृहस्थपालन सामाजिक गतिविधियों और सम्बन्धों के निर्वाह तथा नियम पालन के लिए भौतिक साधनों की भी अनिवार्यता है। इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। श्रुति कहती है––"भूत्यै न प्रमदितव्यम्" अर्थात "धन सम्पत्ति को बढ़ाने वाले लौकिक उन्नति के साधनों के प्रति उदासीन नहीं होना चाहिए।" वित्त इन सबका केन्द्र बिन्दु है। परन्तु उसके उपयोग को रूप और दिशा प्रदान करने में मनुष्य स्वतंत्र है। विधि तथा ईश्वर की इच्छा कहकर आत्मघाती और लोकघाती रूप देना आत्म प्रवंचना ही है। गीता के उपर्युक्त वाक्य में यह स्पष्ट बता दिया गया है। परन्तु हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि वित्त और अन्य भौतिक साधन केवल साधन ही हैं, साध्य कभी नहीं। अनुचित दिशा देने से वित्त आत्मा की अधोगति का कारण बन जाता है और सद्दिशा देने से वही आनन्द और निर्वाण प्राप्ति का। अतः हम क्यों न इसे श्रेयोन्मुखी कर दें। "अविद्ययामृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ईशो०-II) अर्थात "(वह मानव लोकोपकारी) कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार करके ज्ञान के अनुष्ठान से अमृत को भोगता है।" आज हम केवल साधन को साध्य मानकर अपनी सम्पूर्ण शक्तियां आपादमस्तक उसी की प्राप्ति में लगाए हुए हैं। साध्य की ओर हमारा किंचित् ध्यान नहीं है।

आज प्राचीन गुरु ऋषि परम्पराओं के विस्मरण ने, पश्चिम के भौतिकवादी प्रभाव ने, एन्द्रिय विषय भोगों की उद्दाम इच्छाओं ने तथा अपनी लघु-सामर्थ्य और अपार इच्छाओं के अन्तराल ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण शिक्षाजगत की "अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः" की स्थिति बना दी है। वस्तु निष्ठ न्यायपरक दृष्टि के अभाव में हम सभी एक जड़ मशीन की भांति अपना-अपना कर्तव्यपालन करके स्वयं धन्य हो रहे हैं। परिणामस्वरूप देश में से या तो प्रतिभा का पलायन हो रहा है अथवा उसका आखेट। राष्ट्र और समाज के लिए यह एक भयावह स्थिति है। इसके निवारणार्थ हमें अपने पूर्वज गुरुओं और ऋषियों द्वारा प्रदत्त "तेजस्विनावधीमतस्तु", आचार्यो देवो भव" गुरुसाक्षात परब्रह्मः" आदि मंत्रों में निहित अर्थों को पहचानने और तदनुकूल आचरण करने का संकल्प लेने की तत्काल आवश्यकता है।

अति प्राचीन काल से भारत भूमि ऋषि प्रसूता रही है। उसने जहां गौतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप और अत्रि आदि के रूप में अमर सप्तर्षियों, विश्व के अद्वितीय दार्शनिक योगिराज वासुदेव कृष्ण और मानवी सृष्टि के अद्वितीय प्रतिभापुंज महर्षि वेद व्यास को उत्पन्न किया, वहां वर्तमान में स्वामी राम कृष्ण परमहंस के रूप में अद्वितीय आध्यात्मिक सन्त, भारतीय वेदान्त के अनुपम आख्याता स्वामी विवेकानन्द, त्यागमूर्ति सत्य-अहिंसा के अवतार और कर्मयोगी महात्मा गांधी, महान दार्शनिक सन्त महर्षि अरविन्द घोष, अमर ऋत्विक् महर्षि रवीन्द्रनाथ टैगोर, महान दार्शनिक जे० कृष्णमूर्ति, सन्त विनोबा भावे, विचारक शिक्षा शास्त्री काका साहब कालेलकर तथा स्वामी चिन्मयानन्द भी इसी तपस्थली भारत भूमि पर ही अवतरित हुए हैं। इन सभी ऋषियों ने कर्म और विचार की जो नाना-रश्मियां पौर्वात्य और पाश्चात्य जगत में फैलाईं उनकी समता विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। स्वर्गीय डॉ० सर्वपल्ली राधा कृष्णन ने उसी ऋषि प्रदत्त पारम्परिक ज्योति को निर्धूम करके अपने स्वाध्याय और व्याख्यानों के द्वारा पूर्व और पश्चिम के क्षितिज को आलोकित किया। उनकी भौतिक देह पंचभूतों में विलीन हो जाने से वह ज्ञान की ज्योति कहीं शून्य में विलीन न हो जाए और वह ऋषि परम्परा का सूत्र टूट न जाए, इसकी चिन्ता करना हम भारतीयों का परम कर्तव्य है। यह राष्ट्र के ऊपर ऋषिऋण है जिसे अपनी सारस्वत साधना से प्रज्वलित रखना शिक्षक समुदाय, बुद्धि जीवियों और नीति निर्माताओं का परम धर्म तो है ही, युगधर्म भी है। स्व० डॉ० सर्व पल्ली राधाकृष्णन द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान ज्योति की रक्षा एवं अग्रसरण करने का मानसिक संकल्प लेना ही उनके शताब्दी वर्ष में उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करने के समान होगा।

सूर काव्य में लोकतत्व

चंद्रेश्वर कर्ण

कविता की स्पर्शधर्मिता बढ़ जाती है जब उसमें लोक जीवन संतुलित मात्रा में समाविष्ट होता है। यह लोक जीवन और कुछ नहीं, गांव से नगर तक फैला जन-सामान्य का लोकाचार है। इन्हें पुस्तकीय ज्ञान से न तो जाना जा सकता है और न उधार ली गई संवेदना से अभिव्यक्त ही किया जा सकता है। वैसे तो संवेदना उधार की चीज ही नहीं होती। यदि उसके नाम पर कुछ होता है, तो वह छदम् है। वैसे लोक जीवन के अभाव में कविता में प्राणों की वर्तिका जल ही नहीं सकती। लोक तत्वों से संकलित कविताएं ही सर्वजनीय और सर्वकालिक होती हैं।

हिन्दी की भक्तिकालीन कविता की शक्ति भी यही लोक जीवन है। इस काल के कवि अपने परिवेश से पूरी तरह सम्पृक्त थे। लोक चेतना से उनका पूरा लगाव था। वे अभिजात्य के गायक न होकर लोकचेतना के अनुगायक थे जिन्हें किसी "सीकरी" से काम नहीं था और जिनकी कविताओं में सामान्य जन अपनी सामान्यतयाओं में प्रतिष्ठित रहे। कविताओं में सामान्य जन की यह प्रतिष्ठा ही उन्हें लोकजीवन में इतना करीब ले गयी और वे कविताएं लोक कंठों में सदा के लिए बस गईं। भक्तिकालीन कवियों का लोक चेतना से लगाव कोई सामान्य बात न होकर दुर्लभ विशिष्टता है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि ईश्वर के व्याज से सामान्य जन की प्रतिष्ठा ही उसका प्रमुख उद्देश्य था। भक्तिकालीन यह वैशिष्ट्य रेखांकित किया जाना चाहिए।

लोक संवेदना में तादात्म्य संभव नहीं है। भक्तिकाल के कवि सूरदास में आत्मार्पण की यह भावना ही है जिससे वे शताब्दियों बाद भी जन-जन के कवि बने हुए हैं और आगे भी बने रहेंगे। लोक जीवन के अक्षय स्रोत से जुड़ी होने के कारण ही सूर या उनकी समकालीन कविताएं इतनी प्राण स्पर्शी हैं। लोक जीवन की पीड़ा उसका सौन्दर्य हर्ष विषाद लोक जीवन की अस्मिता का जो चित्र हमें सूर के काव्य में मिलता है वही उसे संवेदनशील बनाता है। सूर के काव्य में सामान्य जन की गरिमा का आलेख है। उसमें सामान्य जन को त्रस्त करने वाली किसी भी स्थिति का संवेदनात्मक बोध तो है ही साथ ही उससे त्राण पाने की निष्कम्प आस्था भी है। अपने आराध्य की भक्ति के व्याज से उन्होंने सामान्य जन की पीड़ा और संघर्ष से अपने को एकाकार किया है। सूर और उनके समकालीन कवियों के गीत उस सामान्य जन की आस्था, निराशा, पीड़ा और संघर्ष के गीत हैं जो वे समर्पित भाव से उनके बीच रहकर आत्मसात् करते रहे हैं। मनुष्य और उसकी पीड़ा के प्रति सजगता उनकी मानवीय गरिमा के प्रति समर्पित भाव के प्रमाण हैं।

सूर को वात्सल्य और श्रृंगार का कवि माना गया है जो सत्य भी है लेकिन उनमें अपने परिवेश के प्रति गहरा लगाव था। उनकी कविताएं इसका प्रमाण हैं। लोक जीवन से तलस्पर्शी लगाव के कारण ही उनके काव्य में लोक-तत्वों का ऐसा सहमेल है जो उन्हें लोक चेतना का सर्वश्रेष्ठ अनुगायक सिद्ध करता है। वात्सल्य और श्रृंगार के बहाने वे लोक संस्कृति तथा लोक जीवन को उकेरते हैं। ग्रामीण संस्कृति का यह काव्यात्मक समाहार सूर-काव्य की विशिष्टता है। लोक पर्व, त्यौहार, रीति रिवाज और ब्रज लोक के निवासियों का एक-एक क्षण सूर के काव्य का मूल आधार है। उनकी यह ग्राम दृष्टि अपने आराध्य कृष्ण के ग्रामीण परिवेश में गोप-गोपियों के बीच बीते क्षणों के आकलन में विकसित हुई है। सूर का काव्य ब्रज प्रदेश के सामाजिक, सांस्कृतिक इतिहास लेखन की समस्त सामग्री का काव्यात्मक अक्षय कोष है।

"धनि यह वृन्दावन की रेनु" कहने वाले सूरदास को वृन्दावन का कण-कण अपना आराध्य लगता है क्योंकि उनके आराध्य कृष्ण की वह लीला भूमि थी। कृष्ण का "रेनुतन मंडित" था वहां की धरती में। सूर की वहां की धरती से अनुरक्ति बहुत स्वाभाविक है। इसलिए सूरकाव्य में ब्रज भूमि का लोक-जीवन अपने वैविध्य और विस्तार में विवृत है।

सूर के काव्य में ब्रज की विभिन्न लोक-कलाएं अपने पूरे रूप वैभव के साथ उपस्थित हैं। यह सत्य है कि कला की सहायता से ही विश्व भर के लोक जीवन को समझने का प्रयास किया जा सकता है। इस कला के अंतर्गत लोक गीत, संगीत तथा वास्तु, चित्र और मूर्तिकलाएं आती हैं।

सूर महान संगीतज्ञ थे। शास्त्रीय तथा लोक गीतों पर उनको असाधारण अधिकार प्राप्त था। उनके सितार वाले हाथ श्रीनाथ जी के मंदिर के सर्वश्रेष्ठ कीर्तनीय स्वामी हरिदास के प्रशंसक और स्वयं सिद्ध संगीतज्ञ थे। यही कारण है कि उनका गीत काव्य संगीत के अनुशासन में आबद्ध है तथा उसमें लोक गीतों और लोक धुनों का सौन्दर्य और भाव संस्पर्श भी है। सूरसागर के गीतों में लोक गीतों

के संस्कार, उत्सव, पर्व और त्यौहार, ऋतु, मनोरंजन तथा विरह प्रमुख प्रकार हैं । कृष्ण जन्म के अवसर पर आयोजित अनुष्ठान में संस्कार गीत गाये गये हैं--सोहर, बधाई, मंगल आदि । धनिनन्दन, जसोमति, धनि जगपावन रे जैसे बधाई, गीतों की संख्या कम नहीं है । ऐसे ही संस्कार गीत हैं कृष्ण यज्ञोपवीत मुंडन, कर्ण छेदन, विवाहादि अवसरों पर गाये जाते हैं । इसी तरह होली, झूला लीला के समय तथा भ्रमर गीत के विरह विदग्ध असंख्य पद हैं ।

सूर के काव्य में "वास्तुकला" का भी सजीव चित्र मिलता है । मथुरा नगर का एक चित्र :--

"हाटक कोट कंगूरा राजत, हीरा रतन जरे
मणि भवन उतुंग तुहाए नवधा भक्ति भरे ।।

लोक चित्रों से भी सूर के पद सजे हैं । सांझी सतिए लोकचित्र कला के मोहक प्रदर्शन हैं । पृथ्वी पर विविध प्रकार के रंग गोपियों का रंग-बिरंगी धारियों वाले वस्त्र धारण करना, वन-धातु घिसकर सखाओं का कृष्ण के अंग-प्रत्यंगपर चित्र आलेखन और संयोजन सूर युग की चित्रकला श्रेष्ठतम उदाहरण हैं । शालिग्राम की मूर्ति मथुरा, द्वारिका के महलों की सज्जा जैसे मूर्तिकला के अत्यन्त सजीव पद भी सूर काव्य में उपलब्ध होते हैं ।

सूर-काव्य ग्रामीण संस्कृति की काव्यांत्मक अभिव्यक्ति है । सूर काव्य का पूरा परिवेश ही कृषि और चरागाहों से जुड़ी संस्कृति से सम्बन्धित हैं । कृषि में लगे अहीर ग्रामीण परम्पराओं से जुड़े अंध विश्वासों से जकड़े सरल मनुष्य हैं । इन्द्र और गोवर्द्धन उनके देवता हैं जिनकी वे पूजा करते हैं साथ ही ग्रीष्म ऋतु में बगुले का भूत, हाऊ का भय, नजर लगना तथा पुत्र दीर्घायु-कामना से, रैता पैता, मनसुखा जैसे अनर्गल नामकरण, अंधविश्वास के बोधक हैं । इसके साथ ही काग का बोलकर उड़ जाना, भ्रमर की गुनगुनाहट, भुजा फड़कना, पुलकित होकर अंगिया का तड़कना, आंख फड़कना तथा कागज का संदेशवाहक होना जैसे विश्वास भी इसी के अंतर्गत आते हैं । पति प्राप्ति के लिए देवी की आराधना करना तथा नन्हे कृष्ण का चांद को मामा कहना भी ऐसे ही विश्वास हैं । सूर काव्य में जादू टोने-टोटके भी कम नहीं हैं । यशोदा का वात्सल्य के वशीभूत होकर नजर उतारना, दीढ़ि, लगाना और उससे बचाने के लिए मसि बिन्दा लगाना, कुंठला और केहरी नख धारण करना, दिशाधूल जंत्र-मंत्र करना, ढगोरी लगाना, वशीकरण तथा डाकिनी मंत्र पढ़ना इसी जादू टोने के अंतर्गत आते हैं । इन विश्वासों तथा अनुष्ठानों के आयोजन में सूर का अपन परिवेश, लोक जीवन, तत्कालीन सामाजिक स्थिति, परम्पराएं स्पष्ट रूप से चित्रित हैं ।

सूर लोक जीवन तथा ग्रामीण संवेदना के कवि हैं । मथुरा और द्वारिका के नगरजीवन का अत्यन्त सजीव चित्र ही उनके काव्य में भरा पड़ा है । नन्द के परिवार के माध्यम से सूर ग्रामीण सामाजिक संरचना का वैविध्यपूर्ण चित्र उकेरते हैं । समाज का प्रत्येक वर्ग अपनी तत्कालीन सामाजिक हैसियत के अनुरूप सूर के काव्य में उपस्थित है । ब्राह्मण, पुरोहित, व्यवसायी वैश्य, बढ़ई, रंगरेज, दर्जी, गंधी, माली, कुम्हार, हरिजन सभी अपनी-अपनी भूमिका में हैं। वे गोचारण गोवर्द्धन, पूजन, सामाजिक अनुष्ठान तथा आपत्ति-विपत्त सभी में एक हैं । मध्यवर्गीय आर्थिक हैसियत वाले नारी स्वतंत्रता के विश्वासी जीवन को उन्मुक्त भाव से जीने वाले देवी-देवताओं में आस्था रखने वाले वे सामान्य जन हैं ।

सूर ने ब्रज में प्रचलित भोज्य पदार्थों का भी वर्णन किया है । यह मुख्यतः ज्योनार पर्व, जन्मोत्सव आदि अवसरों में वर्णित हुआ है । सूर ने स्थानीय भोजन का वर्णन बार-बार किया है जैसे खुरमा, लोंग से बने खीर, लड्डू, गूझा, सफरी, चिउरा, तरबूज की मींग, सुतुई, लपसी खाजा, पतनरा, निमोला, बनकोरा, महेरी तला मक्खन पुरन डमडोरी आदि ।

सूर के पदों में उस समय के स्त्री पुरुषों द्वारा धारण किए जाने वाली वेषभूषा का कृष्ण तथा गोप-गोपियों के माध्यम से चित्रण हुआ है । बाल कृष्ण के माध्यम से उन्होंने उस समय के बच्चों के वस्त्राभूषण तथा कुलटी और टोपी, पीन झगुलिया, पिछौटी, निचौल तथा बागेचीर का वर्णन किया है वही कृष्ण जब किशोर हो जाते हैं तो पगड़ी पीताम्बर, धोती, उपरैना, गोसमावल आदि धारण करने लगते हैं । सूर की नारियां साड़ी, कन्चुकी, फरिया, लंहगा, चुनरी, नियाड़ (तीन पाट का) लंहगा पहनती हैं जो आज भी ब्रज वनिताओं का पहनावा है ।

नेत्रहीन कवि सूर ने श्रवणेंद्रिय, से कंकण-किंकणी स्वर के माध्यम से आभूषणों को देखा और उसके सौंदर्य को सराहा । जिन आभूषणों की चर्चा सूर ने अपने विशाल काव्य साहित्य में की है वे ब्रज के स्त्री-पुरुष समाज में आज तक प्रचलित है उन्होंने जिन पुरुष आभूषणों की चर्चा की वे हैं:-- कुंडल, गुलहार, नूपुर, किंकनी, बाहूभूषण नथुनी, पुष्पमाल, पहुंची, कंठुला, लटकर, पैंजनियां चूरा मुकुट, गुजमाल, तथा मोरमुकट । स्त्रियों के आभूषण हैं :--कंचनहार, कंकन, चुरीकिंकनी, नूपुर पैंजनी, बिछिया ताटंक, बेसरि, सिरि, दूसरी , तिलरी, (दोहरी -तिहरी माला) मोतिहार, जड़ाउ, अंगिया, बलिया (बाजूबंद) श्रीमाल, तौकी पहुंची मुद्रिका मुक्तामाला, मणि, सीसफूल, टीका, नथ, झुपरा, तार खढ़िला (कर्णफूल) तखिनी (तरकी) हमेल, चौकी, खुंभी (नाक की लोंग) ठंडिया आरसी, (अंगूठे का आभूषण तथा चंपाकली) ।

सूरसागर में तो सूर ने रूप सज्जा की कई विधियों का वर्णन किया है । शरीर पर बन धातुओं के चित्र, गोरोचन, रोली, चंदन के तिलक, बिन्दी काजल, केसर चंदन की खेरि, गंध मृगामद, सिन्दूर, मांग भरना, जावका वेणीबंधन ऐसी ही रूप सज्जा की सामग्रियां हैं । सूर सुगंधमय, साड़ी कानों में इत्र लगाने एवं फूलों से बाल गूंथने का उल्लेख करना

भी नहीं भूले हैं । यह उस युग के ब्रजवासियों की सौन्दर्य प्रियता का बोध देता है ।

सूर का काव्य संसार ब्रज की वनवीथियों तक फैला है । वहां का सामान्य जन सामान्य ढंग से सामूहिक स्तर पर अपना मनोरंजन करता है । यह मनोरंजन रीति-रिवाजों, पर्वों उत्सवों के, अवसरों पर खुल कर प्रकट होता है । इसके मनोरंजन के प्रमुख साधन हैं--चौपड़, दौड़, आंख मिचौली, चौगन मोरा, चकडोरी गेंद नड़ी, माखनलीला रासलीला आदि । वंशीवादन, वेणुवादन तथा नृत्य से भी ये अपना मनोरंजन करते हैं । होली, दीवाली, दशहरा, रक्षाबंधन के अवसर भी इनकी खुशी को बढ़ाते हैं ।

सूर के कृष्ण को अपना ब्रज नहीं बिसरता । "ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहि" ब्रज कृष्ण का क्रीड़ा--स्थली है । वहां उनका शैशव बीता है । वहां की वन-वीथियों में संगी साथियों के साथ गायें चरायी हैं । रास रचाया है । प्रकृति को हर रंग में जिया है उसी ब्रज की प्रकृति सूर के काव्य के माध्यम से प्रतिष्ठित हुई है । पशु-पक्षी वनस्पति, यमुना, गोवर्द्धन, पनघट, कुंज-समूह, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, षड ऋतुओं का शांत और भयंकर दोनों रूपों का सूर काव्य में काव्यात्मक विन्यास हुआ है । सूर के प्रकृति चित्र में मर्मस्पर्शिता और भावममता तो है ही साथ ही उसमें ग्रामीण जीवन, प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य में उजागर हो उठा है ।

सूर जैसे लोक कवि की कविताओं में लोक जीवन का रेशा-रेशा उभर आया है । लोक-जीवन का इतना यथार्थपरक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है । "सूर सागर" में लोक-जीवन का अक्षय कोष है जिसमें ब्रज संस्कृति अपनी सम्पूर्ण गरिमासे उभरी पड़ी है ।



धर्म और उसका स्वरूप

डॉ० शशि रानी अग्रवाल

"धृञ धारणे" धातु से "अर्तिस्तुसुहुसृधृ भिक्षुभायावापदियाक्षिनीम्योमन", इस उणादि सूत्र द्वारा "मन" प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। अतः इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है--धारण करना। अर्थात जो तत्व सारे संसार के जीवन को धारण करता हो, जिसके बिना लोक स्थिति संभव न हो, जिससे सब कुछ संयमित, सुव्यवस्थित एवं सुसंचालित रहे, उसे धर्म कह सकते हैं। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण की योग्यता रखता है, वही निश्चय धर्म है। धर्म के इस विधायक रूप का प्रतिपादन महाभारत में व्यास जी ने भी किया है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में धर्म शब्द की व्याख्या करते हुए इस प्रकार लिखा है "जिससे इस संसार में विकास हो तथा मोक्ष की प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर "धर्म" "धार्मिक विधियों" या "धार्मिक क्रिया-संस्कारों" के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में कहीं-कहीं यह अर्थ नहीं भी प्रकट होता, जहां "धर्म" का अर्थ निश्चित नियम या "आचरण नियम" है। ऐतरेय-ब्राह्मण में "धर्म" शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद-पुराणों में धर्म को सर्वलोक-सुखावह कहा गया है। उन्हें ब्रह्मा का साक्षात मानस-पुत्र माना है। मत्स्य पुराण के अनुसार धर्म की उत्पत्ति ब्रह्मा जी के दाहिने स्तन से हुई थी। छान्दोग्योपनिष्द में धर्म का एक महत्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखाएं मानी गई हैं--(1) यज्ञ, अध्ययन एवं दान, अर्थात गृहस्थधर्म, (2) तपस्या अर्थात तापस धर्म तथा (3) ब्रह्मचारित्व अर्थात आचार्य के गृह में अंत तक रहना। यहां धर्म शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्त्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है। यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्त्तव्यों, बंधनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार-विधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक है। तैतिरीयोपनिषद के "सत्यं वद", "धर्म चर" आदि (1.11) में भगवद्गीता के "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" (3/35) में भी धर्म शब्द का यही अर्थ है। यही अर्थ याज्ञवल्क्य स्मृति में भी पाया जाता है मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि के अनुसार स्मृत्तिकारों ने धर्म के पांच स्वरूप माने हैं--(1) वर्णधर्म, (2) आश्रम धर्म (3) वर्णाश्रम धर्म, (4) नैमित्तिक धर्म, (यथा प्रायश्चित) तथा (5) गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण सबधी कर्त्तव्य)। स्मृत्तियों में धर्म का एक और विभाजन मिलता है। प्रथम सर्वसाधारण के द्वारा व्यवहार में लाए जाने वाले नियमों की ओर संकेत करता है। द्वितीय, विशेष धर्म है जिसे वर्णाश्रम कहा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, दान, संयम, धैर्य आदि सर्वसाधारण के लिए तथा सभी वर्णों के लिए धर्म है। विशेष धर्म में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासियों तथा चारों वर्णों के अपने-अपने पृथक नियम विधान हैं। स्मृत्तिकार के अनुसार सामान्य और विशेष दोनों धर्मों का लक्ष्य एक ही है और वह है मोक्ष की प्राप्ति, जो विभिन्न युगों में विभिन्न साधनों से होती है। सतयुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान ही परम धर्म है-मोक्ष का साधन है। सभी धर्म नैरात्म्य स्वभाव हैं और उनका अस्तित्व चित्त में ही है। धर्म का संबंध उन क्रिया संस्कारों से है जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित हैं। अथर्ववेद में धर्म को राष्ट्र का बल माना गया है और उसे ईश्वर रूप में देखा गया है। ईशोपनिषद में सत्य को धर्म के रूप में देखा गया है। यह पवित्र क्रियाएं सत्य आदि सब आचार के अंग हैं। अतः वशिष्ट एवं स्मृत्तिकार ने आचार को ही परमधर्म घोषित किया। महाभारतकार ने अहिंसा को परमधर्म कहा है। बौद्ध धर्म साहित्य में धर्म शब्द अनेकार्थों में प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी इसे भगवान बुद्ध की संपूर्ण शिक्षा का द्योतक माना गया है। इसे अस्तित्व का एक तत्व अर्थात जड़ तत्व, मन एवं शक्तियों का एक तत्व भी माना गया है।

आचार्य श्री तुलसी के शब्दों में "धर्म" केवल बौद्धिक उपलब्धि ही नहीं है, वह मनुष्य की स्वाभाविक एषणा है। धर्म का अर्थ है द्रव्य का स्वभाव। जो आत्मा का स्वभाव है, वह धर्म है। शुभांशुभ कर्म-वासना-वासित्त परमाणु ही धर्म है--यह विवसनों (जैनियों) का मत है। उनके अनुसार प्राणिमात्र में मैत्री भाव, जो गुणों में अधिक है उनके प्रति प्रेमोदभाव, दुखी और कलेशित जीवों के प्रति करुणा तथा प्रतिकूल विचार वालों के प्रति माध्यस्थ भावना ही धर्म है। इसी से उत्तम धर्म परायण मुमुक्षु पुरुष को पर पीड़न रूप हिंसा न करने का आदेश ही दिया गया है। स्तंभ लेख दो में अशोक धर्म की व्याख्या इस प्रकार करता है, "धर्म अच्छा है, परन्तु धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहें, बहुत से अच्छे काम करें। दया दान, सत्य शौर्य का पालन

करें ।" शिलालेख 11 में अशोक ने धर्म की और भी सरल व्याख्या की है । वह कहता है, "धर्म यह है कि दास और सेवकों के साथ उचित व्यवहार किया जाए, माता-पिता की सेवा की जाए, ब्राह्मणों को दान दिया जाए और प्राणियों की हिंसा न की जाए ।" महात्मा ने 1918 में लिखा था "मैं धर्म का अर्थ समझता हूं--अपनी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करना ।" संत विनोबा के अनुसार "मनुष्य जीवन का सार धर्म है । धर्म का अर्थ है "धारणा" । मनुष्य ने अपना शरीर जिस काम के लिए धारण किया, उसका नाम है "धर्म" । व्यक्ति तथा समाज के श्रेयस्कर कर्म ही धर्म हैं । गौतम धर्म सूत्र के अनुसार वेद धर्म का मूल हैं। वेदों के ज्ञाता धर्मज्ञों का मत ही धर्म प्रमाण माना गया है। वशिष्ठधर्मसूत्र का भी ऐसा ही कथन है । श्रुति द्वारा जो कर्मविधि रूप से विहित होते हैं, वे धर्म हैं-ऐसा कहा जाता है । श्रुति द्वारा जो कर्म निषिद्ध होते हैं, वे अधर्म कहलाते हैं । इस विषय में व्यास जी का गंभीरार्थ प्रतिपादक कथन भागवत में मिलता है :--

वेद प्राणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम ।। (6/1/40)

भगवत् प्रणीत होने से धर्म का ज्ञाता और बोद्धा एक भगवान ही है, ऋषि, देव और सिद्ध नहीं, मनुष्य विद्याधर, चारणादि की तो बात ही क्या है ? इसलिए महाभारतकार ने धर्म तत्व की पहचान को सांप के पद चिह्न ढूंढने के समान दुष्कर कहा है । वाल्मीकी रामायण में भी ऐसा ही भाव व्यक्त हुआ है । तथापि मनीषियों ने विचार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोटियों की परंपरा को पार करते हुए आत्म- दर्शन अर्थात् भगवतदर्शन को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते हुए बतलाया है--

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् । धर्म मानव की खोज है, उपज नहीं । खोज सदैव अविनाशी तत्व की होती है । इस दृष्टि से धर्म अविनाशी तत्व है । भौतिकवाद की दृष्टि से धर्म प्राकृतिक विधान, अध्यात्मवाद की दृष्टि से निज विवेक का प्रकाश तथा श्रद्धापथ की दृष्टि से प्रभु का मंगलमय विधान है । धर्म के मूल में श्रद्धा निहित रहती है । श्रद्धा के अभाव में ज्ञान एवं आचरण दोनों ही मृतक-प्राय हो जाते हैं । गीता में इसलिए कहा है :--

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।

जो भी कार्य मनुष्य के कल्याणार्थ श्रद्धासहित किया जाता है, उसी का नाम धर्म है । जो कुछ श्रेयस्कर अर्थात् मंगलजनक है, उसका नाम धर्म है ।

'य एव श्रेयस्करः स एव धर्म शब्देनोच्यते' । कोई एक आचार पद्धति साधन-सम्प्रदाय सब देशों, सब लोगों और सब समय के लिए अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि का कारण हो सके, यह संभव नहीं है । इसलिए धर्म नाना रूपात्मक है । धर्म सार्वभौमिक है । सबके लिए है अतः उसका समयानुकुल भिन्न-भिन्न रूप भी होगा । इसलिए "धर्म" शब्द का अर्थ, जैसा कि पूर्व विवेचन किया जा चुका है, समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है और प्रत्येक युग के विशेष--विशेष धर्म माने गए हैं । लेकिन स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में "संसार में जितने धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी या प्रतिरोधी नहीं हैं । वे केवल एक ही चिरंतन शाश्वत धर्म के भिन्न-भिन्न भावमात्र हैं । "व्यवहार में धर्म के अनेक साधन और दृष्टि भेद होने पर भी अनैतिकता, प्रतिकूलता और विरोध का प्रश्न नहीं उठता । धर्म तो सार्वभौमिक वस्तु है । वह तो भूमि है, जिस पर नाना पथ हैं-ये पथ ही सम्प्रदाय कहलाते हैं । सब पथ भूमि पर हैं । अतः धर्म का मूल रूप सब सम्प्रदायों में स्वीकृत है, लेकिन पथों की अपनी विशेषताएं हैं । उनका इतिहास है । वे बनते, बदलते और मिटते रहते हैं । लेकिन भूमि-धर्म तो भूमि है। उसके बदलने या नष्ट होने का अर्थ है प्रलय । धारण करने वाले तत्व का नाम धर्म है । वह नहीं रहेगा तो मनुष्यता मर जाएगी वह तो नित्य है, सत्य है इसलिए "धर्म" सनातन है । "धर्म" किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है । प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण-संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थित करता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुंचाने के योग्य बनाता है । श्री कन्हैया लाल माणिकलाल मुंशी के अनुसार "धर्म" भारतीय संस्कृति का एक संकेत शब्द है । मानव जीवन और कार्य में भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच वह सेतु का काम करता है । धर्म मनुष्य को पूर्ण बनाता है, जीवन समस्त अंगों का समन्वय करना सिखाता है, व्यक्ति को उन्नत बनाता है और सब के ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है । पाश्चात्य विचारकों के समान भारतीय मनिषियों की भी यही धारणा है । ई० बी० टायलर कहते हैं :--जहां जिस दृष्टि से धर्म का अवलोकन किया गया, उसी के अनुसार उसकी व्युत्पत्ति करके लक्षण बनाया गया । अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार विभिन्न विचारकों ने धर्म की अनेकों व्याख्याएं की हैं । वस्तुतः धर्म का स्वरूप इतना विशाल है कि उसको किसी एक व्याख्या में बद्ध नहीं किया जा सकता ।



राष्ट्रीय-एकता

मालती प्रकाश एम० ए०

हम सब इस महान राष्ट्र की संतान हैं और राष्ट्रीयता की भावना जन-जन में जागृत करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। हमें अपने राष्ट्र पर अभिमान है। हमारे कानों में आज भी उस अमर कवि की अमर वाणी गूंजती है--

जिसको न निज गौरव, निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नरपशु निरा है और मृतक समान है।

बुनियादी तौर पर हमारी राष्ट्रीय-एकता पर कोई सन्देह नहीं है क्योंकि राष्ट्र के एक कोने से दूसरे कोने तक हम देख रहे हैं कि हमारे सोचने का ढंग, पूजा का ढंग, ईश्वर शक्ति में विश्वास एक समान है। श्री राम का जन्म अयोध्या में हुआ, पर वे समान रूप से पूरे भारत में पूज्य हैं, उनकी मर्यादा का लोहा पूरा राष्ट्र मानता है, इसका जीवित उदाहरण आज का "धारावाहिक रामायण" है जिसे राष्ट्र की किसी भी भाषा या जाति के लोग समान श्रद्धा-भक्ति से अपने सब कार्य छोड़कर देखते हैं। उसी प्रकार विवेकानंद के विवेक का डंका पूरे भारत में बजा हुआ है। शंकराचार्य पूरे राष्ट्र में पूज्य हैं। हमारे तीर्थ स्थान चाहे वे देश के किसी भी कोने में क्यों न हों सभी देशवासियों के लिए श्रद्धा के पात्र हैं। उनके दर्शन हेतु लोग देश के एक कोने से दूसरे कोने में उसी श्रद्धा से जाते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र का प्रत्येक जन सूर्य, चन्द्र, गंगा नदी, आदि के प्रति वही पुनीत भावना रखता है। जन्म-मरण में एक समान उन्हीं मंत्रों का उच्चारण करते हैं एवं दुख तथा सुख की अनुभूति भी एक जैसी ही होती है। बड़ों के प्रति वही पूज्य भाव तथा छोटों के लिए वही वात्सल्य सब में छिपा पड़ा है। यदि राष्ट्र में एकता नहीं होती तो अंग्रेजों की शक्ति से लड़ना केवल एक प्रांत या एक भाषा के बस का रोग नहीं था, इतना अवश्य हुआ है कि स्वतंत्रता से पहले लोगों में जो त्याग-बलिदान की भावना थी वह लुप्त प्रायः होती जा रही है और सत्ता, कुर्सी का मोह इतना बढ़ता जा रहा है कि लोग अपना कर्त्तव्य तक भूलते जा रहे हैं।

आज भाषा और प्रान्तीय भेद-भाव को लेकर कुछ आक्रोश-सा दिखाई पड़ता है, पर यह स्थायी नहीं है, एक चमन में अनेक रंग एवं सुगंध के फूल-पेड़ पौधे होते हैं तभी उपवन की शोभा होती है, लेकिन जुड़े हुए सभी उसी चमन से हैं और सबका लक्ष्य उस चमन की शोभा बढ़ाना ही होता है। इसी प्रकार किसी भी भाषा या प्रांत का नागरिक हो वह भारतीय पहले है और उसका प्रथम कर्त्तव्य देश के प्रति है। गांधीजी ने भी कहा है कि यह जरूरी नहीं है कि सब एक धर्म के अनुयायी हों, जितने मनुष्य हैं उतने धर्म हैं, यह ईश्वर तक पहुंचने के अलग-अलग रास्ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य किसी भी भाषा या प्रांत का हो देश के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा होनी चाहिए। एक कहावत है--"चार कोस पर बदले पानी आठ कोस पर बानी।" ये सारी बातें नगण्य हो जाती हैं यदि आपस में मेल-भाव और एकता की भावना हो।

अपने राष्ट्र को विकास की ऊंचाइयों तक ले जाना हम सबका प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए। केवल किसी एक क्षेत्र का ही नहीं बल्कि हमें अपने सारे देश के सर्वांगीण विकास की चाह होनी चाहिए। जो सपना हमारे स्वतंत्रता सेनानियों ने देखा था, उसे साकार बनाना आज की नयी पीढ़ी का धर्म है। सम्पूर्ण राष्ट्र के कोने-कोने में जम्मू-कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारत के लोग विभिन्न प्रांतों में, विभिन्न धर्मों का आचरण करते हुए, विभिन्न भाषाओं का व्यवहार करते हुए, विभिन्न खान-पान अपनाते हुए एक राष्ट्र-ध्वज के नीचे, एक राष्ट्रगीत की स्वर लहरियों में डूबे रहते हैं। राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्रगीत, राष्ट्रभाषा ये हमें राष्ट्रीय एकता के धागे में पिरोकर रखते हैं।

वेदों में भी राष्ट्र चिन्तन का विवरण मिलता है। आज़ादी प्राप्त कर लेने मात्र से ही कोई राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता। आज़ादी के बाद देश की एकता एवं रक्षा के लिए सतत् जागरूक रहना अनिवार्य है। आज चारों ओर स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि व्यक्तिगत गुणों के बावजूद समाज के बहुसंख्यक वर्गों में दायित्व बोध का अभाव है। कथनी और करनी का यह अन्तर बदलते हुए जीवन मूल्यों के कारण ही है। भोगवादी चिंतन और जीवन दर्शन के कारण ही स्वार्थपरता बढ़ी है, जब कि प्राचीन वैदिक काल में हमारे राष्ट्र का चरित्र अध्यात्म ज्ञान पर आधारित था। आधुनिक काल में प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र का उद्देश्य अधिकाधिक धन संचय और शक्ति प्रदर्शन मात्र ही रह गया है। निःसन्देह धनार्जन और समृद्धि की कामना करने में कोई बुराई नहीं है, किन्तु दोष तब उत्पन्न होता है जब धनार्जन की प्रवृत्ति में जीवन के उदात्त मूल्य नष्ट हो जाते हैं। तब व्यक्ति के लिए राष्ट्रहित गौण हो जाता है और स्वार्थ प्रमुख। अतः आज वर्तमान स्थिति में राष्ट्रीय-एकता के लिए जरूरत है कि "धरा को उठाएं, गगन को झुकाएं" अर्थात् गिरे और शोषित लोगों को ऊपर उठाएं और अभिमानियों का अभिमान दूर करें। जब तक थोड़ी-बहुत समता नहीं होगी एकता कैसे जागृत होगी? आज के युग में यदि राष्ट्र व्यक्तिवाद एवं समाजवाद के अतिरेक को छोड़कर

समन्वय के वैदिक मार्ग पर चले तो उसकी प्रगति का चक्र तेज़ी से घूमेगा तथा परस्पर सम्बन्ध सुधार से शान्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। पर आज वास्तविकता तो यह है--

अभी हमारे ओठों पर मुस्कान नहीं है
अभी हमें अपने पथ की पहचान नहीं है
अभी जागरण की बेला में बहुत सो रहे
अभी चरण गति में नूतन अभियान नहीं है

तो आइए हम सब मिलकर राष्ट्र के निर्माण का ऐसा संकल्प लें जो दुनियां के दूसरे देशों को सही मायने में भाईचारे का संदेश दे। सद्गुणों को जीवन में उतारते हुए अपने आचरण में स्नेहपूर्वक रहना सीखें। जब तक हम एक दूसरे को नहीं समझेंगे, घृणा बढ़ती ही जायेगी। प्रसिद्ध लेखिका मन्नू भंडारी ने एक जगह कहा है--"यदि आप किसी को समझना चाहते हैं तो वह केवल प्रेम और सहानुभूति से ही संभव है"। धर्म और संप्रदाय के चक्रव्यूह में फंसकर हम किस तरह अपने आपको तथा अपने राष्ट्र को नष्ट कर रहे हैं? अकबर इलाहबादी के शब्दों में "मज़हब (धर्म) नहीं सिखाता आपस में बैर करना।" धर्म वह है जो आपस में प्रेम से रहना एवं जीवन को स्वर्ग बनाना सिखाता है। यह धरती है स्वर्ग, धर्म है कर्म, जाति है मानवता और अपनी उन्नति, देश की उन्नति संभव है केवल राष्ट्रीय एकता से। हम सबके अंदर महान शक्ति छिपी है, हमें अपनी शक्ति को पहचानना होगा अपने व्यक्तित्व को निखारना होगा अपने अंदर एक ऐसी संस्कृति जागृत करनी होगी जो अपने इस राष्ट्र से आतंकवाद को, जातिवाद को, प्रांतीयता के ज़हरीले नाग को, स्वभाषा के प्रति अपमान को जड़ से उखाड़ फेंकें। मुझे यह आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हम सब मिलकर राष्ट्रीय एकता के इस महायज्ञ में अपना-अपना योगदान देकर इस देश को महान बनाने में समर्थ होंगे।

"आशा से आकाश थमा है, हमारी आशा तुम हो।" अरूण यह मधुमय देश हमारा। ऐसे मधुमय देश की मधुरिमा को "राष्ट्रीय एकता" ही सुरक्षित रख सकती है।

सबकी यही हार्दिक कामना होनी चाहिए कि राष्ट्रीय एकता रूपी गुलाब को अपने देश की शिक्षा रूपी विभिन्न क्यारियों की शोभा को अपने अपने विद्यालयों और श्रमदान के माध्यम से बढ़ायें एवं उन्हें अपनी क्षमतानुसार महकाएं, अपने देश के नागरिकों को अपने देश की महानता से परिचित कराएं। ईश्वर से यही प्रार्थना है--

"तिमिर बाहर और भीतर का हरे,
हर अंधेरा आज जीवन का छंटे।
हर अधर पर मुस्कुराहट, गीत हों,
हर हृदय में नाचता संगीत हो।



जन-जीवन का अनूठा चित्रकार: जामिनी राय

डा० प्रेमचन्द्र गोस्वामी

कला के क्षेत्र में जामिनी राय का नाम सिर्फ इसलिए विख्यात नहीं कि उन्होंने कला साधना का कठिन मार्ग अपनाया और वर्षों तक कार्यरत रहकर अनेक उल्लेखनीय चित्रों का सृजन किया बल्कि, इसलिए भी विख्यात है कि उन्होंने पश्चिमी शैली के अनुकरण मार्ग पर बढ़ रही तत्कालीन भारतीय कला को एक नया मोड़ दिया। वे पहले भारतीय चित्रकार थे जिन्होंने माटी की गंध को महसूस किया और अपने देश के विशुद्ध लोक कला रूपों को अपने चित्रों का विषय बनाया। जीवन के हर क्षेत्र में यूरोपीय प्रतिमानों को आदर्श समझने वाले तत्कालीन समाज में उनकी सर्वथा देशी कला को क्योंकर और कैसे प्रतिष्ठा मिल सकेगी उन्होंने इस बात की किंचित भी परवाह नहीं की और वे कला साधना को अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर एक निहायत आडम्बरहीन भारतीय लोक कला शैली के आविष्कार और उत्थान में लग गए।

पैंतीस वर्ष की उम्र पार करने पर जब उन्होंने कला की साधना आरंभ की तब भारत स्वतंत्र नहीं था और कला के क्षेत्र में मात्र पश्चिमी शैली की नकल चल रही थी। जामिनी राय ने अनुकरण की प्रचलित धारणा को तोड़कर बंगाल की लोक कला को अपने निजी अनुभवों का जामा पहनाया और एक विशिष्ट लोकोन्मुख कला शैली का विकास करना आरंभ कर दिया। कालान्तर में उसे भारत में ही नहीं, विश्व भर में स्थापित कर दिया।

10 अप्रैल, सन् 1887 को पश्चिम बंगाल, बांकुरा क्षेत्र के बेलियातोर ग्राम में जन्में जामिनी राय के पिता रामरतन-राय एक धनी मानी जमींदार थे। पढ़ने लायक होने पर जामिनी राय का कला के प्रति रूझान देखा तो उसे हतोत्साहित न करके उसका उत्साह बढ़ाया और उसे कलकत्ता के स्कूल आफ आर्ट्स में दाखिला दिलाकर अपने आदर्शवादी कला प्रेम का परिचय दिया।

कला विद्यालय में उन्हें शिक्षा दी जाती थी उसका आधार पश्चिमी पद्धति था। अतः जामिनी बाबू का मन उसमें अधिक दिनों तक नहीं रम सका। अंकन और कला कल्पना की अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण स्कूल में प्राप्त सुविधाओं के बावजूद उसके मन में वहां की शिक्षा के प्रति निरर्थकता का भाव जागने लगा और ऊबकर वे कला विद्यालय का डिप्लोमा प्राप्त करने से पूर्व ही उसे छोड़ आए। कला के क्षेत्र में वे वहीं काम करना चाहते थे जिसमें उन्हें सृजनात्मक सुख की प्राप्ति होती, अभिव्यक्ति का विस्तृत आकाश मिलता और माध्यम के प्रयोग की स्वतंत्रता मिलती। अतः वे निजी कला शैली और निजी पहचान के प्रयास में वहां से निकल आए।

कला की विधिवत पश्चिमी शिक्षा से मुक्त होने के बाद जामिनी बाबू में खास तरह का आत्म विश्वास जागने लगा और वे एक अकृत्रिम, सहज, सुंदर तथा आम आदमी के करीब पहुंच सकने वाली कला शैली की साधना में डूब गए। उन्होंने महसूस किया कि कला कोई सात समुद्र पार की वस्तु नहीं, बल्कि उसकी खोज इसी देश, इसी प्रांत की सोंधी गंध वाली मिट्टी में की जानी चाहिए। इस देश की माटी के कण-कण में श्रेष्ठ कला के तत्व मौजूद हैं जिन्हें विशेष प्रकार से उजागर किया जा सकता है। उन दिनों एक ओर उनके मन में विक्टोरिया युग की पश्चिमी शैली के प्रति नफरत का भाव जाग रहा था तो दूसरी ओर वे बंगाल के संवेदनशील आदिवासी जनजीवन तथा देहाती गुड़ियों, खिलौनों तथा रासलीला के पात्रों की भंगिमाओं और वेशभूषा की ओर आकर्षित हो रहे थे। वे उनमें विशेष रूचि लेने लगे। जब उन्होंने बंगाल के लोक कलाकारों, कुंभकारों, पौराणिक प्रसगों का गुणगान करने वालों तथा संथालों के संवेदनशील जीवन को करीब से देखा तो उनका लोक कलाकार जागृत हो उठा। मुक्त रेखाओं और भड़कीले रंगों में उनकी कूची लोक जीवन को मुखर बनाने लगी। रंगाई-छपाई करने वालों के लोक रंग अब जामिनी बाबू की कल्पना का स्पर्श पाकर एक विशिष्ट शैली में फलक पर नए-नए रूपाकार ग्रहण करने लगे। उनकी अपनी अंकन शैली चित्रों में नई आभा भरने लगी।

जिले में संथालों की बस्तियों का जीवन देखा तो उनकी मनःस्थितियों और गतिविधियों का अंकन किए बिना जामिनी-बाबू नहीं रह सके। राष्ट्रीय आधुनिक कला दीर्घा में इस सीरीज के कुछ चित्र उपलब्ध हैं जो आपकी आरंभिक शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। अलंकारिता से मुक्त संथाल स्त्री-पुरुषों के प्रारंभिक चित्रों में विभिन्न आकृतियां मुखर हुई हैं। एक स्त्री, दो स्त्रियों, स्त्री-पुरुष या नृत्य और सामूहिक वार्ता



प्रियदर्शिनी को समर्पित

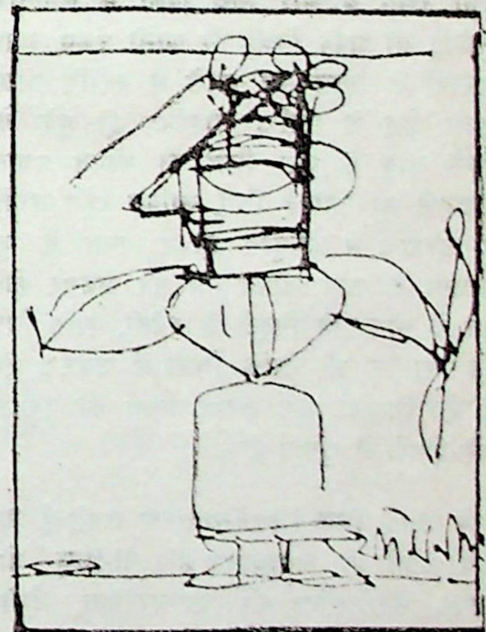
या गोष्ठी के आकृतिमूलक चित्रों में प्रयुक्त मोटी गोलाकार रेखाएं, चटख रंग तथा सौंदर्य वृद्धि करने वाला संयोजन अत्यंत आकर्षित बन पड़ा है।

जामिनी बाबू ने चाहे पुरुषाकृतियां बनायी हों चाहे घोड़े, गायें या बिल्लियां आदि जानवर बनाए हों। रेखाओं और रंगों का उनका सहज संयोजन सदा आंखों को भाने वाला रहा है।

लोक रूपों और लोक शैली के प्रति जामिनी राय के लगाव के कारण उनके चित्रों में लाल, पीले, नीले, काले और भूरे रंग भड़कीले और चटख रूप में उपस्थित हुए हैं। उन्होंने महंगी रंग सामग्री को कभी तरजीह नहीं दी। सदा देशी और आदिवासी जीवन के गहरे रंगों को अपनाया। चित्र रचना के लिए सस्ती और घरेलू रंग सामग्री का प्रयोग किया। खड़िया मिट्टी, सिन्दूर, इमली, नील, हींगलू, गोंद और काजल जैसी सामग्री से निर्मित रंग ही उन्हें प्रिय थे। चित्र के धरातल हेतु वे कपड़ा, प्लाईबोर्ड आदि का उपयोग करते थे।

लोक जीवन के व्यापक अध्ययन के दौरान ही वे काली घाट के पटुआ कलाकारों के सम्पर्क में आए। उनकी कला से वे बेहद प्रभावित हुए। वे लोग तीर्थ यात्रियों को कागज पर जलरंगों द्वारा चित्र बनाकर सस्ते दामों में बेचा करते थे। देवी-देवता, पशु-पक्षी जलचर तथा बंगाली जीवन इन चित्रों के प्रमुख विषय थे। कुण्डली शैली की गोलाकार रेखाओं से तैयार इन चित्रों को जामिनी राय ने देखा तो सोचा इस अपूर्ण शैली को वे पूर्णता की ओर ले जा सकते हैं। उन्होंने इस कला को आधार बनाकर अपनी नई शैली विकसित की जिसमें पौराणिक कथा प्रसंगों, तथा जीवन से जुड़े दूसरे विषयों को भी शामिल कर लिया।

जामिनी राय के चित्रों को हम आदर्श, चिरंतन लोक जीवन की अनुभूति से सराबोर चित्रों की संज्ञा दे सकते हैं। उनके चित्र न तो लघु चित्र शैली और पश्चिमी शैली की नकल हैं और न बंगाल के पट चित्रों तथा नवकला चित्रों की अनुकृत्तियां हैं। वे तो भौतिक लोक चेतना से उद्भूत ऐसी चित्ताकर्षक कृतियां हैं जो हमारे समक्ष बच्चों की सी सहज कल्पना से युक्त रूपाकारों और रंगों के झिलमिलाते परिदृश्य उपस्थित करती हैं। एक बार अपनी कला के विषय में स्वयं उन्होंने कहा था--मेरी कला वैसी ही है जैसे कोई बच्चा हो, जिसे हर कोई अपनी गोद में उठा लेता है। बच्चे मेरे गुरू हैं। आदमी जब मार्ग भूल जाता है, उसके चारों ओर अंधियारा होता है तब उसे बालक से मदद मिलती है। सबके भीतर जो असल आत्मा है वह बालक ही है। उसके साथ सबका मेल और सामीप्यभाव स्वाभाविक है।



जामिनी राय का एक रेखाचित्र

जामिनी बाबू का संपूर्ण चित्रकर्म उनका समूचा चित्र संसार लोक जीवन को प्राणवान बनाने वाला रहा है। लोक प्रथाओं व विषयों को अपनी कला में स्थान देने के पीछे उनका एक ही उद्देश्य था कि भारत के लोगों को उन अंचलों से परिचित कराया जाए जहां भारत की आत्मा निवास करती है। एक उपयोगी व्यवसाय में अपनी नौकरी को छोड़कर कला की साधना का, अभावों का जीवन अपनाने के पीछे भी उनकी यही मंशा थी। उन्होंने अपनी कला के व्यावसा-



यिक उपयोग की बात कभी नहीं सोची। कहते हैं जीवन काल में उन्होंने अपना कोई भी चित्र 350/- रुपयों से अधिक मूल्य में नहीं बेचा।

कला के माध्यम से जामिनी बाबू जन-साधारण से जुड़ने की आकांक्षा रखते थे और उसी दिशा में लगातार सक्रिय रहे। वे चाहते तो अपने चित्रों की खासी रकम कला प्रेमियों और संग्रहलायों से वसूल कर सकते थे क्योंकि तीसरे दशक तक वे कला क्षेत्र में पर्याप्त लोकप्रिय हो चुके थे। आज चाहे जामिनी बाबू के एक चित्र की कीमत पचास हजार रुपए तक आंकी जा रही है किंतु जीवित रहते उन्होंने कभी ऐसा नहीं सोचा। वे उन्मुक्त होकर कला से जुड़े तथा अनवरत साधना के साथ जीवन पथ पर अग्रसर होते रहे। लोक जीवन के साथ-साथ मिट्टी के बर्तनों, काष्ठ शिल्पों और खिलौनों के आकार भी उनके चित्रों में उभरे। रंगों और रेखाओं की एक विशिष्ट धुन यथार्थ जीवन की एक संगीतमय झंकार उनके चित्रों में सुनाई दी।

देखने में उनके चित्र जितनेसाधारण लगते हैं प्रभाव की दृष्टि से वे उतने ही असाधारण हैं। मां-शिशु ढोलवादक, संथाल स्त्रियां, भेंट, सीता की अग्निपरीक्षा, टैगोर और बापू, पुजारिन, रथयात्रा, घोड़ागाड़ी, रामभक्त हनुमान व दिल्ली और उनके कुछ बहु प्रचारित चित्रों के शीर्षक हैं जिन्हें देश भर की पत्र-पत्रिकाओं ने जामिनी राय की कला का परिचय देते हुए प्रकाशित किए हैं और कला क्षेत्र में चर्चा का विषय बने हैं।

जामिनी राय का चित्रकार मन जब कभी रंगों में नहीं रमता तो सफेद स्याह रेखांकन भी किया करते थे। उनके रेखांकन लोक रूपकला की उस अविच्छिन्न धारा को आगे बढ़ाने वाले सिद्ध हुए हैं जो उनकी साधना के सागर में हिलोरें लेती रही थीं। "तीन योद्धा" घोड़ागाड़ी आदि रेखाचित्र उनकी रेखांकन परिचायक पद्धति में बने सुप्रसिद्ध चित्रों के शीर्षक हैं।

कला साधना के मार्ग पर बढ़ते हुए जामिनी राय कभी किसी वाद से नहीं जुड़े और न किसी खास चित्रकार की शैली का अनुकरण किया। उनके चित्रों की एक निश्चित प्रणाली थी जो उनकी निजी शैली के रूप में सामने आई। उनकी समग्र कला पर टिप्पणी करते हुए कला पारखी विष्णु ने लिखा है--"चित्र में उभार दिखाने और आकारों को मूर्त करने की दृष्टि से जामिनीराय ने दर्शकों को कभी नहीं उलझाया। उन्होंने बच्चों की विशुद्ध आकार कला के दृष्टिकोण को अपनाया तथा आदिवासियों के गहरे रंग विधान के माध्यम से अभिव्यक्ति की। उनकी कला शैली को बहुत कम लोगों ने समझा और पहचाना। कला के नित नए परिभाषित मूल्यों और मान्यताओं का झमेला जब उन्हें सताने लगता तो वे गुड़ियाओं और खिलौनों की आकर्षक दुनियां में खोने का प्रयास करते। उन्होंने अपना ध्यान सदा बंगाल की ग्राम कला और मोहक लोक रंगों में केन्द्रित रखा।

भूख और गरीबी की मार से त्रस्त बंगाल के करुण दृश्यों, अनाथों, निराश्रितों और उपेक्षा का जीवन जी रहे स्त्री-पुरुषों का चित्रण करके जामिनी राय को विशेष सुख प्राप्त होता था।

शांत और अशांत दोनों मनः स्थितियों में वे चित्रों की रचना त्वरित गति से करते थे। अपनी कला के उत्कर्षकाल में उन्होंने प्रतिदिन दस चित्रों की रचना की। अपने संपूर्ण जीवन काल में उन्होंने लगभग बीस हजार चित्र बनाए।

जामिनी राय की चित्र सामर्थ्य धीरे-धीरे इतनी बढ़ गई कि देश में ही नहीं विश्वभर में उनके चित्रों की प्रशंसा की जाने लगी। महात्मा गांधी ने भी उनके बाघ बाजार स्थित

मकान में जाकर उनकी कला का निकट से अवलोकन किया था। वे उनकी कला के प्रशंसकों में से थे। गांधी जी ने उन्हें "राष्ट्रवादी कलाकार" की संज्ञा से अभिहित किया था।

भारत सरकार द्वारा वर्ष 1955 में जामिनी बाबू को पद्म विभूषण की उपाधि देकर सम्मानित किया गया। उन्हें देश विदेश से लगातार आमंत्रण प्राप्त होते रहे किन्तु अपनी कार्यस्थली बंगाल तथा अपने कला साधना कक्ष (स्टुडियों) का मोह उन्हें सदा कहीं बाहर जाने से रोकता रहा।

उनकी कला सामर्थ्य पहचानने वाले उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं चूकते थे। फ्रांसीसी कला समीक्षक ए० हेर्व मेस्यां ने उन्हें महान समकालीन चित्रकारों की श्रेणी में रखा था तथा महान चित्रकार हेनरी मातीस से उनकी तुलना की। यूरोप के दूसरे बड़े समीक्षकों ने भी उन्हें भारतीय कला का पैगम्बर कहकर सराहा था। समीक्षकों ने उनकी संपूर्ण कला सामर्थ्य की तुलना लेजां से, व्यापक दृष्टि और गहराई की ब्रैंगाफ से तथा रेखागति की तुलना पिकासो से की है।

अपनी कला के माध्यम से जामिनी राय ने जिन सहज, भारतीय कला रूपों को संस्कार दिया उनके पीछे उनकी गहरी कला दृष्टि और सोचकी छापहै । उनकी कला भारतीयता से भी आगे बढ़कर विश्वजमीन हो गई। लोक कला रूपों का यह अन्वेषी नित नई चुनौतियों से जूझता हुआ विश्व कलाकार हो गया।

24 अप्रैल, 1972 को कलकत्ता में इस उदास मानवतावादी चित्रकार का निधन हुआ। जामिनी राय हमारे बीच नहीं रहे किन्तु लोक संस्कृति को उनकी विशाल देन आज उनके चित्रों के रूप में जीवित है। जन-जीवन की विविध भंगिमाओं और रूपाकारों की जो निधि वे हमें दे गए हैं वह विश्व कला परिवार के लिए अनमोल धरोहर है। उनके जन्म शताब्दी वर्ष 1987 में हम नतशिर होकर श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।



भारतीय मनीषा के प्रतीक पुरुष : डा० इंद्रचंद्र शास्त्री

जैनेन्द्र कुमार

मेरा शास्त्री जी से परिचय 50 वर्ष से अधिक का रहा। मैंने उन्हें किशोर से युवक बनते हुए देखा है। उस समय की उनकी छवि को मैं याद कर सकता हूं। इस दुनिया में थे और तेजी से उसमें उभर भी रहे थे। पर उस समय भी दीखता था कि मन उनका उसके पार है। वो तथ्य से अधिक तत्वमय हैं। तत्व ज्ञान और तत्व अनुसंधान ही मानों उनका एक अभीष्ट था। तर्कवाद के रास्ते में प्रतीति के पार किसी अगोचर सत्य में पहुंच जाना चाहते थे। उनके लेखन और चिंतन की प्रखरता, गहरेपन और विश्लेषण की क्षमता को देखकर मैं चकित रह गया। उनकी बुद्धि कैसे काम करती थी मैं एकाएक समझ गया। तब से अनेक विधाओं में उनकी प्रतिभा का अवलोकन किया, लेकिन इन सब बातों का मुझ पर जो प्रभाव पड़ा वह यह कि इस सारे शास्त्रीय ज्ञान का उनकी मौलिकता पर कहीं भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा। उनके सृजनात्मक विवाद और शास्त्रीय ज्ञान में समानान्तरता देखने में आती है। यह बात कुछ दुर्लभ है। (मैं अकसर सोचता हूं कि समाज और संसार सामान्यतया अपेक्षा रखता है कि उसको सहकर मनुष्य प्राप्ति करे। देवियां केवल सरस्वती तो है नहीं, देवी तो लक्ष्मी भी है, शक्ति भी है, लेकिन सरस्वती के अतिरिक्त कोई भी देवी नहीं है, जिसको कि आत्म से बढ़कर कहा जा सके। ऐसा लगता है कि सम्पदा अमर है। तो प्रश्न होता है कि नैतिक समर्थन भी है कि नहीं उसके पीछे। शक्ति है तो आवश्यकता रहती है कि नहीं, कुछ सैंक्शन्स चाहिएं। ये सैंक्शन्स कहां से आते हैं? ये सैंक्शन्स, समर्थन या अनुमोदन समाज को, संसार को वित्तीय अंश में प्राप्त होता है। देवी सरस्वती के द्वारा वे अंश शक्ति, सत्ता लक्ष्मी इत्यादि उपयोगी विधायक बनते हैं, अन्यथा उनका नकारात्मक मूल्य होता है।)

स्व० डा० इंद्रचंद्र शास्त्री भारतीय मनीषा के उद्भट विद्वान और सहृदय व्याख्याता थे। उन्होंने भारतीय धर्म दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति का सुविस्तृत अध्ययन किया था और उस व्यापक क्षितिज से उनकी समन्वयात्मक जीवन-दृष्टि हमारी श्रेष्ठ परम्पराओं का मर्म उद्भासित करती रही। अध्ययन, अध्यापन, अनुसंधान एवं मंथन, चिंतन और सृजन—डा० शास्त्री का जीवन-क्रम रहा। उन्होंने विपुल मात्रा में, विविध विधाओं में अपनी बौद्धिक उपलब्धियों, प्रस्थापनाओं और प्रतीतियों को अभिव्यक्ति दी। स्व० डा० शास्त्री जैन दर्शन के निष्ठावान अध्येता और पहली पंक्ति के विशेषज्ञ थे। उन्होंने जैन और श्रमण परम्पराओं को कभी किसी सीमित, संकुचित या साम्प्रदायिक दायरे में न देखकर भारतीय दर्शन और जीवन की अजस्र सनातन निरन्तरता और अविभक्त एकात्मता के परिप्रेक्ष्य में ही परखा और प्रस्तुत किया। उनके बौद्धिक स्रोत बहुआयामी थे और उनका दृष्टिकोण उदार था।

स्व० डा० शास्त्री के प्रकाशित और अप्रकाशित लेखन में लगभग 70 पुस्तकें और 600 पत्रक या छोटी पुस्तकें सम्मिलित हैं और इस प्रकार उनकी समस्त रचनाएं अपने आप में एक सम्पूर्ण पुस्तकालय के समकक्ष हैं। मैं यह आशा करता हूं कि उनका सम्पूर्ण प्रतिनिधि लेखन एक क्रमबद्ध रचनावली के रूप में प्रकाशित किया जाएगा।

डा० शास्त्री की रचनाओं में एक समग्र दृष्टिकोण है, एक मूल्यपरक निष्ठा है और एक गहरी मानवीयता का संवेदन है। मूल्यों की आस्थावान आचरणशील संस्कृति के निर्माण में इस प्रकार का सत्साहित्य एक विशेष भूमिका निभाने में समर्थ है और इसलिए इस प्रकार का साहित्य विवेकशील और सुधी पाठकों की अभ्यर्थना एवं प्रशस्ति का पात्र है।

एक बात जो मैंने विशेषतः शास्त्री जी में पाई वह यह कि उनकी ओर से समाज और संसार को सहज अनुमोदन प्राप्त नहीं हुआ। अगर ऐसा होता तो लक्ष्मी के अनन्य समर्पित व्यक्ति, पुरुष उनको कहना कठिन हो जाता। सरस्वती से सहज अनुमोदन नहीं मिल जाता। आखिर सरस्वती और अन्य देवियों में अंतर है तो है क्या। सरस्वती देवी तो आत्म तुष्ट है। उसे जो बाहर दिखाई देता है उससे तो कुछ लेना

ही नहीं है। आत्म जीव है, आत्मतुष्ट है। लेकिन जिस संसार में हम रहते हैं वहां केवल सरस्वती ही नहीं है। मुझे मालूम होता है कि शायद शास्त्री जी की प्रतिभा की प्रखरता के कारण उनके व्यक्तित्व में कुछ त्रुटियां रह गई कि सरस्वती के अतिरिक्त किसी को उन्होंने उचित मान नहीं दिया। संसार में सभी लोग हैं, लक्ष्मी का भी स्थान है, सत्ता का तो है ही। उनकी ओर से आप सर्वथा निरपेक्ष हो जाएं, इतना ही नहीं बल्कि चित्त उपेक्षावान हो जाए तो ऐसा लगता है कि ये देवियां भी आखिर कुछ तो अपना सामर्थ्य रखती हैं। ये दिक्कत हुई।

जब हम बहुमुखी प्रतिभा के धनी और बहुत बड़ी उपलब्धियों के स्वामी एक विद्वान व्यक्ति का स्मरण करते हैं तो वास्तव में हम अपनी परम्परा के प्रति थोड़ा न्याय कर पाते हैं। गत वर्ष राष्ट्रपति ने उन्हें "सर्टिफिकेट आफ आनर" से सम्मानित किया। इस प्रकार उनके सम्मान में हम एक राष्ट्रीय स्वर ले आए हैं, लेकिन यह सच है कि पूरे समाज का जो समवेत् स्वर है उसमें राष्ट्रीय स्तर भी एक ओर है, क्योंकि अन्ततोगत्वा सम्मान समाज देता है और उससे भी आगे जाकर सम्मान और प्रमाण विद्वत्ता स्वयं अपने लिए देती है।

भवभूति के परिप्रेक्ष्य से अनाधीत व्यक्तित्व की जो बात कही जाती है वह डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री पर शतशः सही उतरती है। हमें इस बात का गर्व होना चाहिए कि हमारे बीच ऐसे अप्रतिहत् संकल्प और साधना वाले व्यक्ति रहे हैं, इसीलिए शायद हम अपनी परम्परा की, संस्कृति की, हमारी विद्वता की परम्पराएं कायम रहने की आशा कर सकते हैं। शास्त्री जी एक प्रतीक पुरुष थे और प्रतीक अपने से बहुत अधिक व्यापक होता है। प्रतीक अपनी परिधि में बांधा नहीं जाता। उस प्रतीक का, उनकी उपलब्धियों का, उनके जीवन के कई कीर्तिमानों का मैं अपनी ओर से, समाज की ओर से अभिनन्दन करता हूं अभ्यर्थना करता हूं।

भारतवर्ष में हमारे यहां पवित्र कार्यों की, पवित्र स्थानों की, पवित्र और विद्वान व्यक्तियों की पूजा का एक नियम और विधान है। उस विधान को हमारा देश मानता चला आ रहा है। भारतवर्ष में तीर्थ स्थानों की गिनती तो 75 है, लेकिन एक जो 76वां तीर्थ स्थान है उसका नाम है—जंगम तीर्थ। जंगम तीर्थ चलता फिरता हुआ तीर्थ स्थावर नहीं होता है। वह जंगम तीर्थ डा० इंद्रचंद्र शास्त्री थे। किसी प्रकार के राग द्वेष में वे कभी फंसे नहीं और किसी के साथ उनका कोई मतैक्य मतभेद नहीं हुआ और अपना कार्य वे आजीवन करते रहे।

उन्होंने अपनी 75 वर्ष की आयु में जो काम किया, उस में से उनके किशोरावस्था के 15 वर्ष निकाल भी दें (यूं तो 13 वर्ष से ही उन्होंने पद्य रचना शुरू कर दी थी, संस्कृत में श्लोक बनाते थे) तो साठ वर्ष वे अध्ययन, अध्यापन, लेखन आदि में निरंतर लगे रहे। शास्त्री जी अध्यापक तो थे ही—अतीत मध्यापि विवर्जितम्, यशः। ये तो पूर्ण हो गया। पढ़ा, पढ़ाया, यश अर्जित किया। ये काम तो पूर्ण हुआ। यह बहुत बड़ा काम था। जो उन्होंने पूर्ण किया। इसके बाद उन्होंने लेखन किया और विचारक के रूप में सामने आए। इसके बाद चिंतक के रूप में सामने आए। शास्त्री जी बहुत बड़े चिंतक, बहुत बड़े विचारक, बहुत बड़े लेखक और सबसे ऊपर बहुत बड़े अध्यापक थे। ये सब क्रम रहा उनके जीवन का। साथ ही उन्होंने अनेक विद्यार्थियों का मार्गदर्शन किया जो आज कालेजों, विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष तथा अन्य संस्थाओं में उच्च पदों पर आसीन हैं। शास्त्री जी के लिखे ग्रंथों में बहुत से ऐसे विषय हैं जिनका संबंध बोद्ध दर्शन से है, जैन धर्म से है, हिन्दू धर्म से है। पाश्चात्य जो विषय हैं उन सब पर भी उनकी पूरी पकड़ थी अर्थात् जो पूरा सर्वांगीण, ज्ञानकारी क्षेत्र था, उसका वे आह्वान करते रहे और अपने शिष्यों का पथ प्रदर्शन करते रहे, मार्ग दिखाते रहे। उनके मार्गदर्शन में कार्य करने वाले जानते हैं कि कितनी तन्मयता और निष्ठा के साथ ये कार्य उन्होंने किया।

दिल्ली विश्वविद्यालय में जब उन्होंने कार्य प्रारंभ किया तो पोस्ट ग्रेजुएट इवनिंग इंस्टीट्यूट बना था। उसमें सबसे पहले आप की नियुक्ति संस्कृत विभाग के अध्यक्ष के रूप में हुई। लेकिन दुर्भाग्य से बाहर की (नेत्र) ज्योति चली गई, अन्दर की ज्योति प्रज्जवलित हुई। कभी-कभी यह होता है कि बाहर की ज्योति न रहने पर अन्दर की जो प्रज्ञा है वह प्रज्जवलित होती है। प्रज्ञा का प्रज्जवलित होना, प्रज्ञा को धधक, प्रज्ञा की आंच बाहर की ज्योति से बहुत अधिक होती है। बाहर की दृष्टि से जो दृश्य गोचर है वह दिखाई पड़ता है और प्रज्ञा की दृष्टि से वह दिखाई देता है जो जगत में गोचर नहीं है। प्रज्ञा जब देखती है तो बहुत गहरा देखती है और इतना गहरा देखती है कि विचार के बिन्दु पर पहुंच कर ज्ञान का क्षेत्र बन जाता है। वहां से ज्ञान की आंख खुलती है। शास्त्री जी को, यह कहिए कि उनका दुर्भाग्य था कि बाहर की ज्योति चली गई। लेकिन मैं कहता हूं, उसके बाद परमात्मा की असीम कृपा थी, कि अंदर की ज्योति जागृत हुई और उस अंतर की प्रज्ञा ने वह ज्ञान दिया जो उनके ग्रंथों में लिखा है। धर्मशास्त्र पर उन्होंने ग्रंथ लिखे हैं, अपनी जो दर्शन शास्त्र की परम्परा है उन सभी पर उन्होंने ग्रंथ लिखे हैं। हमारे यहां जो उपनिषद् परम्परा है उस पर उन्होंने ग्रंथ लिखे हैं। जैन दर्शन पर ग्रंथ लिखे हैं। इन सब को पढ़कर मालूम पड़ता है कि प्रज्ञा की ज्योति सचमुच जल उठी थी और उस प्रज्ञा की ज्योति में शास्त्री जी ने इन सब ग्रंथों का प्रणयन किया। इस प्रकार के महान मनीषि देश में कम होते जा रहे हैं। मनीषा, कहा जाता है, परमात्मा की दी हुई प्रतिभा से उत्पन्न होती है। लेकिन परिश्रम साध्य भी होती है। प्रतिभा हो, परिश्रम हो और साधन न भी हो साधन उत्पन्न हो जाते हैं। शास्त्री जी बहुत

साधन सम्पन्न व्यक्ति नहीं थे। उनके पास विपुल साधन नहीं थे। उनके पास जो साधन था वह साधन था ज्ञान का। उस ज्ञान को निरंतर ये आगे-आगे बढ़ाते रहे। ज्ञान का संवर्धन करते रहे और 70 ग्रंथों की रचना की। देश के सभी मनीषि विद्वानों से चाहे वे संस्कृत साहित्य के हों, दर्शन शास्त्र के हों, या हिंदी साहित्य के हों, उन सबके साथ शास्त्री जी का बहुत गहरा संबंध रहा। बहुत से गणमान्य व्यक्तियों ने अपने जीवनकाल में उन्हें निकट से देखा परखा और उनकी प्रशंसा की। इनमें प्रमुख हैं नेहरू विश्वविद्यालय के कुलपति डा० दौलतसिंह कोठारी, महात्मा गांधी के अनन्य सहयोगी स्वर्गीय काका साहेब कालेलकर, दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० नगेन्द्र, न्यायवेत्ता डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम आयमंर, नेशनल प्रोफेसर आफ इंडोलोजी स्वर्गीय महामहोपाध्याय डा० पी०वी० काने, डा० पी०एल० वैद्य, डा० सातकड़ी मुखर्जी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति प्रो० वी० वी० नार्लीकर, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति डा० मंगलदेव शास्त्री व पंडित बदरीनाथ शुक्ल, पंडित सुखलाल जी संघवी, प्रो० दलसुख मालवणिया, गुजरात के भूतपूर्व राज्यपाल श्री श्रीमन्नारायण, स्व. बृजलाल नेहरू तथा श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि।

शास्त्री जी की विद्वता के संबंध में दो राय नहीं है और इस सम्बन्ध में भी दो राय नहीं हो सकती कि क्या छपता है, क्या प्रकाशित होता है, क्या मिलता है, क्या नहीं मिलता है इससे उन्होंने सर्वथा निरपेक्ष, तटस्थ होकर लिखा। अन्दर से चीज उबलती आई, उमड़ती आई और इतना विपुल साहित्य सृजन किया कि शायद उसका दशमांश भी अभी प्रकाशित नहीं हुआ। कोई पूछे कि छप तो रहा नहीं, लिखा किस लिए? आज की हालत यही है कि लेखन बाजार के लिए है। बाजार में छप के जाएगा, बाजार में बिकेगा, लिख हम उसके लिए रहे हैं लेकिन शास्त्री जी ने तो आत्मतोष और आत्म सिद्धान्त के लिए लिखा। कुछ है जो पाना है, कुछ है जो परम सत्य है, इसके लिए लिखते रहे। शास्त्री जी के जीवन में यही दिखाई दिया। लेखन के सम्बन्ध में इनकी उपलब्धियां गिनाने चलो तो इतनी लम्बी सूची है कि विस्मय होता है कि एक आदमी ने नाना विषयों पर इतना कैसे लिख दिया। तत्वशास्त्र जबकि उनका मेन कंसर्न रहा, सरोकार रहा, तब दूसरी दिशाओं में भी उनकी गति उसी प्रकार थी। उनकी चहुंमुखी दृष्टि थी। विधा की दृष्टि थी।

शास्त्री जी और उनके कार्य को देखकर आज आवश्यकता है सोचने की कि हम जो अपने को इंटलेक्चुएल कहते हैं, सही मार्ग पर हैं, क्या हम सरस्वती के प्रति वह अनन्य भाव रखते हैं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारा मन भटक गया है दूसरी देवियों के प्रति और हम इसलिए न अपने प्रति न्याय कर पाते हैं न सभी साथियों के प्रति। मैं मानता हूं कि संसार और समाज शास्त्री जी से संतुष्ट नहीं है तो ठीक है। कैसे संतुष्ट हो सकता है। वे बताते रहे कि वे भक्तानुगतित नहीं हैं। तो उनको सहज अनुमोदन लोगों से नहीं प्राप्त हुआ इसलिए समाज और संसार उनसे संतुष्ट हो यह आवश्यक नहीं है, लेकिन हम सब याद करें क्या ऋण है हमारा उनके प्रति जिन्होंने अपने को सत्यानुसंधान में अर्पित कर दिया और अक्षर के रूप में, क्षर नहीं होता है जिसका, उस रूप में उन्होंने वह सिद्धि दे दी।

शास्त्री जी जैसे विद्वानों का सम्मान सरस्वती का सम्मान है, साधना और तपस्या का सम्मान है शास्त्री जी का जीवन एक प्रकार की लम्बी साधना का जीवन था और उनकी सारी सफलताएं हमारे राष्ट्र के लिए कीर्ति स्तम्भ की तरह हमारे सामने विद्यमान हैं। वे एक समन्वयवादी थे। हमारा भारतीय चिंतन बहुत बिखरा हुआ है। उसकी अनेक विधाएं हैं। लेकिन उन सब विधाओं को शास्त्री जी ने अपनी लेखनी में समन्वित करने का प्रयास किया, शक्ति प्रदान करने का प्रयास किया। उनका शास्त्राचार्य बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से वेदान्त में हुआ, लेकिन दर्शन की कोई भी शाखा, चाहे वह प्राच्य दर्शन हो चाहे प्रचीत्य दर्शन हो, प्रत्येक शाखा पर उनकी लेखनी चली और अधिकारपूर्वक एक महान चिंतक और दार्शनिक के रूप में उन्होंने अपना विवेचन प्रस्तुत किया। भारतीय संस्कृति की जो उदात्ता उनके लेखन में देखने को मिलती है, वह अद्वितीय है। यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वे अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के सचिव थे। भारतीय संस्कृति सम्मेलन नाम की एक अन्य बड़ी संस्था के सचिव के रूप में उन्होंने भारतीय संस्कृति पत्र का सम्पादन, संचालन भी किया।

शास्त्री जी वस्तुतः संस्कृति की त्रिवेणी थे। उनका वैदुष्य प्रवाहमयी गंगा की तरह उदार था। वेदांत, मीमांसा और न्याय का उनमें अपूर्व मिश्रण था। उनका शास्त्र अध्ययन महामना मदनमोहन मालवीय और पंडित बालकृष्ण मिश्र जैसे उद्भत विद्वान की छत्रछाया में हुआ। शास्त्री जी ने विवेचन करते समय जैन धर्म, बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म में अन्तर नहीं किया बलकि बिना किसी दुराग्रह के उन्हें विद्वता की कसौटी पर रखा।

स्वर्गीय शास्त्री जी का अभिनन्दन अभी कुछ दिनों पूर्व 15 अक्तूबर, 1986 को उनके अपने सान्निध्य में सम्पन्न हुआ था। वही अभिनंदन समारोह उनकी विदाई का उपलक्ष्य भी सिद्ध हुआ। मुझे इस बात का संतोष है कि इस दिन मध्याह्न में मेरे मन की श्रद्धा मुझे उस समारोह में खींच कर ले गई। उस दिन भी उनका स्वास्थ्य कुछ बहुत ठीक नहीं था, किन्तु लगता था जैसे देह की विवशता से परे

सूक्ष्म चैतन्य के प्रतीक के रूप में वे हम सबके बीच विश्वविद्यालय के सभागार में बैठे थे ।

जीवनभर उन्होंने अपनी निष्ठाओं को जिया; भारतीय मनीषा के अनुसंधान, विवेचन और सौष्ठवपूर्ण विश्लेषण में अपने आप को सतत रूप से समर्पित किया । नेत्र ज्योति खोकर भी वे अथक निरन्तर चलते रहे । अब देह के विसर्जन के बाद भी उनकी दृष्टि और उनकी चेतना हमारे बीच में है और रहेगी ।

विद्वता की यात्रा पेड़ के पत्तों और शाखाओं से जड़ों और प्राणतत्वों तक की यात्रा होती है । सत्य, शिव और सुन्दरम की रत्नमयी लेकर एक विद्वान व्यक्ति मानव के मर्म और परम्परा के सनातन अर्थ तक पहुंचता है । यही स्व-शास्त्री जी के जीवन की यात्रा का मानचित्र रहा । उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से हम प्रेरणा लें, उनके प्रकाशित साहित्य का अवगाहन करें और उनकी अप्रकाशित पांडुलिपियों के लोकार्पण का सार्थक प्रयत्न करें, यही उनकी स्मृति की प्रतिष्ठा में हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी ।

डा० इंद्रचन्द्र शास्त्री हमारे बीच नहीं रहे, किन्तु उनका कृतित्व एक विरासत के रूप में बराबर बना रहेगा । उनके सांस्कृतिक-साहित्यिक कृतित्व का पुनः-पुनः अभिनन्दन करता हूं । वे सबके प्रणाम के व्यक्ति थे, प्रणम्य थे, मैं उनको श्रद्धा से स्मरण करता हूं ।



वैदिक वाङ्मय में दुर्गों की संरचना

दीनानाथ दूबे

वैदिक युग का इतिहास जानने का एक मात्र स्रोत वैदिक वाङ्मय है, जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थ, कल्प सूत्र तथा उत्तर वैदिक काल के ग्रंथों में रामायण, महाभारत, पुराण, तंत्र ग्रंथ, आगम ग्रंथ, सूत्र साहित्य, नीति शास्त्र और शिल्प शास्त्र आते हैं। वैदिक संस्कृति का क्षेत्र सरस्वती, गंगा घाटी और दूर दराज बंगाल की खाड़ी, गोदावरी और नर्मदा नदी तक फैला हुआ था। मध्य गंगा घाटी की प्राचीनतम संस्कृति पाषाण काल और मध्य पाषाण काल के संक्रमण काल की संस्कृति है। मध्य पाषाण संस्कृति के 193 स्थल गंगा घाटी के उत्तरी क्षेत्र वाराणसी जौनपुर, प्रतापगढ़ और इलाहाबाद में मिले हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय में एक सर्वेक्षण और उत्खनन में 30 ताम्रपाषाणिक स्थल प्रकाश में आये हैं। इन ताम्र संस्कृति को कार्बन तिथियों के आलोक में कालमान 1600 ई० पू० से 800 ई० पू० है। इसी तरह महेश्वर, उज्जैन, एरण (मध्यप्रदेश) दाइमाबाद, इनामगांव (महाराष्ट्र) और आंध्र प्रदेश में हुई खुदाई में ताम्राश्ययुगीन बस्तियां मिली हैं।

वैदिक काल के बारे में पुरातात्विक साक्ष्यों की कमी है किन्तु इस भौतिक अवशेषों की कमी के बावजूद साहित्यिक रचनाओं की बहुलता है। आखिरकार कल्पना को भी आधार तो चाहिए। पौराणिक मेरु पर्वत और इस पर बसा यथानाम तथा गुणवाला सुदर्शन नामक नगर था, जिसमें देवता रहते थे और यह बड़े-बड़े प्राचीरों से घिरा था। नगर के मध्य में दुर्ग था, जिसमें देवराज इन्द्र निवास करते थे। प्रोफेसर बी० बी० लाल द्वारा रामायण कालीन स्थलों अयोध्या नंदीग्राम, श्रृंगबेरपुर और भारद्वाज आश्रम (प्रयाग) परियर (उन्नाव) में उत्खनन किया गया है : प्राप्ति अवशेषों से रामायण कालीन आख्यानों की पुष्टि होती है। इतिहासकारों ने रामायण काल का समय 700 ई० पू० माना है। डा० प्रसन्न कुमार आचार्य ने अयोध्यानगर की सूत्र-रेखा को मानसार के अनुसार माना है।

वेदों में ऋगवेद सबसे प्राचीन है। एक प्रकार से यह विश्ववाङ्मय का मनमोहक मुकुट है, जिससे ऋषियों, मनीषियों के स्वर गुंजित हैं। ऋगवेद के सप्तम मंडल में दशराज्ञ युद्ध का वर्णन है जिसमें राजा सुदास की सप्तसिन्धु, प्रदेश की सार्वभौमिकता को स्वीकार न करने और प्रतिस्पर्धी अनु, दृह्यु, तुर्वसु, और यदु आदि के बीच युद्ध हुआ। इस युद्ध में दस राजाओं (भरतों) ने भाग लिया था। इसलिए इसे दसराज्ञ युद्ध कहा जाता है। राजा सुदास ने इस युद्ध में परूष्णी-वार करके उनके सब दुर्गों को नष्ट कर दिया था। ऋगवेद में अनेक बड़े दुर्गों का उल्लेख है, जिन्हे इन्द्र (पुरन्दर) ने तोड़ा। इस समय के दुर्ग चौड़े (पृथ्वी), विस्तृत (उर्वी) आयासी (लोहे) के होते थे। ऐसे दुर्गों को शतभुज या सौ परिखाओं वाला कहा जाता था। सहस्त्र स्तम्भों और सहस्त्र द्वारों का भी उल्लेख है। शम्बर के सौपुरों या 'शम्बर स्मैपुरों' का भी वर्णन आता है। ऋगवेद संहिता में किलों में रहने वाले स्थल को "पुर" नाम की संज्ञा दी गई है। चक्रवर्ती राजा के लिए दुर्ग जरूरी है

वि दुर्गा विद्विष: पुरोध्नन्ति राजान् एणाम, नयन्सि दुरिता तिर: (संदर्भ ऋगवेद मं/अं०/7/सू० 40, 41)

भावार्थ: जो अन्याय करने वाले मनुष्य धार्मिक मनुष्यों को पीड़ा देकर दुर्ग में रहते और फिर आकर दु:खी करते हों उनको नष्ट और श्रेष्ठों के पालन करने के लिए विद्वान धार्मिक राजपुरुषों को चाहिए उनके परकोट और नगरों का विनाश और शत्रुओं को छिन्न भिन्न, मार और वशीभूत करके धर्म से राज्य का पालन करें। (3)

इन्द्रविष्णू दृहिता: शम्बरस्य नव पुरो नवति च श्नथिष्टम्।
शतं वर्चिन: सहस्त्र च साक हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान।। 5।।

ऋगवेद म० 7 सू० 1001 5

भावार्थ: (इन्द्राविष्णु) हे न्याय और बज्ररूप शक्ति वाले परमात्मन् आप (दृहिंता:) दृढ़ से दृढ़ (शम्बरस्य) मेघ के समान फैले हुए शत्रु के (नवनवतिं) निन्यानवे (च) और उस (र्वाचिन:) मायावी पुरुष के (शंत) सैकड़ों (च) और (सहस्त्रं) हजारों (पुर:) दुर्गों को (श्नथिष्टं) नाश करें तथा (साकं) शीघ्र ही (अप्रत्युसुरस्य) उसके उभरने से प्रथम उसके (वीरान्) सैनिकों को (हथ) हनन करो।

एक और ऋचा से इसी प्रकार की स्तुति की गयी है।
नि दुर्ग इन्द्र श्नथिह्यमित्राँभि ये नो मत्तासो अमन्ति।

आरे तंशसं कृणुहि निनित्सोरा नो भर सम्भरणं वसूनाम।।
भावार्थ: हे (इन्द्र) दुष्ट शत्रुओं के निवारने वाले राजा (ये) जो (मर्तास:) मनुष्य (न:) हम लोगों को (दुर्गे) शत्रुओं को दु:ख से पहुंचने योग्य परकोटा में (अमन्ति) रोगों को पहुंचाते हैं उन (अमित्रान्) सब के साथ द्रोहयुक्त रहने वालों को (नि, अभि०

श्नार्थाह (निरन्तर सब ओर से मारो हम लोगों से (आरे) दूर उनको फेंको (निनित्सो :) और निन्दा की इच्छा करने वाले से हम लोगों को दूर कर (नः) हम लोगों के (तम्) उस (शंसम्) प्रशंसनीय विजय को (कृणहि) कीजिए तथा (वसूनाम) द्रव्यादि पदार्थों के (संभरणाम्) अच्छे प्रकार धारण पोषण को (आ, भर) सब ओर से स्थापित कीजिए।

अथर्ववेद/मंडल 7/सू० 25/2

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में केवल ऋगवेद में ही दुर्ग शब्द प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र कहीं नहीं, न ब्राह्मणों में, न उपनिषदों में गृहय सूत्रों में और विशेषकर न अन्य संहिताओं में। केवल विविध मंडलों 1, 4, 6, और 8 में कई जगह दुर्गा, दुर्गे, दुर्गेषु, दुर्गाधि, और दुर्गात का जिक्र आया है। मंडल पांच में कहा गया है :

अहनिन्द्रो अदहदाग्निरिन्दो पुरा दस्यून मध्यंदिनादर्मा के।
दुर्गे दुरोणो क्त्वा न यातां पुरू सहस्त्रा शर्वा नि बर्हीत।।

4.28.3

हे साम। संग्राम में मध्याह्न से पहले ही इन्द्र ने दस्युओ को मार डाला और अग्नि ने उन्हें जला दिया। प्रशंसित इन्द्र ने कठिनता से प्रवेश करने योग्य किले में छिपे रहने पर भी राक्षसों के अनेक सहस्त्रों नगरों को अपने पराक्रम व बल से नष्ट कर दिया।

सभी पणेरअति भोजन पुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु।
दुर्गे चन ध्रियते विश्व आ पुरू जनो यो अस्य तविषिमयुकुधव

5.34.7

यह इन्द्र कन्जूस बनिए के अन्न को लूटने के लिए आगे आता है तथा दाता के लिए उत्तम धन देता है जो इसके बल को क्रोधित करता है उन सारे मनुष्यों को यह किले में बन्द कर देता है।

नि दुर्ग इन्द्र श्नथिह्यमित्रा नमिये तो मर्तासो अमन्ति।
आरे तं शंसं कृणुहि निनित्सो रा नो भर संभरणं वसूनाम।।

7.25.2

हे इन्द्र। युद्ध में शत्रु के जो मानव वीर हमारे सम्मुख खड़े रह कर हमारा पराभव करना चाहते हैं उन शत्रुओं का नाश कर तथा निन्दा करने वाले शत्रुओं के उस प्रलाप को दूर कर। हमारे पास धनों को भरपूर ले आओ।

दुगे चिन्न : सुगं कृधि गृणात् इन्द्र गिर्वण :। त्वं च मधवन वश :।।

8.93.10

हे स्तुत्य और एश्वयवान् इन्द्र। प्रशंसित होता हुआ तू वश में रह, प्रसन्न हो और हमारे लिए कठिन स्थान भी सरलता से जाने योग्य बना।

मैक्डानल और कीथ ने अपने ग्रंथ वैदिक इंडेक्स में पुरका अर्थ दुर्ग से लिया है। वैदिक युग का इतिहास काफी सभ्य और वैभव से पूर्ण था।। वेदों में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त पत्तन, खोटक वसति, पुरग्राम, दुर्ग आदि उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि नगर निर्माण के अवशेष भले न हों परन्तु नगर निर्माण एवं नगर विकास के चिन्तन व निर्देशों की बहुलता है। श्री वि० वि० दत्त के शब्दों में "निश्चय ही वे लोग लोहे के दुर्ग का निर्माण कर सकते थे। स्तम्भ मुख विशाल भवनों के निवेश में दक्ष थे। सुदीर्घ पुरों का विन्यास कर सकते थे। वे निश्चय ही नागरिक कलाओं के वैज्ञानिक ज्ञान से शून्य नहीं कहे जा सकते। अर्थव वेद में वस्तुकला पर विपुल सामग्री है। ऋगवेद में वास्तुकला का प्रथम चरण मिलता है। धनुर्वेद में दुर्गों का वर्गीकरण है। धनुर्वेद में धन्वदुर्ग, जल दुर्ग, वनदुर्ग और गिरी-दुर्ग, महीदुर्ग और बाल दुर्ग छ: प्रकार हैं। धनुर्वेद के बाद कालसूत्रों में पुरों, परकोटे और फाटक का भी उल्लेख है। दुर्ग के स्वरूप को मनुस्मृति में और यथार्थ रूप दिया गया है। सातवें अध्याय में दुर्गक । वर्णन इस प्रकार है।

धन्वदुर्ग, मही दुर्ग, मब्दुर्ग वार्क्षमेव वा।
नृदुर्ग गिरि दुर्ग वा समाश्रित्य वसेत्पुरम।।

धन्व दुर्ग कहिये जिसके चारों और दस कोश (एक कोस ढाई-तीन किलोमीटर के बीच) तक मरू कहिए जलरहित देश हो। यही दुर्ग कहिये पत्थरों अथवा ईटों का बना हुआ–चौड़ाई से दुगुना ऊंचा, रोक युक्त झरोखा, पर-कोटा से घिरा हुआ, जलदुर्ग कहिए– सब ओर जल से घिरा हुआ और वाक्ष दुर्ग बाहर चारों और चार कोसों तक बड़े वृक्ष, वासों से घिरा, नृदुर्ग चारों ओर हाथी, घोड़ा, रथ युक्त पैदल सेना द्वारा रक्षित, गिरिदुर्ग–कठिनता से चढ़ने योग्य, पहाड़ पर सैकड़ों मार्ग, भीतर नदी, झरना जल आदि में से किसी एक का आश्रय लेकर राजा को रहना चाहिए। उक्त दुर्गों में श्रेष्ठ कौन है–इस बारे में मनुस्मृतिः में कहा गया है,

सर्वेणतु प्रयत्नेन गिरि दुर्ग समाश्रयेत।
एषा ही बहुगुणेमेन गिरि दुर्ग विशिष्यते।।

इन सब में गिरि दुर्ग के गुण अधिक हैं। सम्पूर्ण प्रयत्नों से गिरि दुर्ग का आश्रय लें। क्योंकि इसमें शत्रु कठिनाई से चढ़ सकता है और थोड़े प्रयत्नों से शत्रु सेना का संहार किया जा सकता है। दुर्ग धनधान्य पूर्ण होना चाहिए।

मनुस्मृति के अनुसार :

तत्स्यादाय युधं सम्पन्न धन धान्य न वाहने :
ब्राहम्णै, शिल्पिभि, यन्त्रैयसे नोद केन च
तस्य मध्ये सु पर्याप्त कारयेय गृहमानतमन :
गुप्त सर्वतु शुभ्र जल वृक्ष सभन्वितम।।

दुर्ग में खग आदि शस्त्रों, अन्न धन-धान्य, हाथी घोड़े आदि वाहनों, ब्राहम्मणों, कारीगरों और यंत्र आदि से भरा हो। दुर्ग के मध्य में सुन्दर पर्याप्त, देवालय, शस्त्र अस्त्रों का भण्डार अग्निशाला हो। जल कुंड आदि हों।

हड़प्पोत्तर संस्कृति की तरह वैदिक संस्कृति भी दो भागों में है। उत्तर वैदिक काल में रामायण और महाभारत काल है। यद्यपि कुछ पुराविद इसे कपोल कल्पना मानते हैं। किन्तु हाल के उत्खननों में मिले पुरावशेषों से प्रोफेसर बी० बी० लाल डा० हंसमुख धीं० सांकलिया और डा० कृष्णदत्त वाजपेयी मानते हैं–ये कोरे आख्यान ही नहीं हैं वरन् पुरातत्व की कसौटी पर भी रामायण का चित्र घटनाओं का क्रम सही उतरता है। प्रो० बी० बी० लाल ने अयोध्या में 14 स्थानों आशरफी भवन, जन्मभूमि कौशल्याघाट, राजघाट आदि पर खुदाई कराई थी। प्रो० लाल के अनुसार रामायण में अयोध्या के जो स्थल हैं, पुरातत्व की कसौटी पर सिद्ध हो चुके हैं। सोवियत विद्वान अ० कोरोत्तकाया ने ठीक ही कहा है–"भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए आज भी विश्वकोश जैसा महत्व रखने वाले अमर महाकाव्य महाभारत और रामायण (1000 ई० पू०) अपने काल के विद्यमान नगरों का काव्यात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं। इन काव्यों में वर्णित सामग्री पुरातत्व वेत्ताओं के लिए मार्गदर्शन का काम करती है।"

रामायण काल में स्थापत्य शिल्प का जो उच्च वर्णन है उससे स्पष्ट है कि इस युग में वास्तुकला का चिन्तन श्रेष्ठस्तर था। अयोध्या अति प्राचीन नगरी है जिस प्रकार मनु इस पृथ्वी के प्रथम राज (महीमितागादय:) कहे जाते हैं। वैसे ही अयोध्या भी भूमंडल की प्रथम पुरी के रूप में विख्यात है। मनु ने इस पुरी का निर्माण कराया। मनु सूर्यवंश और चंद्रवंश दोनों के मूल पुरूप थे। मनु सूर्यवंश के सबसे शक्तिशाली राजा थे। सूर्यवंश उनके पुत्र इक्ष्वाकु से चला और चंद्रवंश उनकी पुत्री इला से। इक्ष्वाकु के चार बेटे थे, एक अयोध्या में रहा, दूसरा कपिलवस्तु का राजा हुआ। तीसरे ने विशाला में राज्य स्थापित किया और चौथा मिथिला का राजा बना। अयोध्या में सूर्यवंश के 123 राजा हुए, जिसमें 93 राजा महाभारत के पूर्ववर्ती और 30 राजा महाभारत के परवर्ती हैं। सूर्यवंश के 60वें शासक के बाद राम ने इस पुरी में जन्म लिया।

अर्थव वेद में अयोध्या से संबंधित पांच मंत्र प्राप्त हैं। कहा गया है अयोध्यापुरी अष्टयक्र व नवद्वारों से युक्त देवताओं द्वारा सेवित स्वर्ग की भांति सम्पन्न है:

अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पूजयोध्या।
तस्या हिरण्यमय कोश: स्वर्ग ज्योतिषावृत।।

वाल्मीकि रामायण संस्कृत ललित साहित्य का विशिष्ट ग्रंथ है। आदि कवि की इस : कृति के बालकांड के पांचवें, छठे, सातवें सर्गों में कुल 75 श्लोकों में अयोध्या का भव्य वर्णन है:

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोक विश्रुता।
मनुता मानवेंद्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।।
आयता दश द्वे च योजनानि महापुरी।
मती त्रिणी विस्तीर्षा सुविभक्त महायथ:। (5)

यानी लम्बाई में अयोध्या बारह योजन और विस्तार में तीन योजन थी। पुराविद कनिंघम् के अनुसार अयोध्या का घेरा 12 योजन या 24 मील या 12 कोस मानना चाहिए। मौजूदा गुप्तार व रामघाट प्राचीन अयोध्या के पश्चिमी व पूर्वी क्षेत्र की सीमा का संकेत करते हैं। अयोध्या की 14 कोस परिक्रमा इसी दायरे में आती है, जहां प्रतिवर्ष हजारों यात्री परिक्रमा करते हैं। मुख्य नगरी बसावट रामकोट में थी। नगर के मध्य में स्थित यह भाग उपयुक्त स्थल था क्योंकि काफी ऊंचा होने के बाद सुरक्षित था।

सरयु नदी की बाढ़ की विभिषिका आज भी काफी भयावह होती है। रामकोट में दुर्ग के बीस दरवाजे थे। इस गढ़ व कोटों के नाम वही थे, जो आज भी हैं,। दुर्ग के भीतर आठ राज प्रसाद थे। विभिन्न दरवाजों की ठीक-ठीक स्थिति का पता लगाना आज संभव नहीं रहा फिर भी हनुमानगढ़ी, सुग्रीव टीला, अंगद टीला आदि मातगजेन्द्र दुर्ग की प्राचीन सीमा के जीवन्त साक्षी है। अयोध्या की किलेबन्दी के चारों ओर परकोटा और जल से भरी खाई थी। परकोटों में तोरणयुक्त विशाल द्वार थे। पुरातत्व की दृष्टि से टीलों का अद्भुत महत्व है। अयोध्या तो टीलों की नगरी है। यहां बहुत से टीलों का नाम सुना जाता है। सुग्रीव टीला, लक्ष्मण टीला, नल व नील टीला, सुषेण टीला, केसरी टीला, गवास, गंधमाढ़न, ऋषभ, शरभ, विभिषण और पिडांरक आदि टीले हैं। प्रोफसर बी० बी० लाल द्वारा की गई खुदाई में रामजन्म भूमि के समीप ईंटों के निर्माण कार्य मिले हैं। प्राकार से बाहर एक गहरी खाई मिली है हनुमानगढ़ी के समीप कृष्णमृद भांड से संबंधित काफी सामग्री मिली है। आदि कवि बाल्मीकि ने दुर्ग के बारे में कहा है:

दुर्ग गंभीरपरिधा दुर्गाम्न्यै दुरासंदा
वाजिबवारण संपूर्णा गोभिरूष्टै खैरस्था।

श्रीमद बाल्मीकीय रामायण के सुन्दर कांड के द्वितीयसग में लंकापुरी उसकी परिखाओं, प्राचीरों, प्रतोमी व अक्षक कारकों का बड़ा मनोहारी वर्णन है।

रामायण के मुकाबले महाभारत में दुर्गों के बारे में गुणात्मक परिवर्तन दिखता है। महाभारत काल में नगर नियोजन श्रेष्ठता के शिखर पर था। आदि पर्व में पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया था। महाभारत काल में राजशक्ति के केन्द्र दुर्ग थे कहा गया है:

षडविधं दुर्ग कास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत।
सर्वसम्मत प्रधानं मद बाहुल्य चायि सम्मवेत।।

धन्व दुर्गम महि दुर्गम् गिरिदुर्गम् तथैव च।
मनुष्य दुगम, अष्च्दुर्गम् वनदुगम, च तानि षट।।

यत्पुरं दुर्गसम्पन्न धान्या युद्ध समन्वितम्।
दृढ़ प्राकार परिख हस्त्यश्वरथंस कुलम्।

महाभारत में अनेक राजधानियों कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर, पांचालों की राजधानी अहिच्छत्रा, मगध की राजधानी राजगृह, नागों की राजधानी भोगवंती आदि का वर्णन है। कुछ लोग नागों की राजधानी भोगवंती को मोहनजोदड़ों का अंग मानते हैं। नागवंश का इतिहास आज भी रहस्यमय है। पाण्डवों का इन्द्रप्रस्थ दुर्ग जहां आज दिल्ली का पुराना किला है, बना था। इन्द्रप्रस्थ में नगर की सुरक्षा व्यवस्था मुगलकालीन दुर्गों से कम नहीं थी। रक्षा के लिए लोहे के महाचक्र गाड़े गए थे। तोपों की तरह तीक्ष्ण मार करने वाले अंकुश शतघ्नी यंत्रजाल आदि थे। इन्द्रप्रस्थ भी महाप्राचीर में कन्दर पर्वत के समय "गोपुर" बनाए गए थे जिनको मध्यकालीन दुर्गों के "बुर्ज" से मिलाया जा सकता है। दरवाजे दो तरह के थे गरुड़ द्वार जिनमें दो विशाल किवाड़ पक्षिराज गरुड़ के दो पखों की तरह खुलते और सिमटते रहते थे, दूसरा मंत्रवंचनद्वार—जिन्हें गुप्तद्वार अथवा चोर-दरवाजा कहा जा सकता है। इनके विषय में जानकारी के लिए एक विशेष मंत्र (रहस्य) था और साधारणतया इनकी जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती थी।

दीवार के साथ-साथ सुरक्षा के लिए चारों ओर शस्त्रों को सुसज्जित किया गया था रक्षा करने वाले योद्धाओं के आवास बने हुए थे और उनके युद्धाभ्यास की भी व्यवस्था थी। सुरक्षा के इस घेरे में "शक्ति" नामक आयुध स्थान-स्थान पर गाड़े गए थे। उत्तरकाशी (उ०प्र०) के विश्वनाथ मंदिर में आज भी छठी सदी ई० में बना "शक्ति" नामक आयुध गड़ा हुआ है। पाण्डवों की राजधानी, हस्तिनापुर गंगा की बाढ़ से नष्ट हो गई थी और राजा परीक्षित के प्रपौत्र निचक्षु ने हस्तिनापुर छोड़कर प्रयाग के निकट कौशाम्बी में राजधानी बनाई थी।

इतिहास की बहुत सी परतें उभरी नहीं है। हड़प्पा संस्कृति की प्रणेता कौन लोग थे, यह तथ्य भी उद्घाटित नहीं हुआ है परन्तु रामायण और महाभारत को कपोल कल्पना नहीं माना जा सकता।



भारतीय संस्कृति—एक सिंहावलोकन

--डा० मुरारी लाल गोयल 'शापित'

'संस्कृति' संस्कार शब्द का भाववाचक रूप है जो शब्दार्थ शोधक है। व्यापक अर्थ में समस्त सीखे हुए परम्परागत व्यवहार से है जो 'सामाजिक प्रथा' का पर्याय है। एक अन्य अर्थ में संस्कृति उन गुणों का समूह है जिन से व्यक्तित्व परिष्कृत होता है और इस रूप में वह वांछनीय वस्तु है। मानव एक विकासोन्मुखी प्राणी है और विकास संस्काराधीन है। वैज्ञानिक प्रक्रिया भी इसकी पोषक है। मानव स्वभाव शुद्धता और मूल वृत्ति को जागृत करने और रखने के लिए, भारतीय मनीषियों ने गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त सोलह क्रियाओं को "षोडश-संस्कारों का नाम देकर हमारी वृत्तियों को विकासोन्मुखी ही नहीं बनाया अपितु उन्हें जीवन्तता भी प्रदान की। भारतीय संस्कृति धर्म तथा दर्शनाधारित है। अतः कह सकते हैं कि यदि दर्शन आत्मा है तो धर्म शरीर है और संस्कृति धर्म-शरीर की भावमूलक क्रिया है। इनके (धर्म, दर्शन, संस्कृति) सामंजस्य, सन्तुलन तथा सुनियोजन से ही मानव मानवत्व को प्राप्त होता है तथा समाज और देश उन्नति के स्थायी पथ पर अग्रसर होता है। राष्ट्र अपनी अस्मिता की रक्षा ही नहीं करता अपितु अपनी ऊर्जा से विश्व को आलोकित कर मार्गदर्शन भी करता है। इनके साथ यह कहना भी असमीचीन न होगा कि 'दर्शन' के 'सत्य' और 'धर्म' के 'शिव' को **संस्कृति ही 'सुन्दरता' प्रदान करती है।** 'दर्शन' आत्मा के विवेक की सन्तुष्टि करता है, 'धर्म' उसके भाव की तो **संस्कृति उसकी अनुभूति को परिष्कृत और सन्तुष्ट करती है। वस्तुतः दर्शन, धर्म और संस्कृति परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि उनके मध्य विभाजक रेखा खींचना कठिन ही नहीं असम्भव है। विशेषकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में।**

भारतीय जीवन का सतत प्रवाह जो धर्मानुप्राणित और 'दर्शन' पोषित है, संस्कृति और सांस्कृतिक क्रिया-कलापों द्वारा तरंगायित होकर मन-मोहक बना हुआ है। जिस प्रकार भावाभिव्यक्ति की आधार भाषा है, उसी प्रकार दर्शन तथा धर्म की भावाभिव्यक्ति सांस्कृतिक आयोजन के द्वारा होती है। इन्हीं क्रिया कलापों के द्वारा वर्तमान संघर्षशील जन-मानस कुछ क्षण के लिए अपने परम लक्ष्य 'आनन्द' की स्वल्पानुभूति कर पाता है। वर्तमान में भौतिकवाद के प्रभाव स्वरूप, 'दर्शन' धर्म तथा संस्कृति उपेक्षित होती जा ही है। संस्कार-विहीन शिक्षा के कारण युवा वर्ग दिन-प्रति दिन दूर से दूरतर होता जा रहा है। परिणामस्वरूप स्वार्थ, संकीर्णता, हठवादिता, असहयोग तथा अनैतिकता जैसे मानवता के विनाशक तत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ते और व्यापक होते जा रहे हैं। अतः भारतीय संस्कृति के विकृति के कारणों पर दृष्टिपात करना असंगत न होगा।

भारतीय संस्कृति की विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में गणना होती है। किसी भी संस्कार या परम्परा का निर्णय एक दिन में नहीं होता, उसके पीछे अनन्त काल की मानवीय अनुमति का आधार होता है। भारतीय संस्कृति का समुचित रूप वैदिक काल में दीख पड़ता है। वैदिक काल का समय भी आज विवादास्पद है। अभिप्रायः यह है कि भारतीय संस्कृति को किसी काल विशेष की सीमा में नहीं बांधा जा सकता, वह मानव विकास की परिचायक होने के साथ उसकी प्रगति की मार्ग दर्शिका रही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से, भारत की सम्पन्नता से आकृष्ट होकर अनेक विदेशी आक्रान्ताओं ने भारत पर आक्रमण किये जिनमें से, यूनानी, हूण, शक आदि जातियां यहां के सांस्कृतिक प्रवाह में घुल मिल गई किन्तु यवन आक्रान्ता इससे अछूते रहे। इस का मूल कारण था यवनों का अपने धर्म इस्लाम के प्रति कट्टर दृष्टिकोण और इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण में भी संकीर्णता आती चली गई जिसके फलस्वरूप हमारी उदार संस्कृति में अनेक दोष आ गये। यवनों के पश्चात् भारतीय भूमि पर गौरांग महाप्रभुओं का पदार्पण हुआ किन्तु यह जाति यवनों के समान धर्मान्ध तथा कट्टर और संकीर्ण दृष्टि के विपरीत उदार थी। अतः यवनों के समान अंग्रेजों की इंसानियत से भारतीय संस्कृति को इतना संघर्ष नहीं करना पड़ा किन्तु अंग्रेजों की कूट नीति, शासन व्यवस्था, शिक्षा तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण और उपलब्धियों के प्रभाव स्वरूप परम्परागत भारतीय संस्कृति का रूप विकृत होता गया और होता जा रहा है। इस विकृति के लिए हमारी राजनैतिक दृष्टि और शासन व्यवस्था पर्याप्त सीमा तक उत्तरदायी हैं। किन्तु लगता है अब वह समय दूर नहीं जब विश्व भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों, भावों और विचारों को अपनायेगा और जीवन के परम

1. साहित्य कोश--भाग प्रथम, पृष्ठ ४६8।

लक्ष्य आनन्द तथा शान्ति को प्राप्त कर सकेगा क्योंकि दर्शन-मूलक धार्मिकतत्व भारतीय संस्कृति की ही विशेषता है।

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी संस्कृति होती है जो एक दूसरे से भिन्न दीख पड़ती है। इस विभिन्नता का मूल कारण भौगोलिक स्थिति और परिवेश होता है। यह पृथकता हमें प्रत्येक राष्ट्र की शिक्षा, ज्ञान तथा कला आदि की उपलब्धियों के साथ उसके जीवन-दर्शन और व्यवहार में दीख पड़ती है। भारतीय संस्कृति की सर्वोपरि विशेषता है—उसकी शाश्वत भावना पर आधारित जीव मात्र के प्रति उदार दृष्टि। भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों के साथ गीता का एक विशेष स्थान है जिसकी चर्चा आज विश्व के चिन्तनशील जगत में दिन दूनी रात चौगुनी होती जा रही है।

संस्कृति व्यक्ति को संस्कार युक्त बनाती है और सुसंस्कृत व्यक्ति समाज का परिष्कार करता है। अतः वैदिक संस्कृति में सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप देने के निमित्त चार वर्णों की प्रतिष्ठा हुई। इस विभाजन के मूल में वर्तमान कालीन ऊंच-नीच की भावना नहीं थी अपितु व्यक्ति की क्षमता और रूचि के आधार पर कर्म और अधिकार का बंटवारा था। जैसा आज अर्थशास्त्र तथा नागरिक शास्त्र में क्रमशः श्रम का विभाजन तथा अधिकार का पृथकीकरण किया जाता है और उसे हम वैज्ञानिक तथा तर्क संगत मानते हैं। वर्णों का जाति, उप जाति आदि अनेक वर्गों में विभाजित होना तथा अनेक दोषों से लिप्त होना, इतिहास तथा उसकी परिस्थितियों की देन है।

भारतीय संस्कृति की दूसरी सर्वोपरि विशेषता है, समन्वय की भावना जिसके परिणामस्वरूप हम अनेकता में एकता देखते हैं और इसी गुण के कारण अनादिकाल से अनेक धर्मावलम्बी भारत भूमि पर मिलजुल कर रहते रहे। अध्यात्म के क्षेत्र में, अनेक दर्शन और विचारों के होते हुए भी जीवन दृष्टि में एक ही लक्ष्य रहा, ब्रह्म की उपलब्धि। मार्ग अलग-अलग होते हुए भी सभी एक पथ के राही रहे। समय-समय पर जो दुर्घटनायें हुई उसका कारण राजसत्ता की लोलुपता रही। इन मूल, विशेषताओं के साथ ही अन्य आधार सूत्र हैं:—

1. फल की लालसा (आसक्ति) के बिना अपना कर्म करते चले जाना। (गीता :—अनासक्ततायोग) इस सिद्धान्त का अनुसरण करने पर कर्म के संघर्ष से बचने के साथ व्यक्ति अहं भावना से मुक्ति पा सकता है।

2. निर्लिप्त भाव से रहना, जिसके लिए कमलवत जीवन यापन की प्रेरणा दी जाती है। अर्थात् जिस प्रकार कमल जल में रहते हुए भी उससे तटस्थ रहता है, उसे अपने ऊपर नहीं आने देता, उसी प्रकार, संसार में रहते हुए और सांसारिक कर्म करते हुए भी, उससे तटस्थ रहना। क्योंकि कर्म देह का धर्म है, आत्मा जो दृष्टा है, उससे सर्वथा पृथक है—उसी में अपना ध्यान केन्द्रित रखते हुए कर्म करना।

3. विश्व बन्धुत्व की भावना, जीव ब्रह्मांश है। सृष्टि के सभी जीवन सृष्टि कर्ता के अंश मात्र हैं फिर परस्पर भेदभाव कैसा? आज इस दृष्टि को व्यवहारिक रूप में अपना लिया जाय तो सम्पूर्ण विश्व की अधिकांश समस्याओं का अंत हो जाए।

4. धन के प्रति उपेक्षा की भावना—उपेक्षा की भावना से आशय यह है कि धन को साधन माना जाय साध्य नहीं। सांसारिक वैभव के प्रति एक तटस्थ दृष्टिकोण रहे, अतः शोषण और आज की आपा-धापी से दूर रहें। कबीर के शब्दों में "सांई इतना दीजिए जामें कुटुम्ब समाय। मैं भी भूखा ना रहूं, साधू न भूखा जाय।" इसी जीवन दृष्टि के कारण सशक्त और समर्थ होने पर भी हमारे पूर्वजों ने दूसरे देशों पर कभी आक्रमण नहीं किया जैसा कि तैमूर लंग, महमूदगजनी, गौरी, नादिरशाह तथा आसन्नभूत में अंग्रेज, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और वर्तमान में भी अमेरिकन तथा रूस आदि शक्तिशाली देशों के क्रियाकलाप में यह वृत्ति देखी जा सकती है।

5. गुरूजनों के प्रति सम्मान की भावना :—माता-पिता तथा गुरूजनों को देवतुल्य मानकर उनके प्रति आदर का भाव रखना। जिसका अन्य संस्कृतियों में प्रायः अभाव देखा जाता है। वृद्ध माता-पिता तथा दीन-हीन के प्रति और निर्धन गुरु एवं मित्र के प्रति सेवा तथा सद्भाव रखने वालों के जितने उदारण भारत भूमि के इतिहास में दीख पड़ते हैं अन्यत्र नहीं। संयुक्त परिवार का स्वरूप विदेशियों के लिए बहुत समय तक आश्चर्य का विषय रहा। आज पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव-स्वरूप यह परम्परा टूटने लगी है और हमारे वृद्ध माता-पिता कष्ट भोगते हुए इस आधुनिकता को कोस रहे हैं।

6. नारी के प्रति सम्मान ही नहीं पूज्यभाव :—मनुस्मृति के मतानुसार जहां नारी की पूजा (समादर) होती है वहां देवता निवास करते हैं। इस सूत्र में स्वयं एक दर्शन है। पाश्चात्य देशों या उनसे, प्रभावित आधुनिक समाज जिस नारी समानता की बात करते हैं, उस दृष्टि से भोग की प्रवृत्ति है। नारी जीवन निर्माण का मूलाधार है। वह भोग्या पत्नी ही नहीं है, जननी और बहनि भी है। वह चाहे जितनी दीन-हीन दशा में रही हो किन्तु जितने अनुकरणीय नारी चरित्र भारत के इतिहास में दीख पड़ेंगे अन्यत्र नहीं। नर और नारी का सम्बन्ध भारतीय संस्कृति में केवल भोग पर आधारित नहीं है, उसमें लोक-परलोक की भावना निहित है। वह केवल पार्टनर नहीं है, सहचरी तथा अनुचरी होने के साथ अर्धांगिनी भी है।

7. सहनशीलता, ईश्वर पर आस्था, संतोष आदि की भावना जिन्हें आधुनिक विचारक कायरता, अंधविश्वास व भाग्यवाद आदि

का नाम देते हैं, भारतीय संस्कृति के मूल तत्व हैं। जिनको जीवन में अपना लेने पर व्यक्ति अहं से मुक्त होकर आत्मज्ञान की ओर बढ़ता है और अन्त में परमानन्द की प्राप्ति करता है। इसी आधार पर हमारी संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन का परम पुरुषार्थ माना गया है।

अन्त में निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति पुरातन है, अपने परम्परागत ज्ञान और अनुभवों का अथाह सागर अपने में समेटे है। समय-समय पर आने वाले चक्रवातों ने उसे पर्याप्त रूप से विकृत कर दिया है जिसके परिणाम-स्वरूप आधुनिक विचारक और युवा पीढ़ी उसे हेय दृष्टि से देखती है। उसमें उन्हें पुरानापन दीख पड़ता है और यह भी ठीक है कि पुराना पूर्णतः और सर्वदा अच्छा भी नहीं होता। किन्तु इसके साथ यह भी उतना ही विचारणीय है कि क्या नया सब कुछ अच्छा और ग्राह्य है। भूत के बिना वर्तमान की कामना बुद्धिमत्ता की परिचायक नहीं है। अतीत से ही वर्तमान बना है वही भविष्य का आधार है। डा० इकबाल के इन शब्दों —"कुछ बात है, कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। सदियों से रहा है, दौर-ए-दुश्मन जहां हमारा" में इसी सांस्कृतिक विरासत की ओर संकेत है।



भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान

--मोना बक्शी

वैदिक साहित्य के अनुसार ब्राह्मण वह है जिसे ब्रह्मांड की क्रिया-प्रक्रिया और प्रकृति के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त हो चुकी है। ब्रह्म सूत्र में जैसा कहा गया है, उसके अनुसार धर्म और अर्थ जीवन के मुख्य मूल्य हैं, पर अर्थ और कर्म मूलभूत नियम हैं। इसी संदर्भ में जो विद्वान व्यक्ति हमें इन ग्रन्थों का पूर्ण ज्ञान दे सकते हैं, वे हैं आचार्य, उनका मान हमें करना चाहिए, पर पिता का मान उससे 200 प्रतिशत अधिक होना चाहिए और मां का 2000 गुणा अधिक।

ब्रह्माण्ड की रचना में अनेक बिन्दु हैं, प्राणी जीवन के कई रूप कई मूल बिन्दु हैं। उनमें से एक मूल बिन्दु है नारी। सृष्टि का आरम्भ जहां होता है वहां नारी होती है।

बाइबिल में आता है, "इन दि बिगनिंग देयर व्हाज़ वर्ड" अर्थात् शब्द, अर्थात् अभिव्यक्ति। पहले शब्द आता है फिर उसके माध्यम से हम भावनाओं को अभिव्यक्ति दे सकते हैं तब चेतना में शून्य नहीं बना रहता है। शून्य को अर्थ मिल जाता है तो जीवन और चेतना जीवन्त हो जाते हैं। फिर गति आती है। ठहराव आवश्यक है, पर ठहराव का अर्थ भी गतिहीनता नहीं है, गतिहीनता है, मृत्यु, शारीरिक या समस्त जीवन का अन्त।

मां जन्मदात्री है और जब तक सन्तान वयस्क नहीं होती उसकी सेवा सुश्रूषा करने के दौरान वह सभी प्रकार की विडम्बनाएं सहन करती है। यूं जीवन के स्वजात नियम और सुसंस्कृति द्वारा प्राप्त नियमों से नारी का योगदान प्रभूत है, क्योंकि उसके जीवन का स्वार्थ प्रबल हो जाने पर भी वह एक दिशा में त्यागमयी और सहनशील बनी रहती है क्योंकि उसका जीवनयापन एक अन्य जीवन के प्रति उन्मुख रहता है, वह है पति, पुत्र या परिवार।

शब्द "स्त्री" की उत्पत्ति भी इसी अर्थ से हुई है। स्वभावानुसार वह जिन्दगी में ठहराव लाती है। पुरुष की भूमिका ऐसी है कि वह जीवन में गति लाता है। पुरुष शब्द की उत्पत्ति भी इसी अर्थ से हुई है।

स्त्री का पक्ष यूं निर्बल नहीं है, निर्बल न बने इसलिए मनुस्मृति के अनुसार वर वधू के गुण समान स्तर के होने चाहिए चरित्र बल, शारीरिक चरित्र बल के कारण से भी ऐसा कोई नियम नहीं है जहां पुरुष या नारी में भेद प्रकट किया गया हो। चरित्र बल दोनों के लिए ही एक जैसा अनिवार्य गुण है पिराड, गोत्र आदि का महत्व परिवेश की अनुकूलता के लिए है।

सामाजिक दिनचर्या यदि व्यक्तित्व को ढालती है तो व्यक्तित्व कृष्ण विक्रमादित्य, चाणक्य, और बृहस्पति का रूप भी ले सकता है। प्रत्येक रूप में कोई न कोई सत्य तो निहित रहता है जिससे स्त्रियों का नाम जुड़ा होता है। जैसे सीता और राधा, यहां सीता का अर्थ है वह व्यक्तित्व जिसमें "सत्" निहित है और राधा अर्थात् जो सिद्धि का प्रतीक है।

ब्रह्माण्ड में जो भी जीवन है और जिन तत्वों द्वारा प्राणी मात्र और यह जगत गढ़ा गया है, वही तत्व उसकी सात्विकता जिसका अर्थ सामान्य जीवन का त्याग नहीं है, उसका माधुर्य, उसकी सच्चरित्रता गढ़ता है पर जो कुछ ज्ञान मनुस्मृति जैसे आदि ग्रंथों द्वारा भी हमें प्राप्त होता है उसके अनुसार भी सच्चरित्रता जो सत्य का एक रूप है, उसके साथ-साथ सांसारिक लाभ और मनोरंजन जीवन का अंग है, यह जीवन जीने की नीति मानी जाए तो सच्चरित्रता से मनोबल बढ़ेगा ही पर नियमानुसार यदि आश्रित व्यक्ति की देखरेख धर्म है तो स्त्री चाहे वह जन्मदात्री है और इस नाते गृहस्वामिनी भी है तो भी उसकी और घर की आवश्यकताएं पुरुष को पूरी करनी पड़ती हैं। जीवन की अनगिनत प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप संतुलन सदैव बना रहना जरूरी है। संयम बना रहेगा तो संतुलन भी बना रहेगा। संयम नियन्त्रण का रूप भी ले लेता है और फिर बड़ा कौन है, छोटा कौन है, कितना हक, कितना फर्ज किसके हिस्से आए, इसके नाप-तोल का सही सही विभाजन करना कठिन और कटु भी हो सकता है। परस्पर प्रेम ही इसका बंटवारा कर सकता है। प्रेमाभाव में जीवन दूभर हो जाता है।

यह रही वैदिक या किसी और संस्कृति की देन पर नियम और मूल्य भी एक ही प्रक्रिया एक ही रूप धारण नहीं किए रहते हैं, क्योंकि जीवन प्रक्रिया एक ही बिन्दु पर नहीं टिकी रहेगी, चेतना गतिशील होती है इसलिए सांस्कृतिक नियम पुराने पड़ने लगते हैं। तब धर्म हमें नियम बताता है। पर प्रायः हम धर्म और संस्कृति को विभाजित रूप से नहीं देखते, क्योंकि दोनों ही ईश्वर शक्ति से परिचय कराते हैं। पहचान की व्याख्या करते हैं और जीवन जीने के नियम बताते हैं। एक अमरीकी संस्था द्वारा प्रकाशित एक अध्ययन-ग्रन्थ के अनुसार

संस्कृति हमारे समक्ष संसार, कर्म, धर्म त्याग के नियम उद्भूत करती है। यूं धर्म, के जो नियम सामान रूप से अपनाते हैं, उसके अन्तर्गत पूज्य मान्यताएं, रीति और विधियां जिनके द्वारा जीवन संचालित होता है, आती हैं। जो भारतीय दूसरे देशों में बस गए हैं, पूरी तौर से चाहते हैं कि हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति के बीज अपनी संतान के मन में बो सकें, पर दूसरा परिवेश है, दूसरी संस्कृति, दूसरी सभ्यता और दूसरे धर्मानुयायी जो दैनिक दिनचर्या में हमारे साथी है पर प्रत्येक धर्म, सत्य, संयम, ईश्वरत्व से पहचान कराना चाहता है और हमें बताता है कि संवेदना सूझबूझ जीवन की अनिवार्यताएं हैं।

महायुद्ध के पश्चात् मार्क्स और ऐन्जल ने पूरे सामाजिक ढांचे को नये ढंग से देखने का प्रयन्न किया। उनके अनुसार नारी या पुरुष में मानव समाज की आवश्यकताओं में योगदान देने की समान क्षमता है। उनके अनुसार नारी को राजनैतिक क्षेत्र में, दैनिक दिनचर्या में और सामान्य मानवीय सामाजिक क्षेत्रों में बराबरी से भाग लेना चाहिए। सरकार द्वारा जारी किए गए कानून के अनुसार भी, और परिणामस्वरूप सामाजिक तौर से भी स्वतन्त्र निर्णय लेने के उन्हें बराबर अधिकार हैं। यही चीन के कानून हैं। यूं दोनों देशों में राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षिक सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से जैसे विवाह आदि के सन्दर्भ में नारी भी उतनी ही स्वतन्त्र है जितना पुरुष।

यदि, हम इसे ही अपने जीवन की प्रणाली मान लें तो भी मानवीय समस्याएं सिर उठाती रहेंगी, मानवीय दृष्टि के परिणामस्वरुप भी असमानताएं बनी रहेंगी। हमें धर्म समान अधिकार से परिचित करे, कानून अधिकार प्रदान करें, तो भी जिन्दगी में असमानताएं घर कर लेती हैं, बौद्ध मत में धर्म के नियम स्त्री और पुरुष के लिए एक से ही हैं औरतें भी भिक्षुणी बन सकती हैं अर्थात् गृहस्थ जीवन त्याग कर सन्यास की ओर उन्मुख होना यदि धार्मिक नियम का पालन और उनकी ओर पूरा प्रयत्न है तो "निर्वाण" भी स्त्री या पुरुष दोनों को ही प्राप्त हो सकता है। सामाजिक नियम हिन्दू सांस्कृतिक नियमों से भिन्न नहीं हैं, परम्परा के अनुसार लद्दाख जैसे प्रान्तों में जहाँ बौद्ध मत की प्रधानता है, विवाह के समय धन सम्पत्ति पुत्री को प्राप्त होती है, क्योंकि पुत्र तो आजीविका पालन कर ही सकता है, यूं पुत्र और पुत्री तथा बाद में स्त्री और पुरुष की सामाजिक स्थिति एक समान ही रहती है, इस प्रकार नारी मन में बराबरी की भावना और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा बनी रहती है।

सिख मत ने औपचारिक रीति, मूर्ति पूजा और अन्धविश्वास जहां तक सम्भव था, कम करने का प्रयत्न किया है। सिख मत के अनुसार गृहस्थ जीवन में स्त्री और पुरुष की स्थिति और अधिकार बराबर के हैं, दोनों का गृहस्थी में, घर में बराबर का योगदान है, सिख मत के अनुसार वही वाणी सत्य है जो ईश्वर भक्ति व्यक्त कर सकती है, ब्रह्माण्ड में विद्यमान जीवन के अनुकूल जीवन यापन ही सही जीवन यापन माना गया है। निर्धारित पूजा एक सी है। जब ईश्वर भक्ति और ब्रह्माण्ड की जीवन प्रक्रिया की गति के अनुकूल ही जीवन ढाला जाएगा तो व्यक्ति के संबंधों में भी प्रतिरोध नहीं आने चाहिए इसे बनाए रखने के लिए स्त्री, मां हो पत्नी या पुत्री, उसके स्वभाव में कड़वाहट नहीं आनी चाहिए।

मनुष्य जाति गुटों में बंट गई है आदिम जातियों और पिछड़े वर्गों के जीवन में धर्म, धार्मिक विधियों और रीतियों का रूप ले लेता है जिनके माध्यम से वह अपने चारों ओर के जगत और प्रकृति से तादातम्य बना ये ख हैं। स्त्री जन्मदात्री है इसलिए परम्परागत रूप से उसका कार्य क्षेत्र घर के कार्यों में रहता है। स्त्रियां केवल पारिवारिक पूजाओं में ही भाग लेती है पर जो भी पाक्षिक पूजाएं सामाजिक स्तर पर होती है, जो उस जाति या उस गांव में प्रचलित हैं, उनमें केवल पुरुष भाग लेते हैं इसलिए अधिकांश आदिम जातियों में यूं धार्मिक विधियों की जानकारी पुरुषों को ही होती है।

कुरान के अनुसार स्त्रियों के लिए लज्जा, शालीनता और सच्चरित्रता अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए परदे, बुर्के, आदि का रिवाज चल गया। न ही वे पूजा आदि में भाग ले सकती हैं। यूं भी स्त्री पुरुषों की सामाजिक स्थिति समान नही है, पुरुष चार बार विवाह कर सकते हैं, परिणामस्वरूप नारी चरित्र में फिर प्रमुख गुण सहनशीलता ही है। वह सहारा तो देगी ही पर सहारा चाहेगी भी, सहनशीलता प्राकृतिक और सामाजिक दोनों दृष्टिकोण से एक सामान्य गुण बन जाता है, सामाजिक रूप से अपनी स्थिति कष्टप्रद प्रतीत न भी हो तो भी स्वाभाविक है, उसके अहं की अभिव्यक्ति, कुछ न कुछ कम होगी और अपने व्यक्तित्व में भी वह इतनी पूर्णता नहीं अनुभव कर सकेगी जितनी पुरुष अनुभव करेगा। इसलिए घर में या समाज में दोनों की स्थिति जो रूप ले लेती है, उसमें पूरा-पूरा संतुलन बनाए रखना कठिन हो जाता है। इस्लाम में दूसरी शादी या संबंध विच्छेद कानून द्वारा दोनों के अधिकारों की समानता बनाए रखना सम्भव है, लेकिन उन्हें सही ढंग से अपनाया नही जाता है। स्त्रियों के कामकाज और सामाजिक कर्तव्य घर की चारदीवारी तक सीमित रह जाते हैं, इसी लिए हो सकता है सम्पत्ति में उनके अधिकार बराबर नहीं बने रहते। कानून द्वारा यदि अधिकार दे भी दिए जाएं तो भी हो सकता है वह अधिकार व्यावहारिक रूप से उसे प्राप्त न हो पाएं, शिक्षा आदि में भी वह पिछड़ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उनके आर्थिक या सामाजिक स्तर पर ही नहीं व्यक्तित्व पर भी चोट लगती है जो एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति होती है। स्त्री की स्वतन्त्रता के साथ साथ स्त्री शिक्षा बहुत आवश्यक तत्व है।

स्त्री भी एक व्यक्ति है, समूह नहीं, व्यक्तिगत रूप से वह प्रगति कर सकती है, अपनी स्वतन्त्रता को सहेज सकती है या परतंत्र रह कर सन्तुष्ट रहे और यह बंधन तो नातों के हैं, पारिवारिक हैं, इसलिए सामाजिक हैं। स्त्री प्यार, त्याग और श्रद्धा की मूर्ति है उसकी जिम्मेदारी पुरुष से भी कहीं अधिक है। परिवार और समाज को जोड़ और सहेज कर रखना बहुत कुछ उसी पर निर्भर करता है। स्त्री ही परिवार की धुरी है। अतः उसका परिवार और समाज में ऊंचा स्थान होना ही चाहिए तभी वह परिवार, वह समाज उन्नति कर सकता है क्योंकि 'यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता"।

पवित्रता और सौन्दर्य का प्रतीक 'कमल'

--उमा शंकर चतुर्वेदी

कमल विश्व की सृष्टि का मनोहरतम सौंदर्य है। यह हमारा राष्ट्रीय पुष्प है, इसे पवित्रता, कोमलता, अमरता, सहृदता, पावनता, रम्यता, सौंदर्य, सरसता, शुभ्रता, देवत्व, परोपकारिता आदि मनोरम भावों का प्रतीक माना गया है। श्री और समृद्धि के शाश्वत प्रतीक चिह्न के रूप में इसे स्वीकार किया गया है। हमारी सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा जी का जन्म भी उस कमल से हुआ माना जाता है जो भगवान विष्णु की नाभि से निकला था। इसीलिए विष्णु भगवान को पद्मनाभ एवं ब्रह्मा जी को पद्मज कहते हैं। एक यह भी पौराणिक उल्लेख है कि सृष्टि के निर्माण के पूर्व जलराशि में से सर्वप्रथम कमल की उत्पत्ति हुई थी और उससे प्रजापति का जन्म हुआ जिन्होंने सृष्टि की रचना की। हमारी श्री समृद्धि की प्रतीक लक्ष्मी जी का जन्म भी विष्णु जी के मस्तक से निकले कमल से हुआ था, जिससे उनका नाम कमला या पद्मा हुआ। भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में सारे ब्रह्माण्ड को ही कमल की तरह माना गया है। कमल को संसार की सृष्टि का आदि कारण माना जाता है। हर सम्प्रदाय के आराध्य देव का शुभासन भी कमल को ही मानते हैं।

कमलाक्षी समस्त संसार की मोहिनी शक्ति है, कमलानना ने समस्त विश्व को विमुग्ध कर रखा है। सृष्टि का आदि और अन्त कमल में निहित है। हमारे आध्यात्म की प्रतीक योजना में कमल का सर्वोच्च स्थान है। करकंज और पद्मपद हमारे आराध्य हैं। कमल का पुष्प भेंटकर हम अमरत्व का आशीर्वाद देते हैं। कमल की ओर देव, मानव, पशुपक्षी, कलाकार, साहित्यकार सभी आकर्षित होते आए हैं। हम अपने आराध्य देव एवं गुरु के करों, चरणों, नेत्रों एवं मुख की उपमा कमल से ही देते हैं, उनके चरणों में कमल पुष्प अर्पित करते हैं। रसिक जन अपनी प्रेयसी के गोरे गाल और अंगों की तुलना कमल से करके अपनी सरस और रागात्मक वृत्ति का प्रमाण देते हैं। पुनीत एवं मनोहर शरीर के अंगों की तुलना कमल से ही की जाती है। तुलसीदास जी ने प्रारंभ में ही अपने गुरु के चरण कमलों की वन्दना की है।

बन्दउं गुरु पदुम परागा, सुरुचि सुवास सरस अनुरा।

भगवान राम के नयन, मुख, पैर सभी कमल के समान हैं :--

नयन कमल कल कुंडल काना
बदन सकल सौंदर्य निधाना (राम चरित मानस)

पद कंजीन मंजुबती पनहीं, धनुहीं सर पंकल पानि लियें
'(गीतावली)

उनका पूरा शरीर ही नीले कमल की आभा से परिपूर्ण है :--

तन की दुति श्याम सरोरुह लोचन
कंज की मंजुल ताई हरें।

सीताजी के हर पवित्र अंग कमल के समान बताए गए हैं :--

लोन्हें जयमाल कर कंज सो हैं जानकी के,

राधा के नेत्र, मुख कर और पांव सभी कमल के समान हैं :--

कमल मुखी राधा के अंसुआ चौमासे से बरसे,
जग नीरज खंजन मद गंजन कोकिल कंठ लगैयां।
कर कंजन से हमें बुलातीं चमका अखियां गुइयां।
ताके कमल चरन पद ताके, श्री वृषभानु सुता के।

हमारा लोक साहित्य कमल की उपमाओं से भरा पड़ा है। कमल को, उपमान के रूप में अंकित किया गया है। सुन्दर और आकर्षक देह, मुख, आंखें, हाथ और चरणों की उपमा कमल से दी गई है, लोक कवि ईसुरी की प्रेयसी की आंखों की तुलना कमल पुष्प की पांखों से कर के कवि ने अपनी सूक्ष्म भावना का परिचय दिया है :--

बांकी रजउ तुम्हारी आंखें, रओ घूंघट में ढांकें,
हमने अबें दूर से देखीं, कमल फूल सी पांखें
जिनखों चोट लगत नैनन को डरे हजारन कांखें।
जैसी राखी रई ईसुरी, ऊसई रइओ राखें।

अपनी "रजऊ" के गाल पर तिल की श्यामलता देखकर ईसुरी मोहित हो गए थे। उन्हें ऐसा लगा कि कमल पर भौंरा बैठा हुआ है :--

तिल की परन तिलन से हल्की
वोंय गाल पै झलकीं,
कै मकरंद फूल पंकज पै,
उड़ बैठन भई अलि की।

इसी प्रकार की कल्पना अन्य लोक कवियों ने की है। उन्होंने भी गाल के तिल की उपमा कमल कली के ऊपर बैठे भौरें सी दी है।

कैधों कमल कली के ऊपर लै गयौ भ्रमर बसैरो,
मन भावन कहूं नजर मिला के रजउ प्रेम से हेरो।

कमल के बिना तालाब की शोभा नहीं होती है। कमलों से भरे तालाब हमारे उल्लास के प्रतीक हैं। प्रकृति की सुषमा कमल के फलों से साकार हो जाती है, कमल हमारी शृंगार भावना का प्रतीक है :—

आध तलवा में हंस चुनै. आधे में हंसिन,
तबहु न तलवा सुहावन एक रे कमल बिनु

कमल का जल के ऊपर लहराना एक सौंदर्य का प्रतीक है, जब किसी प्रियतमा का हृदय अपने प्रिय से मिलने को आतुर होता है, तो कमलिनी की तरह लहराता है :—

भरा ताल जल हलकै पुर इन लहरा लेय
साजन के मिलन को, जिय लहरिया लेय।

हमारे यहां आशीर्वाद देने में कमल की तरह फूलने की इच्छा व्यक्त की जाती है। कमल पत्र की तरह फैलने तथा कमल की तरह विहसने का आशीर्वाद दिया जाता है।

दुबिया नाई तुम छछला,
कमल अस फूला हो,
अमवा की नाई बाबु मउरै
पुरइन पात जस पसरे
कमल अस विहंसें।

अर्थात "दूब की तरह फैलिए, कमल की तरह फूलिए, आम की भांति बौर आए, पुरइन के पत्ते की तरह फलिए, और कमल की भांति हंसिए, प्रसन्न रहिए।"

कमल के फूल की नई-नई कल्पनाएं, कवियों ने की हैं। कमल की सुन्दरता आलौकिक होती है। कमनीय सौंदर्य में भावुकता का समन्वय उत्तम माना जाता है। कई लोक गीतों में कमल की उपमा नृत्य करती नृतकी के उरोजों से की गई है।

प्रियजनों की मौन भावनाओं की अभिव्यक्ति कमल पुष्प के सहयोग से बड़े भावात्मक ढंग से हुई है। जब कृष्ण मथुरा में थे तो एक दिन यमुना जी में बहते कमल को देखकर उन्हें अपनी प्रिय राधा के मुख की याद आ गई और वे परेशान हो उठे। एक बार बृज में ही कृष्ण जी ने राधा को मिलन का संकेत कमल पुष्प के द्वारा ही दिया था। कमल पंखुरियों को मिलाकर कमल का मुंह बंद कर संध्या समय मिलने का संकेत दे दिया।

पंकज को मुख मूदो, हरि ने राधा जू के आगे,
सांझ परे मिलहै यमुना तट, ग्वाल बाल कह भागे।

कमल को लेकर अन्योक्ति के सहारे बिहारी ने महाराज जयसिंह को अपनी कमसिन महारानी के प्रेमपास से छुड़ाकर राज-कार्य में तल्लीन होने के लिए प्रेरित किया था।

नहीं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास अहि काल
अली कली ही सों बंध्यों, आगे कौन हवाल।

कमल में प्रेम भावना निहित है, अपने प्रेमी भौंरे को रात भर अपने अंक में रखकर अपना पराग कोष चखाता रहता है। प्रेमी भौंरा भी जो कमल पर पूर्ण आसक्त है अपनी जान की बाजी लगा देता है, एक प्रेमी भौंरा संध्या हो जाने पर कमल में बंद हो गया है, वह सोचता है कि रात्रि बीतेगी और सबेरा हो जाएगा। सूर्य निकलने पर कमल खिल उठेगा तो उसे मुक्ति मिल जाएगी। लेकिन सबेरे हाथी आया और कमल को मुंह से पकड़ कर चबा गया, कमलिनी के साथ प्रेमी भौंरा भी मारा गया।

काव्य प्रेमियों ने कमल के माध्यम से अपनी प्रेमिका की सुन्दरता, मधुरता, सरसता, रम्यता और मोहकता का वर्णन किया है :—

ज्यों विकसी अरविन्द सी प्यारी,
मलिंद सों तैसोई प्यारी रह्यौ जकि (द्विजदेव)

आलम कवि ने मुख रूपी कमल पर भंवर रूपी आंखों की कल्पना की है :—

आलम सो नवल निकाई इन नैनन की
पांखुरी पदुम में भंवर फिरकत है।

बिहारी ने शरद नायिका वर्णन यों किया जिसके कर और चरण दोनों कमल हैं :—

इरुन सरोरुह कर चरन, दृग खंजन मुख चंद
समै आई सुन्दर शरद, काहि न करत अनंद।

केशवदास की नायिका के कमल नेत्र हैं, ग्रीवा गोल है—

अबुज नयन कंजु ग्रीवा गोल गोरी की।

ईसुरी की नायिका का पूरा शरीर ही बगीचा है।

जो तान बाग बलम कौ नीको, सिंचो सुहाग अमी को
श्री फल फेरे धरे जोली में मदरस चुअत लली को
लेत पराग अधर पर मधुकर, विकसी कमल कली को
ईसुर कहत बचाएं रहियो, छुएन छैल गली को।

इस प्रकार कमल विश्व सौंदर्य की अद्‌भूत कृति है। भारतीय दर्शन में कमल को पूज्य माना गया है। हठ-योगी मानव शरीर में अनेक कमलों की कल्पना करते हैं। हृदय का कमल जब बन्द हो जाता है तो हमारा जीना ही बन्द हो जाता है। हम अपने हृदय कमल में ईश्वर को बिठाने की भावना व्यक्त करते हैं :—

मम हृदय कुंज निवास कुरु कामादि खल दल गंजनाम्,

कमल अतः हमारी भारतीय संस्कृति, सभ्यता, सौम्यता का प्रतीक है।

दीक्षान्त समारोह इतिहास के आइने में

--मदन गोपाल शर्मा

आजकल विश्वविद्यालयों द्वारा दीक्षान्त समारोह प्रतिवर्ष आयोजित किए जाते हैं। इन समारोहों को आयोजित करने का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को अध्ययन समाप्त करने या निर्धारित परीक्षा का अंतिम भाग उत्तीर्ण करने पर उपाधि वितरित करना है। इन समारोहों को देखकर सहज ही यह लगता है कि दीक्षान्त समारोह आधुनिक युग की तथा विशेष रूप से पश्चिम की देन हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि दीक्षान्त समारोहों का आधुनिक स्वरूप पश्चिम की नकल है। जिसके अनुसार काले रंग के गाउन आदि पहनकर विद्यार्थियों को उपाधि देने के लिए प्रस्तुत किया जाता है तथा कुछ औपचारिक वाक्यों के उच्चारण के पश्चात् छात्रों को उपाधि दे दी जाती है।

भारत में दीक्षान्त समारोह की बहुत प्राचीन परंपरा है, तैत्तरीय उपनिषद, जिसका समय लगभग 600 ईसा पूर्व माना जाता है, में समावर्त्तन संस्कार का उल्लेख मिलता है। यह प्राचीन गुरुकुलों में शास्त्रों और उपयोगी विद्याओं की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर गुरुकुल से विदाई के अवसर पर आयोजित किया जाने वाला दीक्षान्त समारोह ही था। इसका उल्लेख दीक्षा समारोह या दीक्षा संस्कार के रूप में भी प्राचीन इतिहास में मिलता है। यह वह अवसर था जब छात्र विद्या अध्ययन समाप्त कर अपने आचार्य से दीक्षा ग्रहण करता था तथा समावर्तित स्नातक के रूप में समाज के विभिन्न उत्तरदायित्वों को वहन करने योग्य बनता था। प्राचीन गुरुकुल अपने आप में आदश विश्वविद्यालय थे, जो आचार्यों की योग्यता ज्ञान और चरित्र के कारण देश और समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए थे। विद्यार्थी की योग्यता और दक्षता का अनुमान उसके गुरुकुल के आधार पर ही लगाया जाता था। गुरुकुल में विद्यार्थी त्याग और अनुशासनमय, जीवन व्यतीत करते थे। इन्हीं गुरुकुलों के विकसित रूप नालन्दा, तक्षिला, व विक्रमशिला विश्वविद्यालय थे। ये वास्तव में जीवन निर्माण केन्द्र थे, यहीं उनके चरित्र और व्यक्तित्व का सही मायनों में निर्माण होता था। यहां से निवृत्ति के अवसर पर दिया जाने वाला दीक्षान्त उपदेश प्रत्येक छात्र के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखता था। आज की तरह केवल औपचारिक उपाधि वितरण समारोह नहीं था। भाषण हमेशा से दीक्षान्त समारोह का मुख्य आकर्षण रहा है। आज भी दीक्षान्त समारोह के लिए किसी विद्वान व्यक्ति को बुलाने व दीक्षान्त भाषण पढ़ने की व्यवस्था की जाती है। उस समय में भी आचार्यों द्वारा दीक्षान्त उपदेश दिया जाता था परन्तु आज के दीक्षान्त भाषणों व पुराने समय के दीक्षान्त उपदेशों की विषय-वस्तु में काफी अन्तर है। उस समय के दीक्षान्त भाषण में जिन विषयों का विवेचन प्रमुखतः किया जाता था, उनमें से कुछ निम्नलिखित है। :--

(1) सांसारिक व आध्यात्मिक क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन करने वाली चिरन्तन बातें।

(2) आचरण की पवित्रता तथा सदाचारपूर्वक गृहस्थ धर्म के पालन की शिक्षा।

(3) सामाजिक कल्याण के लिए निरन्तर प्रयास करते रहने की प्रेरणा।

(4) गृहस्थ के सामाजिक महत्व पर बल तथा संसार से विरक्त न होकर लौकिक उन्नति के साधनों के प्रति उदासीन न रहने की सलाह।

(5) माता, पिता, आचार्य अतिथि का हर स्थिति में सम्मान करना।

प्राचीन दीक्षान्त भाषणों में कही गई बातें चिरन्तन सत्य हैं। हर देश में हर काल में दीक्षान्त उपदेश का प्रमुख ध्येय विद्यार्थियों को नागरिक और सामाजिक जीवन के पथ पर शाश्वत् मूल्यों का संबल पकड़ाकर चला देना रहा होगा। तभी दीक्षान्त उपदेश का एक-एक शब्द उस समय के विद्यार्थियों के लिए ऐहिक और पारलौकिक उन्नति का साधन बन सका।

आज भी अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों में तैत्तरीय उपनिषद के कुछ अंशों को दीक्षान्त समारोह में विद्यार्थियों से कहलवाया जाता है। तैत्तरीय उपनिषद में दीक्षान्त उपदेश के रूप में दिए गए कुछ महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी अनुवाद नीचे प्रस्तुत है :--

"सत्य बोलो धर्म का आचरण करो।
स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करो।

सत्य से कभी नहीं डिगना चाहिए तथा शुभ कार्यों का कभी त्याग नहीं करना चाहिए।

माता, पिता तथा आचार्य (शिक्षा गुरु) का देवता की तरह सम्मान करना चाहिए।

अच्छे आचरणों का अनुकरण करना चाहिए। दुष्टों द्वारा किए जाने वाले कर्मों का अनुकरण नहीं करना चाहिए।

यदि कोई ऐसा अवसर आए जब अपना कर्त्तव्य निश्चित करने में दुविधा उत्पन्न हो और अपनी बुद्धि से किसी निश्चय पर पहुंचना कठिन हो जाए तो ऐसी स्थिति में वहां जो विचारवान, सदाचारी, स्नेहशील, स्वतंत्र प्रवृत्ति वाले महापुरुष हों, उनके सत्परामर्श के अनुसार काम करना चाहिए।

यही उपदेश, यही शिक्षा है, यही वेदों का रहस्य है। तुम्हें अपने कर्त्तव्य और सदाचार का सदैव पालन करना चाहिए।

ऊपर लिखे तैत्तरीय उपनिषद के कुछ अंशों से यह स्पष्ट है कि उस समय सरल सुबोध भाषा तथा अकृत्रिम शैली में दीक्षान्त उपदेश के रूप में सारभूत बातें आचार्यों द्वारा शिष्यों को बताई जाती थीं। आयुर्वेद जैसी वृत्तिपरक विद्याओं के छात्रों के लिए उनके व्यवसाय के अनुरूप दीक्षान्त भाषणों का विधान था। छात्रों को गुरुकुलों में ऐसी शिक्षा दी जाती थी जिससे उनके पास अपना विवेक हो, अपने विचार हों, और अपना ही दृष्टिकोण हो। छात्र स्वयं निर्णय लेना सीखें और देश व समाज के लिए पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कर्म करें। आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व भारतीय आचार्यों द्वारा अपने शिष्यों को उपदेश दिया गया। यह उपदेश—"कि आचार्यों के भी केवल अच्छे आचरणों का ही अनुकरण किया जाए" सचमुच विचार स्वातंत्र्य की गौरवमय प्राचीन भारतीय परंपरा का उद्घोष है। गुरुकुलों में छात्रों को शिक्षित तो किया ही जाता था साथ ही उन्हें जीवन के विश्वविद्यालय में शत-प्रतिशत अंक लेकर सफल होने योग्य भी बनाया जाता था। जीवन में सफल होने के लिए शाश्वत निर्देशों का प्रमुख भाग दीक्षान्त उपदेश के रूप में विद्यार्थियों को मिलता था तथा इसे वे न केवल सुनते व याद करते थे बल्कि आजीवन मार्गदर्शक सिद्धांतों के रूप में इनका अनुकरण भी करते थे। ये प्राचीन दीक्षान्त उपदेश आज भी हम सबके लिए प्रेरणा के स्रोत तथा हमारी अक्षय सांस्कृतिक धरोहर हैं।



भारत के रीति-रिवाज—एक अध्ययन

—डा० नरेश

दूसरों के साथ अपना सुख-दुःख बांटना मानव-प्रकृति है। आनंद या अवसाद की अनुभूति को स्वयं तक सीमित रख पाना साधारण व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। आनन्दातिरेक में अकेला व्यक्ति दीवारों से, अपने परिवेश से बातें करते-करते नाच उठता है। प्रसन्नता का भाव तब तक उसके हाव-भाव पर छाया रहता है, जब तक वह किसी दूसरे को अपनी प्रसन्नता में सम्मिलित नहीं कर लेता। इसी प्रकार दुःख की भावना को दूसरों के साथ बांटना भी मानव मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। युगों-युगों से प्रचलित उक्ति कि 'कहने से दुःख कम हो जाता है, बहुत सार्थक उक्ति है। अपने भीतर भरे हुए दुःख के अहसास से मुक्त होने के लिए यह जरूरी होता है कि दुःख को संकेतों, शब्दों या संवादहीन नैकट्य के माध्यम से कम कर लिया जाए।

आदिम मनुष्य ने अपने दुःख को अपने साथियों के साथ संकेतों तथा हाव-भावों के द्वारा बांटा होगा। भाषा के अस्तित्व में आने पर मनुष्य ने भाषा के माध्यम से दुःख-सुख बांटना शुरू किया होगा और फिर जब समाज का निर्माण अपनी बाल्यावस्था में होगा, तो सुख-दुःख बांटने के कुछ माध्यम निश्चित होने लगे होंगे। धीरे-धीरे इन ढंगों ने रीतियों का रूप धारण कर लिया होगा और आगे चलकर इन्हीं रीतियों ने धर्म ग्रन्थों में प्रवेश पाकर विधि-विधान का पद प्राप्त कर लिया होगा। यही कारण है कि 'रस्म' शब्द के अर्थ रीति-रिवाज, परम्परा, परिपाटी, मेलजोल, चलन, व्यवहार, दस्तूर, नियम, कायदा, मर्यादा, विधि, बर्ताव, लोकाचार, संस्कार, प्रणाली, प्रथा आदि किए गए हैं।

रीति शब्द के उपरोक्त पर्यायों पर ध्यान दिया जाए तो तीन बातें प्रमुख रूप से हमारे सामने आती हैं।

1. प्रथा, दस्तूर, कायदा, नियम, मर्यादा, विधि, प्रणाली, रीति, रिवाज, रस्म, परम्परा, परिपाटी, चलन आदि का अर्थ है कि सुख-दुःख को प्रचलित ढंगों से बांटा जाए।
2. बर्ताव, लोकाचार, मेलजोल, व्यवहार आदि का अर्थ है कि दूसरों के साथ अपना सुख-दुःख बांटा जाए।
3. संस्कार का अर्थ है कि दोषों को दूर करके वातावरण को शुद्ध किया जाए।

ये तीनों बातें मानव के व्यक्तिगत सामूहिक एवं मनोविज्ञान की ओर संकेत करती हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, सुख-दुःख की भावना को दूसरों के साथ बांटना मानव का स्वभाव भी है तथा उसकी विवशता भी। एक मनुष्य के व्यवहार को मान्यता प्रदान करके जब सारे समाज ने अंगीकार किया था तो इसकी पृष्ठभूमि में दो महत्वपूर्ण आवश्यकताएं कर्मशील थीं। वे थीं—संगी-साथियों की आवश्यकता तथा आर्थिक सहायता की आवश्यकता। 'एक अकेला दो ग्यारह' की उक्ति के अनुसार, किसी अवसर पर भी जब एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का सहारा मिलता है तो वे उत्साहित हो उठता है। आदि युग में बच्चे के जन्म समय या किसी की मत्यु के समय संगी साथियों की शारीरिक सहायता की आवश्यकता अवश्य अनुभव हुई होगी। इसी आवश्यकता ने व्यक्ति को आसपास रहते हुए लोगों के साथ भाई-चारा स्थापित करने पर विवश किया होगा तथा इसी से मानव-समाज की नींव पड़ी होगी।

सभ्यता की ओर अग्रसर मानव-समाज में आर्थिक सहायता की आवश्यकता भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। शिशु जन्म पर अधिक दूध या पौष्टिक खुराक की जरूरत का पैदा होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार मृत शरीर की मिट्टी ठिकाने लगाने के लिए किए जाने वाले कर्मकाण्ड में भी आर्थिक आवश्यकता मौजूद रहती है। अर्द्ध-सभ्य मानव ने इन अवसरों पर वस्तुओं का लेन-देन आरम्भ किया था। इससे प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अवसरों पर आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध होने लगी थीं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ धन ने इन वस्तुओं का स्थान ले लिया तथा पैसों के लेने देने का सामाजिक विधान स्थापित हो गया।

हमारे समस्त रीति रिवाजों में पैसों का लेन देन वास्तव में एक सामाजिक व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति, सारी उम्र अपने भाई-चारे में शगुन देता रहता है तथा जब उसके यहां कोई ग़मी या खुशी होती है तो भाईचारा शगुन के रूप में, वही धन उसे लौटा देता है। उदाहरण के लिए लड़की की शादी पर होने वाले खर्च को समाज इस प्रकार बांटता है कि प्रत्येक व्यक्ति वधु-गृह को शगुन के रूप में कुछ न कुछ धन देता है। यह धन वास्तव में वही धन है जो समय-समय पर वधु के पिता ने समाज में हुई शादियों के अवसर पर दूसरों को दिया

था। आर्थिक सहायता प्राप्त करने की हीन भावना से बचने के लिए समाज ने, इसे सम्मानपूर्ण व्यवस्था का रूप देकर, प्रथा बना लिया। इस प्रथा में न तो शगुन देने वाला ही यह समझता है कि वह किसी पर अहसान कर रहा है और न लेने वाले को यह अनुभूति होती है कि वह भिक्षा ले रहा है। इसीलिए इस प्रथा को 'लोकाचार' या 'भाइयों की भांजी' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में हम इसे सामाजिक बैंकिंग सिस्टम कह सकते हैं।

धन के अतिरिक्त, दुःख तथा सुख की भावना को दूसरों के साथ बांटना भी सहज परन्तु महत्वपूर्ण मानव मनोविज्ञान है। किसी के घर में होने वाली मृत्यु का सदमा संवेदना के लिए आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को विस्तारपूर्वक मृत्यु का वृतान्त देने से कम होता रहता है। 'मरने वाले को क्या हुआ था' 'मृत्यु कैसे हुई' सहानुभूति प्रकट करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का स्वाभाविक प्रश्न होता है तो इसके उत्तर में बार-बार वृतान्त को दुहराकर मनुष्य अपने भीतर के दुख को गुबार की तरह निकालता रहता है। सगे-संबंधियों को दुःख के क्षणों में उसने बराबर खड़े देखकर मनुष्य को अकेलेपन का अहसास भी नहीं कचोटता।

रीति रिवाजों की पृष्ठभूमि में कार्यरत मनोविज्ञान का एक पक्ष यह होता है कि घर तथा आसपास के वातावरण को शुद्ध रखा जाए। शुद्धि की अनुभूति सभ्य मानव की सहज अनुभूति है। हिन्दू 'हवन' के द्वारा, मुसलमान 'आयतों की तिलावत' के द्वारा सिख 'पाठ' द्वारा तथा ईसाई 'बाईबल के पाठ' द्वारा अपने परिवेश को शुद्ध हुआ महसूस करते हैं। शुद्धि की अनुभूति के साथ पानी का बड़ा घनिष्ट संबंध है। क्योंकि पानी शरीर की मैल उतारता है, मैले कपड़ों को साफ करता है तथा गंदे स्थान को धोकर स्वच्छ बनाता है, इसलिए पानी के साथ सफाई या शुद्धि की अनभूति का आबद्ध होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि अधिकांश भारतीय रस्मों में पानी का प्रयोग अनिवार्य हो गया है। अपने आसपास पानी का छींटा देकर स्नान करके या धुले हुए कपड़े पहनकर या किसी तीर्थ पर स्नान करके हम स्वयं को शुद्ध हुआ स्वीकार करते हैं।

मानव समाज के रीति-रिवाजों को स्थान विशेष की भौगोलिक स्थितियां भी प्रभावित करती हैं। भारत में क्योंकि पानी की कमी नहीं है इसलिए प्रत्येक रस्म में स्नान को महत्वपूर्ण माना जाता है। तीर्थों पर जाकर पवित्र नदियों में स्नान करना भी इसीलिए संभव था क्योंकि भारत की भूमि पर नदियां प्रवाहमान हैं। दूसरी ओर इस्लामी समाज को देखिए। अरब के मरुस्थल में जन्में इस्लामी समाज के लिए पानी के खुले प्रयोग की कल्पना ही संभव न थी। अतः इस्लामी समाज में पानी पवित्र वस्तु नहीं बन पाया। धर्मों के संदर्भ में हम जिन प्रतीकों या चिन्हों को धार्मिक मान्यताओं के साथ सादय सम्बद्ध करते हैं उनकी पृष्ठभूमि में भी भौगोलिक स्थितियां काम कर रही होती हैं। उदाहरणार्थ इस्लाम में हरा रंग बहुत महत्वपूर्ण है। अनेक इस्लामी देशों के झण्डे हरे रंग के हैं। कारण स्पष्ट है कि अरब के रेगिस्तानों में जन्में पले बढ़े इस्लामी समाज के लिए हरियाली अत्यन्त सुखद लालसा थी। मरुस्थल में हमारी आंख हरियाली देखने को तरस जाती है। अरबों को जहां कहीं भी हरियाली दिखाई देती थी वहां खजूर के पेड़ तथा पानी का चश्मा जरूर होता था। खाने के लिए खजूरें तथा पीने के लिए पानी देने वाली हरियाली के प्रति अरब समाज का मोह स्वाभाविक था। फलतः इस्लामी संस्कृति में हरा रंग बहुत महत्वपूर्ण हो गया। इसी प्रकार मस्जिद की निर्माण कला पर विचार कीजिए। मस्जिद के निर्माण में दो बातों को बड़ा महत्व दिया जाता है--गुम्बद तथा मीनार। इन दोनों की कल्पना भी अरब की भौगोलिक स्थिति की देन है। मरुस्थल में, दूर-दूर तक फैले रेत के टीले गुम्बदाकार दिखते हैं। अतः भवन निर्माण की कल्पना का गुम्बद पर आधारित होना स्वाभाविक था। इसी प्रकार, मरुस्थल में खजूर के ऊंचे लम्बे पेड़ों से ही दूर कहीं किसी बस्ती के होने का पता चलता है। दूर-दूर से यह मालूम हो सके कि यहां मस्जिद मौजूद हैं, इसके लिए खजूर के वृक्ष की भांति ऊंचे मीनार की कल्पना की गई।

इसी प्रकार मरुभूमि के निवासियों में सूर्य के प्रति मोह का अभाव भी स्वाभाविक होता है। मरुभूमि के निवासी तो सूर्य से पीड़ित होते हैं क्योंकि सूर्य की गर्मी रेत को तपाती है जिससे उनकी गतिविधि अवरुद्ध होती है। ऐसे समाज में चांद के प्रति मोह का होना स्वाभाविक होता है क्योंकि चांद की किरणें रेत को ठण्डक प्रदान करके, दिन भर की धूप से व्याकुल लोगों को शीतलता देती है। यही कारण है कि इस्लामी कैलेण्डर चांद के साथ-साथ चलता है। चांद दिखाई देने पर 'रोजे' शुरु होते हैं; चांद दिखाई देने पर ही 'ईद' होती है। इसके विपरीत भारत में, क्योंकि सूर्य के प्रति वितृष्णा के भाव की कोई गुंजाइश ही न थी बल्कि वहां तो फसलों के लिए सूर्य की गर्मी दरकार थी, इसलिए भारतीय कैलेण्डर सूर्य के अनुसार बना। 'सूर्य' अपने महत्व तथा अपादेयता के कारण यहां के समाज के लिए 'सूर्य देवता' हो गया।

अस्तु, मनुष्य की व्यक्तिगत एवं सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से जो ढंग कभी तलाश किए गए थे, वे ढंग अपनी मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक सार्थकता के कारण तथा भौगोलिक परिस्थितियों की अनुकूलता के आधार पर, परम्परा के रूप में प्रचलित हो गए। सभ्यता के विकास के साथ-साथ ये परम्पराएं शास्त्र सम्मत होती गई तथा रस्में और संस्कार बन गई। समय-समय पर बदलते हुए सामाजिक परिवेश एवं चिन्तन से प्रभावित होने पर भी क्योंकि इनकी मूलभूत आवश्यकता कभी समाप्त नहीं हुई, इसलिए इनका प्रचलन आज तक अक्षुण बना हुआ है। कुछेक रीति-रिवाज इसलिए दम तोड़ गए हैं कि वे अपनी सामाजिक सार्थकता खो बैठे थे। अतः मानव की सहज स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आदिम समाज ने जिन कर्मों को उचित समझा था, उनकी सार्थकता प्रमाणिक हो गई तथा शनैःशनैः प्रत्येक अवसर पर समान कर्मों की परम्परा स्थापित हो गई। परम्परा के रूप में प्रचालित यही प्रथाएं हमारे रीति-रिवाजों के रूप में ढल गई। ये रीति-रिवाज हमारी सांस्कृतिक धरोहर भी हैं तथा हमारी पहचान भी।

धर्म की त्रिवेणी : मथुरा

—डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

मथुरा अत्यन्त प्राचीन काल से भारत का एक प्रसिद्ध नगर रहा है। तक्षशिला से लेकर चम्पा (आधुनिक भागलपुर) तक जाने वाले मार्ग पर वाराणसी, प्रयाग, कौशाम्बी, कन्नौज आदि के समान मथुरा भी एक प्रसिद्ध केन्द्र था। उत्तरापथ को दक्षिणापथ से मिलाने वाला केन्द्र स्थल भी मथुरा ही था। मथुरा से विदिशा और उज्जयिनी (आधुनिक उज्जैन) होकर भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौंच) तथा प्रतिष्ठान (आधुनिक पैंठन) को मार्ग जाता था। इन मार्गों का उपयोग प्रायः व्यापारी और उनके साथी (कारवां) किया करते थे। अन्य नगरों के समान मथुरा भी एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र बन गया था। मथुरा की सम्पन्नता का उल्लेख पतंजलि ने अपने ग्रंथ महाभाष्य में किया है। बौद्ध-ग्रंथ ललितविस्तर के अनुसार मथुरा एक विस्तृत, उर्वर, सम्पन्न, सुरक्षित और जन-संकल नगर था (इयं च मथुरा नगरी ऋद्धा च स्फीता च क्षेमा सुभिक्षा च आकीर्णा बहुजन-मनुष्या:)। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार, यमुना के तट पर अर्द्धचन्द्राकार में बसा मथुरा नगर घरों के तोरणद्वारों से, गलियारों के चबूतरों से, उद्यानों और उपवनों से तथा नाना प्रकार की दूकानों से सुशोभित था। इसमें विभिन्न देशों में जाकर व्यापार करने वाले वणिक्, चारों वर्णों के मनुष्य तथा अनेक देवता निवास करते थे—

इयं मधुपुरी रम्या मधुरा देवनिर्मिता।
अर्द्धचन्द्र प्रतीकाशा यमुनातीर शोभिता
शोभितागृह मुख्यैश्च चत्वर पणवीथिकैः।
आरामैश्च विहारैश्च शोभमानां समन्ततः।
तां पुरीं दिव्य संकाशां नानापण्योपशोभितान्
नानादेश गतैश्चापि वणिग्भिरुपशोभिताम्।

इस प्रकार मथुरा वस्तुतः एक व्यापारिक, समृद्ध और सुनियोजित नगर था।

मथुरा को सर्वप्रथम मधुरा कहा जाता था क्योंकि वहां मधु नामक राजा शासन करता था। उसके पुत्र लवण को जीतकर शत्रुघ्न ने अपने पुत्र शूरसेन को वहां का राजा बनाया। तभी से यह क्षेत्र शूरसेन कहलाता। शूरसेन बौद्ध युग में सोलह महाजनपदों में एक था जिसकी राजधानी मथुरा थी। यदुवंशी कृष्ण का जन्म भी यहीं हुआ था। उन्होंने मथुरा के अनाचारी शासक कंस का वध किया था। पहले इस भूभाग में अन्धक और वृष्णि रहा करते थे। किन्तु राक्षसों के भय से वे द्वारावती (आधुनिक द्वारका) चले गए थे। आगे चलकर मथुरा क्रमशः मौर्य, शुंग, शक, कुषाण, मित्र, नाग, यौधेय तथा गुप्त-नरेशों के आधिपत्य में सतत् विकसित होता रहा। कुषाण युग मथुरा का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। मुस्लिमकाल में हुए कई बर्बर आक्रमणों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद मथुरा ने आज तक अपना अस्तित्व बचाए रखा है।

व्यापारिक केन्द्र और वणिकों की नगरी होने के कारण मथुरा प्रारम्भ से ही धर्म का केन्द्र बन गयी थी। व्यापारियों में धर्म के प्रति लगाव अधिक रहता है। अपनी धर्म-पिपासा की शान्ति के लिए वे अपने धर्मगुरुओं अथवा धर्म-संघों को खुलकर दान देते हैं, अपने इष्ट देवता की मूर्तियां बनवाते हैं, उन मूर्तियों की स्थापना के लिए मंदिरों का निर्माण और उनके पूजा-पाठ का प्रबन्ध भी करते हैं। मथुरा के व्यापारियों ने भी यही सब किया था। संभवतः इसीलिए मथुरा धर्म का एक विशिष्ट केन्द्र बन गया था।

तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व से ही मथुरा में धर्म की गतिविधियां प्रकट होने लगी थीं। शुंगकालीन मथुरा में जैन एवं बौद्ध धर्म के स्तूपों का निर्माण हो चुका था जिनके अवशेष वर्तमान पुरातत्व की अमूल्य धरोहर हैं। कुषाणयुग में मथुरा अपने धार्मिक विकास के चरम शिखर पर था। जैन तथा बौद्ध धर्म की गतिविधियों के साथ ही साथ ब्राह्मण धर्म का प्रचार-प्रसार भी होने लगा था। विदिशा और नागरी (चित्तौड़ के निकट) से प्राप्त ब्राह्मण धर्म के छिटपुट साक्ष्यों को छोड़कर जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म के देवताओं की प्राथमिक मूर्तियों का निर्माण सर्वप्रथम मथुरा में ही हुआ था। जैन तीर्थंकरों बुद्ध-बोधिसत्त्वों तथा विष्णु, कृष्ण, बलराम, शिव तथा अन्य देवी-देवताओं की आरंभिक मूर्तियां हमें प्रायः मथुरा शैली में ही निर्मित मिली हैं। धार्मिक गतिविधियों की यह त्रिवेणी मथुरा में गुप्तकाल तक सतत् प्रवहमान रही।

मथुरा की प्रसिद्धि का एक कारण यद्यपि इस नगर का कृष्णास्थान से जुड़ा होना भी है, परन्तु संसार में मथुरा की वर्तमान प्रसिद्धि का कारण मुख्यतः इसकी विशिष्ट कला-शैली है जिसे मथुरा शैली अथवा मथुरा स्कूल ऑफ आर्ट कहा जाता है। और इस मथुरा कला को जीवंत बनाने का

सम्पूर्ण श्रेय धर्म की त्रिवेणी को है। मथुरा में निर्मित जैन तीर्थंकरों, बुद्ध बोधिसत्वों, शैव तथा वैष्णव देवी देवताओं की अनगिनत मूर्तियां विश्व की मूर्तिकला में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। मथुरा स्थित पुरातत्त्व संग्रहालय के अतिरिक्त देश-विदेश के अनेक संग्राहलयों की कला-वीथिकाएं मथुरा की मूर्तियों से सजाई गई हैं। प्राचीनकाल में देश के कोने-कोने में तथा विदेशों तक में मथुरा के कलाकारों को सम्मान के साथ बुलाया जाता था तथा मथुरा की मूर्तियों का देश-विदेश में व्यापक रूप से आयात किया जाता था। मथुरा-कला पर अब तक सैकड़ों लेख और ग्रंथ रचे जा चुके है जिनसे न केवल मथुरा नगर के वरन् समूचे भारत के गौरव-शाली अतीत पर प्रकाश पड़ा है।

जैन धर्म

जैन स्तूपों और तीर्थंकरों की मूर्तियों के सर्वप्रथम निर्माण के लिए मथुरा का नाम अग्रणी है। मथुरा के कंकाली टीले से जिन दो जैन स्तूपों के भग्नावशेष पाए गए हैं उनमें पहला शुंग युग में तथा दूसरा कुषाणयुग में निर्मित किया गया था। मथुरा से प्राप्त द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के एक अभित से तत्कालीन जैन स्तूप के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त होता है जिसमें उत्तरदासक नामक एक श्रावक के द्वारा उस स्तूप के तोरण के निर्माण (प्रासाद तोरण) का उल्लेख है। अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर ही एक अन्य जैन स्तूप के निर्माण की जानकारी प्राप्त होती है जिसे धमघोषा नामक एक जैन श्राविका ने बनवाया था। 'मथुरा का एक स्तूप तेईसवें जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ को समर्पित था (मथुरा महालक्ष्मीनिर्मित: श्रीपार्श्वस्तूप:)। यहां नेमिनाथ की भी पूजा होती थी वस्तुत: मथुरा जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था।

जन तीर्थंकरों की मूर्तियां सर्वप्रथम मथुरा में ही गढ़ी गई थीं। लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकाल पालिश वाले एक पुरुष-धड़ की पहचान जैन तीर्थंकर से अवश्य की गई है, किन्तु वह अभी सुनिश्चित नहीं है। इसी प्रकार खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में उल्लिखित नंदयुगीन जैन मूर्ति का अस्तित्व भी अभी संदिग्ध है। जैन तीर्थंकरों की प्राचीनतम मूर्तियां (प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व अथवा ईसवी में निर्मित) मथुरा से ही पाई गई है।

महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि को मिलाकर विभिन्न तीर्थंकरों की सैकड़ों-हजारों मूर्तियां अब तक मथुरा से पाई जा चुकी हैं। पद्मासन तथा कामोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित कुषाणयुगीन इन तीर्थंकर प्रतिमाओं के वक्ष पर श्रीवत्स प्रतीक का महापुरुष लक्षण उत्कीर्ण पाय गया है। इसके अतिरिक्त इन मूर्तियों में प्रत्येक तीर्थंकर के अपने-अपने लांछन भी उत्कीर्ण हैं जिनसे उनकी सही-सही पहचान संभव हो चुकी है जैसे शीश के ऊपर तने सर्प-फण से उन्हें पार्श्वनाथ और सिंहयुक्त पीठिका से उन्हें महावीर समझा जा सका।

किन्तु जैन धर्मावलम्बियों ने तीर्थंकरों की मानव मूर्तियां गढ़ने से पहले उनके प्रतीक-स्वरूपों का पूजन करना प्रारंभ कर दिया था। कंकाली टीले से प्रस्तर अनेक चौकोर शिलापट मिले हैं जिन पर या तो केवल कुछ मांगलिक चिह्न उत्कीर्ण हैं जैसे स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, मीन-मिथुन, कलश, पुष्पदाम, वैजयन्ती आदि अथवा इन मांगलिक चिह्नों के बीच तीर्थंकर श्री पद्मासन मुद्रा में मानव-प्रतिमा भी अंकित है।

इन चौकोर शिलापटों को आयागपट्ट कहा जाता था। 'आयाग' या 'आर्यव शब्द से विद्वानों ने 'पूजनीय' अर्थ लिया है। इसीलिए ब्यूहलर ने इन्हें 'टैबलेट्स ऑव होमेज' अथवा 'टैबलेट्स ऑव वरशिप' कहा था। रामायण में आए 'आया' शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'याजनीय देवता' अर्थात पूजनीय देवता किया है। जिस प्रकार नागार्जुनकोण्ड, जगय्यपेट तथा अमरावती से बौद्ध आयक खम्भ (आर्यक स्कम्भ) मिले हैं जो मात्र पूजा के लिए थे, उनका वास्तुगत कोई उपयोग न था, उसी प्रकार मथुरा के जैन आयागपट्ट भी स्वतंत्र प्रस्तर-फलक थे। इनका उपयोग मात्र अर्हत पूजा के लिए किया जाता था, वास्तुकला से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। श्री उमानन्द प्रेमानन्द शाह का विचार है कि औपपातिक सूत्र 5 में उल्लिखित 'पुहुमी' या 'पुढवी-शिलापट्ट' (पृथ्वी शिला-पट) आयागपट्टों का पूर्व रूप रहा होगा जो ग्रामीण लोक-देवताओं, यक्षों और नागों के लिए पवित्र चैत्यवृक्षों के नीचे किसी छोटे चबूतरे के ऊपर रखा जाता होगा। इन विचारों की पुष्टि कतिपय अभिलेखों से हो जाती है जो आयागपट्टों पर अंकित पाए गए हैं।

मथुरा के शक-क्षत्रप शोडाष के काल (प्रथम शताब्दी ईसवी) का एक आयाग अपने अभिलेख में अर्हत वर्धमान को नमस्कार तथा उनकी पूजा के लिए उसकी स्थापना की चर्चा करता है--'नमो अर्हतो वर्धमानस। हरीतिपुत्रस्य पालस्य भार्यया श्रमण श्राविकया कौत्स्या अमोहिन्या सह पुत्रैः पाल-घोषेण, प्रौष्ठघोषेण धनघोषेण च आर्य आयागपटाख्या पूजा-शिला प्रतिष्ठापिता··· आर्यवती अर्हत् पूजायै। 'इसी प्रकार एक गणिका लवणशोभिका की पुत्री गणिका वसु द्वारा अर्हत के लिए एक मंदिर पूजागृह, सरोवर के निर्माण तथा एक शिलापट की प्रतिष्ठापना का उल्लेख एक अभिलेख में पाया गया है। इस शिलापट की स्थापना अर्हत के मंदिर में उसने माता, बहन, पुत्री, पुत्र सभी के द्वारा अर्हत की पूजा करने के लिए की थी 'नमो अर्हतो वर्धमानस अराये गणिकाये लोणशोभिकाये धितु समणसाविकाये नमः गणिकाये वसुये अर्हतो देविकुल आयागसभा प्रपा शिलापटो प्रतिष्ठपितो निर्म: आर्हतायतन सहमातरे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्वेनच परिजनेन अर्हतपूजाय।'

मथरा के इन आयागपटों को अभिलेखों में 'पूजाशिला' कहा गया है और इस प्रकार के पूजाशिला के चारों ओर प्राकार बनवाने की बात संकर्षण वासुदेव के मंदिर (नारायण वाटिका) के सन्दर्भ में नागरी (माध्यमिका, राजस्थान) से प्राप्त द्वितीय शताब्दी ईसा पूव के उस अभिलेख में पाई गई है जिसे राजा सर्वतात ने अंकित करवाया था--'कारितोऽयं

राज्ञा भागवतेन राजायनेन पाराशार पुत्रण सर्वतातेन अश्वमेध-याजिना भगवद्भ्यां संकर्षण–वासुदेवाभ्यां अभिहिताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिलाप्रकारो नारायणवाटिका। इस अभिलेख में आए 'पूजाशिला' पद स्व० डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने यह अनुमान लगाया था कि संभवतः नारायण वाटिका में संकर्षण-वासुदेव की पूजा के लिए मात्र कोई शिला-फलक रहा हो जो मूर्ति-निर्माण से पहले की क्रमिक अवस्था में देवता का प्रतीक माना जाता हो तथा जिस पर जल एवं पुष्प आदि पूजा-सामग्री चढ़ाकर देवार्चन किया जाता हो। किन्तु डॉ० जितेन्द्रनाथ बनर्जी उस पूजाशिला के ऊपर किसी प्रतीकांकन की संभावना भी स्वीकार करते थे। डॉ० अग्रवाल और डॉ० बनर्जी के विचार मथुरा के आयागपट्ट के आधार पर पूर्णरूपेण सही सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म के 'पूजा शिला', बौद्ध धर्म के 'आयक खम्भ' और जैन धर्म के 'आयागपट्ट' संभवतः एक ही प्रकार की उस प्रतीक-पूजा के साक्षी हैं जो देवताओं की मानव-मूर्तियों की पूजा के पहले प्रचलित थीं।

मथुरा से मिले जैन आयागपट्ट मोटे तौर पर दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—एक वे जिन पर केवल अष्टमांगलिक चिह्न उत्कीर्ण हैं और दूसरे वे जिन पर अष्टमांगलिक चिह्नों के साथ-साथ तीर्थंकर की मानव-मूर्ति का भी अंकन है। वस्तुतः ये आयागपट्ट उस काल की पूजा का स्वरूप समुपस्थित करते हैं जब प्रतीक-पूजा का प्रचलन तो अभी बना था ही, पर साथ ही साथ मूर्तिपूजा का प्रारंभ भी हो रहा था। मथुरा के ये आयागपट्ट जैन धर्म में प्रतीक-पूजा और मूर्ति पूजा के संधिका के परिचायक हैं।

बौद्ध धर्म

मथुरा बौद्ध धर्म का भी एक प्रमुख केन्द्र था। कहते हैं एक बार बुद्ध इस नगर में आए थे। दिव्यावदान के अनुसार अशोक के गुरु उपगुप्त का मथुरा से घनिष्ठ सम्पर्क था। ह्वेनसांग ने मथुरा-क्षेत्र में कई बौद्ध स्तूपों को देखा था। कुषाण सम्राट कनिष्क के समय मथुरा नगर धर्म एवं कला के क्षेत्र में अत्यन्त विकसित हुआ। ह्वेनसांग के अनुसार इन स्तूपों में सारिपुत्र, मोदगलायन, पूर्ण, मैत्रायणीपुत्र, उपालि, आनन्द, राहुल तथा मजुश्री के अवशेष दफनाए गए थे। एक बार बौद्धों ने जैन स्तूप पर कब्जा करना चाहा लगभग 6 माह के झगड़े के बाद शासन ने वह स्तूप जैनों को पुनः दिला दिया। इस विवाद का उल्लेख व्यवहारसूत्रभाष्य, बृहत्कथाकोश, यशस्तिलकचम्पू तथा विविधतीर्थकल्प में पाया गया है। इसी बात से स्पष्ट होता है कि भूतेश्वर के निकट बौद्धों ने भी अपना स्तूप बना रखा था।

शक क्षत्रप राजुव्वुल एवं शोडाष के समय का मथुरा सिंहशीर्ष-अभिलेख शाक्यमुनि बुद्ध के शिला-स्तंभ, स्तूप तथा संघाराम के निर्माण का और सर्वास्तिवादियों के संघ की चतुर्दिक छायी कीर्ति का उल्लेख करता है। अभिलेख में बुद्ध, धर्म तथा संघ की पूजा का भी उल्लेख है। इस अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि प्रथम शताब्दी ईसवी के प्रारम्भकाल में ही मथुरा में सर्वास्तिवादियों तथा महासांघिकों के सुदृढ़ संघ थे। सर्वास्तिवादी पुरातनपंथी थे। वे बुद्ध को मुक्त मानते थे। अस्तु, वे किसी मानव-मूर्ति के आकार में बुद्ध को बांधने के पक्ष में न थे। यही लोहीनयानी कहलाए। महासांघिक भक्तिवाद से प्रभावित थे। वे बुद्ध को लोकोत्तर मानते थे। महासांघिकों ने ही महायान विचारधारा का विकास किया जिसके फलस्वरूप बुद्ध की मानव मूर्तियों का सर्जन संभव हो सका।

कुषाणयुग में हुई महायान विचारधारा की प्रगति मथुरा की मुख्य एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसी विचारधारा से प्रभावित होकर बुद्ध की मानव-मूर्ति का अंकन संभव हुआ। यह विषय विवादास्पद रहा है कि बुद्ध की सर्वप्रथम मूर्ति मथुरा में गढ़ी गई अथवा गंधार कला में। किन्तु अब प्रायः सभी विद्वान् यह स्वीकार करने लगे हैं कि बुद्ध की मानव-मूर्ति सवप्रथम मथुरा में ही गढ़ी गई थी। वस्तुतः मथुरा समेत समस्त उत्तरी भारत में ईसा संवत् के पहले से ही भक्ति-आं से प्रभावित होकर वासुदेव की पूजा की जाने लगी थी। नागरी, विदिशा तथा मथुरा से मिले कई अभिलेखों से इस बात की पुष्टि की जा चुकी है। महाक्षत्रप शोडाष के शासन काल में मथुरा में वासुदेव तथा पंचवीरों का एक मंदिर भी था। जैन अनुयायी भी भक्तिवश अपने तीर्थंकरों की पूजा मानव-मूर्तियों के रूप में करने लगे थे। फलतः उन में भी अपने आराध्य देव की मानव-मूर्ति की पूजा का मोह उत्पन्न हुआ। प्रतीक-पूजा तो उनमें पहले से ही थी। वे बुद्ध की पूजा धर्मचक्र, त्रिरत्न, बोधिवृक्ष, स्तूप, वज्रासन, उष्णीष, कमण्डलु, पदचिह्न आदि प्रतीकों के माध्यम से शुंगयुग से करते आ रहे थे। भरहुत, सांची, बोधगया आदि स्थानों की बौद्धकला इसी प्रतीक परम्परा पर थी। परन्तु कुषाणयुग में भक्ति-भावना से प्रेरित होकर महायानी बौद्धों ने भी जैन एवं वासुदेव धर्मों के समान बुद्ध की मानव-मूर्ति बना ली। पहले बोधिसत्वों की, पर बाद में स्वयं बुद्ध की सुन्दर-सुन्दर प्रतिमाएं बनाई जाने लगीं खड़ी एवं बैठी मुद्राओं में बुद्ध एवं बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियां अब तक मथुरा से मिल चुकी हैं।

उपलब्ध भग्नावशेषों से पता चलता है कि मथुरा में शुंगयुग में भी बौद्ध स्तूप थे। स्तूप के कतिपय वेदिका-स्तंभ ऐसे मिले हैं जिन पर बुद्ध को मानव रूप में अंकित न करके उन्हें केवल प्रतीकों के माध्यम से दर्शाया गया है। परन्तु कुषाणयुगीन बौद्ध स्तूपों के वेदिका-स्तंभ एक ओर मोहक नारी पुत्तलिकाओं से तथा दूसरी ओर जातक कथाओं से अलंकृत थे। मथुरा की ये नारी पुत्तलिकाएं अपनी सुडौल गात्र त्रिभंगी मुद्राओं एवं सलोने सौंदर्य के लिए जगत-प्रसिद्ध हैं। इनमें सद्यःस्नाता, दर्पण खड्गहस्ता, कन्दुकहस्ता, शालभंजिका आदि पुत्तलिकाओं के साथ-साथ शुक-विहारिणी मधुकलश-

धारिणी, वीणा वादिनी आदि नायिकाओं की मोहक आकृतियां उल्लेखनीय हैं जिन जातक कथाओं का अंकन मथुरा-कला में किया गया था उनमें शिशुंमारजातक, महासुतसोम जातक, रोमक जातक, महाकपिजातक, पारावतजातक वेसन्तरजातक, पदकुर माणवजातक, उलूकजातक, दीपंकर जातक तथा व्याघ्री जातक के नाम गिनाए जा सकते हैं अन्य बौद्ध दृश्यांकनों में बुद्धजन्म, मार-विजय, धर्मचक्रप्रवर्तन, श्रावस्ती-चमत्कार, नालागिरि-दमन, संकिशावतार, नन्द-सुन्दरी आख्यान, महा-परिनिर्वाण, नागों द्वारा स्तूप-पूजा तथा अवशेष-पूजा आदि सम्मिलित हैं।

ब्राह्मण धर्म

जैन और बौद्ध संप्रदायों के साथ-साथ मथुरा में ब्राह्मण धर्म भी अपने सर्वांगीण रूप में विकसित हुआ। हिन्दुओं की भक्ति भावना के फलस्वरूप पहले भागवत संप्रदाय का उद्भव हुआ जिसके अन्तर्गत संकर्षण-वासुदेव की पूजा प्रारंभ हुई। वायुपुराण (97/1–2) में पंचवीरों की पूजा का उल्लेख है। यह पंच वीर थे संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध। पंचवीरों की पूजा मथुरा के वृष्णियों में अत्यन्त लोक-प्रिय थी। मथुरा से शुंगयुगीन बलराम (संकर्षण) की कुछ मूतियां और पंचवीरों के धड़ मिले हैं जो इस बात का स्पष्ट संकेत देते हैं कि तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व मथुरा क्षेत्र में वासुदेव संप्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

मथुरा से कतिपय ऐसे अभिलेख पाए गए हैं जो उपरोक्त तथ्य की पुष्टि करते है। मथुरा से मिले मोरा अभिलेख में राजवुल के पुत्र शोडाष के काल में देवगृह में वृष्णियों के पचवीरों की प्रतिमाओं की स्थापना का स्पष्ट उल्लेख है–" महाक्षत्रपस राजवुलस पुत्रस स्वामि ⋯⋯भगवतां वृष्णीना पंचवीराणां प्रतिमा शैलदेवगृह ⋯⋯यस तोषाया शैल श्रीमदगृह अतुलं उदधसमधार आर्चादेशं शैलं पंच ज्वलत इव परमवपुषा ⋯।
शोडाष के एक अन्य अभिलेख में भगवान वासुदेव के मंदिर में तोरण और वेदिका के निर्माण का उल्लेख है

"⋯⋯⋯⋯⋯ (व)
स(ह)य
(वस)
(न) शिव
स पुत्रण कौसी (किपुत्रेण)
वसुना भागवतो (वासुदे)
वस्य महास्थान

इयं तोरणं वे (दिका च प्रति)
ष्ठापिता प्रीतो (भगवान)
वासुदेव: स्वामिस्य (महाक्षत्र)
पस्य शोडाष (स्य) ⋯⋯
संवर्तयतम"

पुष्यमित्र शुंग के समय से ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का जो कार्य प्रारंभ हुआ उससे सम्पूर्ण उत्तरी भारत प्रभावित हुआ। नागरी (राजस्थान), विदिशा (मध्य प्रदेश) तथा मथुरा (उत्तर प्रदेश) ब्राह्मण धर्म की गतिविधियों के केन्द्र थे। नागरी से प्राप्त राजा सर्वतात के अभिलेख की चर्चा पहले की जा चुकी है जिसमें संकर्षण-वासुदेव के मंदिर में पूजाशिला और वेदिका के निर्माण का उल्लेख हुआ है। विदिशा से वासुदेव के मंदिर के समक्ष गरुड़ध्वज स्थापित करने की चर्चा वाले दो अभिलेख पाए जा चुके हैं। एक अभिलेख यूनानी राजदूत हेलियोडोरस है जो काशीपुत्र भागभद्र के राजदरबार में तक्षशिला के राजा द्वारा भेजा गया था–– "देव देवस वासुदेवस गरुड़ध्वजोडयं कारिते इय हेलियोडोरेन भागवतेन दियसपुत्रेण तक्षशिलाकेनयोनदूतेन आगतेन महाराजस अंतिलिकितस उपमित सकासं राजों कासीपुत्रस भागभद्रस त्रातारस वसेन चतुदसेन राजेन वदमनस त्रिणि अमुतपदानि (इय) सु अनुठितानि नयंति स्वगं दम छग अप्रमाद।" दूसरा अभिलेख भागवत गौतमीपुत्र का है जिसमें भगवान के उत्तम प्रासाद (मंदिर) के समक्ष गरुड़ध्वज की स्थापना का उल्लेख है––" गौतमीपुत्रेण भागवतेन⋯⋯भगवतो प्रासादोत्तमस गरुड़ध्वजकारितो द्वादसवसाभिषिते भागवते म⋯⋯"।

आगे चलकर कुषाण युग में शैव एवं वैष्णव संप्रदाय के विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तिपूजा का प्रचलन प्रारंभ हो गया कुछ ही दिनों में ब्राह्मणधर्म में मूर्तिपूजा मथुरा में खुलकर की जाने लगी जिसका प्रचार-प्रसार अत्यल्प काल में समूचे उत्तरी भारत में हो गया। ललितविस्तर के अनुसार कुषाण-कालीन मथुरा में शिव, सूर्य, विष्णु, ब्रह्मा, वैश्रवण, शुक्र स्कन्द, चन्द्र, नारायण तथा लोकपाल आदि पूजे जाते थे।

शैव संप्रदाय का उत्तरोत्तर विकास मथुरा की मूर्तिकला से जाना जा सकता है मथुरा में शिव की मूर्तियां मानव तथा लिंग दोनों रूपों में निर्मित की गई थीं। वृक्ष के नीचे चबूतरे पर स्थापित मुखलिंग मथुरा की उत्कीर्ण कला में द्रष्टव्य हैं। शुंगकालीन एक ऐसे ही फलक पर वेदिका-मण्डित शिवलिंग के दोनों पार्श्वों में मानवमुखी सपक्ष सिंह अपने हाथों में मालाएं लिए हुए शिवोपासना के लिए प्रस्तुत हैं। एक अन्य फलक पर पीपल वृक्ष के नीचे एकमुखी लिंग स्थापित दिखाया गया है। यह फलक लखनऊ के राज्य-संग्रहालय में है। एकमुखी, चतुर्मुखी तथा पंचमुखी शिवलिंग मथुरा से पाए गए हैं। शिवलिंग के सहारे शिव की मानव-प्रतिमा का अंकन भी मथुरा-कला में प्राप्त है। नन्दी के सानिध्य में पार्वती के साथ शिव की दम्पति-मूर्तियाँ भी मथुरा में गढ़ी गई थीं। शिव का अर्द्धनारीश्वर रूप भी भारतीय कला में बड़े ही सजीव ढंग से संवारा गया था, मथुरा से अर्द्धनारीश्वर की अनेक प्रतिमाएं मिली हैं।

कुषाणकालीन अर्द्धनारीश्वर का यह माथुरी अंकन संभवतः सर्वाधिक प्राचीन कहा जा सकता है । शिव का यह अर्द्ध-नारीश्वर रूप कुषाणकालीन एक फलक पर चतुर्भुजी विष्णु, गज-लक्ष्मी और कुबेर के साथ भी प्राप्त हुआ है ।

कुषाण राजाओं के सिक्कों पर भी शिव के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं । नन्दी के सहारे खड़े शिव कई सिक्कों पर देखे जा सकते हैं । वासुदेव के एक सिक्के पर पंचानन शिव का अंकन उपलब्ध है । कुषाण-नरेश विम कडफाइसिस अपने को माहेश्वर कहता था । मथुरा से मिली खड़ी मुद्रा में शिव-पार्वती की प्रतिमा संभवतः दम्पत्ति शैली की प्राचीनतम प्रतिमा है ।

अन्य शैव प्रतिमाओं में कार्तिकेय और गणेश की प्रतिमाएं सम्मिलित हैं, यौधेय-सिक्कों पर स्कन्द (ब्रह्मण्देव) को संपूज्य स्थान मिला था । मथुरा के नागवंशी राजा भी शैव थे, उनके सिक्कों पर भी शिव के विभिन्न स्वरूपों का अंकन पाया जाता है । मथुरा की यह शैव-परंपरा गुप्तकाल तक निरन्तर विकसित और पल्लवित होती रही । मथुरा से मिले चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के पांचवें राज्यवर्ष के (380 ई०) एक स्तंभ-अभिलेख से इसकी पुष्टि होती है । इस अभि-लेख से पता चलता है कि मथुरा में उस समय पाशुपत शैव संप्रदाय अपने प्रतिष्ठित रूप में विद्यमान था । यहां पर लकुली नामक गुरू के एक शिष्य कुशिक ने लकुलीश शिव की स्थापना की थी । दण्ड एवं त्रिशूलधारी शिव को लकुलीश कहा जाता था ।

वैष्णव संप्रदाय की लोकप्रियता भी मथुरा में दिनों दिन बढ़ती रही । विष्णु की मानव-मूर्तियों का स्वरूप कुषाणकाल में यद्यपि चतुर्भुजी हो चला था, परन्तु उनमें प्रभामण्डल वनमाला एवं आयुधों का अभी अभाव था । हां, किसी किसी मूर्ति में गदा का अंकन अवश्य मिला है । किन्तु गुप्त-काल में विष्णु का स्वरूप अत्यन्त विकसित हो गया था । इस युग में उनकी अष्टभुजी एवं शेषशायी मूर्तियों का भी निर्माण किया जाने लगा था । अब उनके वक्ष पर श्रीवत्स अथवा कौस्तुभमणि का लांछन (लक्षण) भी अंकित किया जाने लगा था । यही नहीं, उनके विभिन्न अवतारों को उजा-गर करने वाली प्रतिमाएं भी मथुरा में निर्मित की गई थीं । इनमें नृसिंह, वराह तथा विष्णु का विश्वरूप उल्लेखनीय है ।

कृष्णाख्यान के लिए मथुरा संसार-प्रसिद्ध है । यहां से कृष्ण-लीला से सम्बन्धित कई उत्कीर्ण फलक पाए गए हैं । मथुरा में कुषाणकाल तक आते-आते कृष्ण-बलराम के पुरा-ख्यान जनप्रिय हो चुके थे । मथुरा से गोकुल को जाते हुए वासुदेव जिनके शीश पर नवजात कृष्ण हैं, केशि और कालिय-नाग का दमन करते हुए कृष्ण, गोवर्द्धनगिरि को अपनी उंगली पर उठाकर गोकुलवासियों की रक्षा करते हुए कृष्ण तथा ऐसे ही अन्य दृश्य प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्ण पाए गए हैं ।

मथुरा-कला में रामाख्यान के अंकित किए जाने की संभावना को भी नकारा नहीं जा सकता । रावण द्वारा कैलाश को उठाने का एक दृश्यांकन कुषाणकालीन मथुरा-शिल्प में मिला ही है जो परोक्ष रूप से रामाख्यान पर प्रकाश डालता जान पड़ता है । परन्तु मथुरा से एक ऐसा उत्कीर्ण फलक भी मिला है जो प्रत्यक्षतः राम-सीता की प्रतिमा प्रस्तुत करता है । इस फलक की सूचना डा० रमेशचन्द्र शर्मा ने दी है । डां० शर्मा पहले मथुरा के पुरातत्व-संग्रहालय के तथा सम्प्रति लखनऊ के राज्य-संग्रहालय के निदेशक हैं । मथुरा-कला पर उनके कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । 8-10 अक्तूबर 1982 को इलाहाबाद-संग्रहालय में आयोजित 'रामायण सत्र' नामक गोष्ठी में डां० शर्मा ने बताया था कि लगभग तृतीय शताब्दी ई० (कुषाणकाल में निर्मित 10 इंच लम्बे और 5 इंच ऊंचे या चौड़े एक प्रस्तर-फलक पर एक पुरुष तथा एक महिला को बैठी मुद्रा में उकेरा गया है । दायीं ओर बैठे पुरुष के हाथ में धनुष है जिसके आधार पर ही डां० शर्मा ने उक्त फलक में राम और सीता का अंकन माना है । अब तक उपलब्ध जानकारी के आधार पर राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान आदि रामाख्यान-सम्बन्धी····पात्रों का अंकन गुप्तकाल से पहले·····का नहीं पाया गया है इस दृष्टि से मथुरा से प्राप्त फलक पर उकेरी गई राम और सीता की मूर्तियां प्राचीनतम कही जा सकती हैं ।

ब्राह्मणधर्म के अन्तर्गत जिन अन्य देवों को मथुरा में स्थान मिला था उनमें सूर्य, चन्द्र, अग्नि, चतुर्मुख, ब्रह्मा, नारायण, इन्द्र आदि के नाम गिनाए जा सकते है मथुरा में शक्तिपूजा अथवा मातृपूजा का भी महत्वपूर्ण स्थान था । पार्वती, लक्ष्मी, महिषमर्दिनी, दुर्गा, हारीति तथा सप्तमातृकाओं की मिली अनेक मूर्तियां इस तथ्य की पुष्टि करती हैं

लोक धर्म

मथुरा के धार्मिक जीवन का परिचय वहां के लोकधर्म की चर्चा के बिना अधूरा रहेगा । जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म ने जिस धर्म से समय-समय पर प्रेरणा और मार्ग-दर्शन प्राप्त किया वह था जनमानस का लोकधर्म । लोकधर्म के अन्तर्गत प्रायः यक्ष-यक्षिणियों और नाग-नागिनियों की पूजा की जाती थी । यक्ष धनदाता एवं रक्षक देवता थ । कुबेर या वैश्रवण उनके स्वामी थे । यक्षपूजा लोकधर्म का मुख्य अग थी । प्रायः प्रत्येक ग्राम में किसी न किसी बरम्हबाबा (यक्ष) और माई (मां) की पूजा अत्यंत प्राचीन काल से आज तक बराबर होती आई है । मथुरा क्षेत्र से तो अब तक सबसे अधिक 6 यक्ष-यक्षिणियों की आदमकद प्रस्तर-प्रतिमाएं पाई जा चुकी हैं---परखम का यक्ष, बारोद का यक्ष, नोह के दो यक्ष, पलवल का यक्ष तथा मनसा यक्षी । यक्षों

तथा नागों के मंदिर भी मथुरा में निर्मित किए गए थे। दधिकर्ण नामक नाग का मंदिर कुषाणकालीन मथुरा में था। सोंख से भी एक अर्द्धवृत्ताकार (एप्सिडल) नाग मंदिर के अवशेष जर्मन के प्रसिद्ध पुरातत्वविद डॉ० इर्टेल ने उत्खनित किए हैं। अभिलेखयुक्त एक नाग-प्रतिमा भी मथुरा से पाई गई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मथुरा में ईसा की प्रथम शती के आते-आते जैन, बौद्ध और ब्राह्मण प्रायः सभी धर्मों ने अपनी-अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली थी। लोकधर्म तो पहले से ही सबकी भूमिका निभा रहा था। उस काल की धर्म पिपासा को शान्त करने के लिए मूर्तिकला का सहारा लिया गया जिसके अन्तर्गत विभिन्न देवी-देवताओं की नाना प्रकार की प्रतिमाओं की सर्जना संभव हुई। इस कार्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई मथुरा के शासकों तथा श्रेष्ठिजनों ने। श्रेष्ठियों (सेठों) को व्यापार में लक्ष्मी (धन) का वरद हस्त उपलब्ध था जिसका उपयोग उन्होंने मंदिरों और मूर्तियों के निर्माण, उनकी स्थापना तथा उनसे जुड़े धर्मकार्यों में किया। सभी धर्मों को समान रूप से सम्मानित करने का जो सराहनीय कार्य मथुरा ने किया वह भारत का कोई अन्य नगर नहीं कर सका। वस्तुतः मथुरा ने धर्म की त्रिवेणी बहाई थी।

